मानव की कहानी

[MAIN CURRENTS OF HISTORY]

(सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर आज तक की मानव सभ्यता और संस्कृति के इतिहास की रूपरेखा)

डॉ० रामेश्वर गुप्ता

एम० ए०, पीएच० डी०

उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा १००० रु० से पुरस्कृत लेखक के मूलग्रन्थ 'मानव की कहानी' का संक्षिप्त एवं सरल रूपान्तर

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक लेखक के प्रसिद्ध मूल ग्रन्थ "मानव की कहानी" का संक्षिप्त और सरल रूपान्तर है। यह रूपान्तर भारतीय विश्वविद्यालयों की प्रारम्भिक कक्षा के इतिहास के विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर किया गया है।

इसके पूर्व कि विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी इतिहास का उच्चस्तरीय अध्ययन प्रारम्भ करें, उनके लिए आवश्यक है कि वे मानव इतिहास की सामान्य गति और उसके विकास की प्रमुख धाराओं से परिचित हों। ऐतिहासिक ज्ञान की ऐसी पृष्ठभूमि के बिना यह सम्भव है कि उनके इतिहास के उच्चस्तरीय अध्ययन में ठोसपन और आधारभूत समझ की कमी रह जाय। उनका ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी शायद सही और स्पष्ट न बन पाय।

राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा अपनी प्रारम्भिक (त्रि-वर्षीय डिग्री कोर्स की प्रथम वर्षीय) कक्षा के लिए इतिहास के पाठ्यक्रम का इन उद्देश्यों पर निर्माण इतिहास के अध्ययन की सचमुच सही और ठोस नींव डालना है। यह ऐतिहासिक अध्ययन की सही दिशा में प्रगति है।

प्रस्तुत पुस्तक इस प्रकार संयोजित की गई है कि इसको पढ़कर विद्यार्थी **'इतिहास की मूल धाराओं'** (**Main Currents of History**) को समझ सके एवं अपने आगे के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए अच्छा आधार बना सके।

पुस्तक उन सभी विद्यार्थियों एवं जन–साधारण के लिए भी लाभदायक होगी जो विश्व–इतिहास की धाराओं और शक्तियों की आधारभूत बातों को समझ लेना चाहते हैं।

पुस्तक के अन्त में प्रत्येक अध्याय पर ऐसे प्रश्न दे दिये गये हैं जिनसे पाठक स्वयं अपनी यह परीक्षा कर सके कि जो कुछ उसने उन अध्यायों में पढ़ा है वह उसने भली भांति समझ लिया है या नहीं। प्रश्नों में १९६८ तक के विभिन्न विश्वविद्यालयों और शिक्षा–बोर्डों के प्रश्न भी सम्मिलित कर लिए गये हैं। सूची इस प्रकार तैयार की गई है कि एक बार तो सूची मात्र पर झांक लेने से विश्व–इतिहास के प्रवाह की एक ठीक–सी झलक मन पर अङ्कित हो जाती है।

—प्रकाशक

द्वितीय संशोधित संस्करण

प्रस्तुत संस्करण में संपूर्ण पुस्तक को संशोधित करने के साथ-साथ 'संयुक्त राष्ट्र' अध्याय में कुछ नये तथ्य जोड़े गये हैं, एवं विश्व-इतिहास को १९६८ तक की घटनाओं तक ला पटका है।

—प्रकाशक

विषय-सूची

१

विषय-प्रवेश

(INTRODUCTION)

हम मानव हैं, इस धरती पर रहते हैं। हमारे चारों ओर आकाश फैला है जहां रात में टिमटिमाते हैं अनेक नक्षत्र और दिन में चमकता है एक सूर्य। इस समस्त सृष्टि को हम प्रत्यक्ष देखते हैं। क्या हमने कभी सोचा है यह सृष्टि कैसे बन गई? इस सृष्टि में हम हैं : क्या हम को वहां किसी ने बुलाया था? क्या हमको यह जानने का कौतूहल नहीं होता कि कहां से ये नक्षत्र आ गये, कहां से सूर्य आ गया और कहां से पृथ्वी? और कब और क्यों आ गये ये? कौन सबसे पहले मानव होगा, क्या खाता-पीता होगा, कैसे रहता होगा, क्या सोचता होगा? क्या ये बातें हमें परेशान नहीं करतीं?

तुरन्त हममें से कुछ कहेंगे—अरे, इसमें कौनसी नई बात है—खुदा के दिल में सहसा किसी वक्त कुछ रचने की-सी बात समा गई और एक दिन बैठ कर उसने यह सब कुछ रच डाला। फिर कोई जन कहेंगे—अरे क्यों पचड़े में पड़ते हो, सीधी सी बात है—अनादिकाल से हम रहते हुए आये हैं, अनन्त काल तक हम रहेंगे; हम कब पैदा हुये, कैसे पैदा हुये, यह प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु बात इतनी सरल नहीं है। आज यह एक निश्चित और सिद्ध मान्यता है कि एक समय था जब कि इस पृथ्वी पर कहीं भी मानव था ही नहीं। मानव तो क्या कोई भी पशु-पक्षी, किसी भी तरह का छोटा-मोटा जीव-जन्तु, कीड़ा-मकोड़ा, पेड़-पौधा, घास इत्यादि कुछ भी नहीं था।

अरे, इन पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, आदमियों की बात तो जाने दो, स्वयं यह पृथ्वी भी नहीं थी। पृथ्वी की भी बात छोड़ो—ये नक्षत्र, सूर्य-चन्द्रमा, आकाश, जल, वायु कुछ भी नहीं थे। क्या सचमुच नहीं थे? यदि थे नहीं तो आ कहां से गये? सोचिये।

इन बातों को जिन्होंने सोचा है, जिन्होंने इनका पता लगाया है उनका कहना है कि तारे, सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, जल-थल, वनस्पति, जीव-जन्तु और मनुष्य—इन सब का आविर्भाव होने के पहले भूत-द्रव्य अपनी आदि स्थिति में

विद्यमान था। वह स्थिति मानो एक वर्णनातीत, परिव्याप्त ज्वलंत वाष्पपिंड की-सी थी,–निराकार, मानो वह कोई तेजोमय पुञ्ज था। जो कुछ हो, इतना निश्चित है कि वह आदिमूल सुस्त, स्थिर नहीं पड़ा था, उसमें गति थी और इसीलिए धीरे-धीरे उसमें से रूपमान सृष्टियां विकास पा रही थीं—आविर्भूत हो रही थीं। धीरे-धीरे एक ऐसी स्थिति आई जब उस आदि गतिमान मूतद्रव्य में से असंख्य नक्षत्र उत्पन्न हो कर, मानो छिटककर, अपना ही आकाश बनाकर उसमें घूमने लगे। यह घटना तो असंख्यों वर्षों पहिले की है। उन्हीं नक्षत्रों में एक अपना सूर्य था। उसी सूर्य में से छिटक कर अलग हुआ उसका एक अंश, जो कोई छोटा-मोटा अंश नहीं था। २५००० मील उसकी गोलाई थी। सूर्य का यही अंश हमारी पृथ्वी थी। यह घटना हुई होगी आज से ५ अरब वर्ष पूर्व। प्रारम्भ में यह पृथ्वी एक गर्म गैस का गोला था, किसी भी प्रकार की वनस्पति, जीव-जन्तु का नाम निशान तक उस पर नहीं था। धीरे-धीरे वह गोला ठण्डा होने लगा—और उस एक अरूप पिंड में से जल-थल, पहाड़, नदी, झील, पत्थर, मिटटी और रेत—अनेक रूप प्रकट होने लगे, फिर आये जीव-जन्तु और वनस्पति। लेकिन मानव? पृथ्वी पर मानव के अस्तित्व में आने की बात तो कोई बहुत पुरानी नहीं - केवल यही ५–६ लाख वर्ष की कहानी है। और हम आप जैसे वास्तविक मानव-जाति के प्राणियों की प्रत्यक्ष हलचल की बात तो, यों कहिये, केवल ५०–६० हजार वर्ष ही पुरानी है। तो शुरू में वह मानव कैसा था? कैसे रहता था? अरे, पशु की तरह बिल्कुल नंगा था, पेड़ों के नीचे या गुफाओं में पड़ा रहता था, पशु की ही तरह भोजन की तलाश में इधर-उधर घूमता फिरता था—पशुजगत का ही एक सदस्य था। किन्तु उस मानव के मन में एक बेचैनी-सी रहने लगी थी—जैसे वह सब कुछ समझ लेना चाहता हो।

धीरे-धीरे उसने बहुत कुछ समझा भी। इतना कि आज वह बिजली के प्रकाश वाले सुन्दर मकान में रहता है, हवाई जहाज में चलता है, रेडियो पर समाचार और गीत सुनता है–और बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में पढ़ता है।

जरा सोचो, कहां तो वह आदि मानव जो एक–दो–तीन भी गिनना नहीं जानता था, क–ख–ग भी नहीं जानता था, बिल्कुल पशु था, पशु की तरह ही रहता था; और कहां हम इतने ज्ञान–विज्ञान के धनी?

मानव ने कितना विकास कर लिया है। क्या वह इस सृष्टि के संपूर्ण रहस्य को नहीं जान सकता? एक दिन जान सकेगा।[1]

---

1. Our human ignorance moves towards the Truth.
   That Nescience may become Omniscient. (Sri Aurobindo)
   [मानव की अज्ञानता 'सत्य' की ओर बढ़ती चली जा रही है जिससे कि मानव जिसके लिए सब कुछ अज्ञात-सा है सर्वज्ञ बन जाय; यही तो इतिहास की गति है।]

२

प्रागऐतिहासिक मानव

[THE PRE-HISTORIC MAN]

मानव का प्राविर्भाव

सृष्टि का आदि रूप सम्भवतः एक वर्णनातीत, परिव्याप्त ज्वलन्त वायुमण्डल के समान था। मानो वह महापुञ्जिभूत ज्योति थी। इस ज्योति में से अनेक नक्षत्रगण उद्भूत हुये। एक नक्षत्र से, जो हमारा सूर्य है, हमारी यह पृथ्वी उत्पन्न हुई। यह पृथ्वी सूर्य का ही एक खण्ड थी, अतएव यह धधकती हुई आग का एक विशाल गोला थी। करोड़ों वर्षों तक यह पृथ्वी निष्प्राण शून्य सी पड़ी रही। अनेक प्रकार की घटनायें, अनेक प्रकार के परिवर्तन इस पर हुए। शनैः शनैः यह आग का गोला ठंडा हुआ; इस पर समुद्र बने, झीलें और नदियां बनीं, पहाड़ एवं ऊर्वर भूमि बनी। किन्तु अब तक पृथ्वी पर इन घटनाओं का कोई द्रष्टा नहीं था।

फिर आज से करोड़ों वर्ष पहले—सम्भवतः, ६०–७० करोड़ वर्ष पहिले किसी युग में किसी दिन इन अप्राण घटनाओं की पृष्ठभूमि पर जड़भूत द्रव्य में से प्राण का आविर्भाव हुआ। ये प्राण सर्वप्रथम अतिसूक्ष्म जीव कोषों में एवं अति साधारण जीवों में प्रकट हुए। विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार उपरोक्त सरलतम जीव कोषों में से, अस्थिहीन, रीढ़हीन जीवों में से पहिले रीढ़युक्त एवं अस्थियुक्त मत्स्यों का विकास हुआ; फिर मेंढक, टोडपोल, सामुद्रिक बिच्छू जैसे अर्ध-जलचर प्राणियों का, फिर सांप, अजगर, मगर जैसे सरीसृप प्राणियों का और फिर इन्हीं से एक तरफ तो हवा में उड़ने वाले पक्षियों का और दूसरी तरफ गाय–भैंस, घोड़ा, कुत्ता, शेर, लंगूर बानर, आदि स्तनधारी प्राणियों का। स्तनधारी प्राणियों की किसी एक जाति में से ही मानव विकसित हुआ।

मानव के निकटतम पूर्वज

आजकल वैज्ञानिक विशेषज्ञों में यह मत प्रायः मान्य है कि मनुष्य का निकटतम पूर्वज जमीन पर चलने वाला बिना पूंछ वाला वन्दरसम कोई

प्राणी था। मनुष्य का यह पूर्वज—निपुच्छ कपि-नवजीव युग में पेड़ों पर नहीं बल्कि जमीन पर रहता था, चट्टानों में इधर-उधर छिपा फिरता था और सम्भवतः अखरोट इत्यादि सूखे फल तोड़ने में पत्थर का प्रयोग करता था। इस निपुच्छ कपि के पूर्वजों ने शायद मध्य जीव-युग में ही पेड़ों पर रहना छोड़ दिया था, चाहे उनकी पृथक एक शाखा आज जैसे बन्दरों की तरह पेड़ों पर कूदने फांदने वाली बनी रही हो।

यह तो हुई मनुष्य के निकटतम पूर्वज की बात जो आज से प्रायः चार करोड़ वर्ष पहले मिलता था। अब प्रश्न यह रहा कि वह प्राणधारी जीव जिसे हम मनुष्य कहते हैं, सर्वप्रथम कब इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ। प्राणी विज्ञान अब तक इतना अपूर्ण है कि इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐसे मनुष्यों के जिन्हें हम अपने ही जैसा पूर्ण मानव देहधारी मान सकते हैं, उत्पन्न होने के पहले कुछ अपूर्ण विकसित मानव प्राणी जिन्हें हम अर्द्ध-मानव की श्रेणी में रख सकते हैं, इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए।

अर्द्ध-मानव प्राणी

(काल : प्राचीन पाषाण युग का पूर्वार्द्ध : ५ लाख वर्ष पूर्व से ५० हजार वर्ष पूर्व तक)

अर्द्ध मानव प्राणियों के अस्तित्व का अनुमान चट्टानों एवं गुफाओं में मिलने वाली अस्थियों के अवशेषों के आधार पर लगाया गया है।

(१) **जावा मानव**—जावा द्वीप के ट्रीनिल नामक स्थान में १८९१ ई० में एक ऐसे अर्द्ध मानव प्राणी की अस्थियों के अवशेष मिले जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि आज से लगभग ५ लाख वर्ष पहले ऐसे प्राणी वहां रहते होंगे।

(२) **पीकिंग मानव**—इसी प्रकार १९२९ ई० में चीन में पीकिंग के निकट चोकाउटीन गुफा में मानव-अस्थियों का ढांचा मिला।

(३) **हिडलबर्ग मानव**—जर्मनी के हिडलबर्ग नामक स्थान में एक प्राचीन अस्थिपुंज मिला। प्राणी-शास्त्रज्ञों ने इस अस्थिपुंज वाले मानव का नाम हिडलबर्ग मानव रक्खा और यह अनुमान लगाया कि ऐसे मानव वहां लगभग दो लाख वर्ष पहले रहते होंगे।

(४) **पिल्टडाउन मानव**—ग्रेट-ब्रिटेन के ससेक्स प्रान्त में एक खोपड़ी की हड्डियों के कुछ अवशेप मिले। चट्टानों के जिन स्तरों में ये अवशेष मिले उनको लगभग एक लाख वर्ष पुराना बताया गया है। इसी प्रकार जर्मनी के नीडर्थल और अफ्रीका के रोडेशिया नामक स्थानों में भी प्राणियों के अवशेप मिले हैं जिन्हें क्रमशः [५] **नीडर्थल** एवं [६] **रोडेशियन मानव**—नाम दिया गया।

उपरोक्त सब मानव प्राणी अभी पूर्णतया विकसित मानव नहीं थे। उनकी रीढ़की हड्डी झुकी हुई थी मानो अपने विकास के प्रारम्भिक काल में वे

पैरों के अलावा अपने दो हाथों के बल भी चला करते थे; एवं उनका मस्तिष्क अभी तक पूर्ण मानव जितना विकसित न हो। इस प्राणी का सिर मोटी हड्डियों का बना होता था अतएव मस्तिष्क धारण करने के लिये सिर में स्थान कम होता था। विशेषकर सिर का अगला भाग जिसे माथा कहते हैं और जिसमें विचार, वाणी एवं स्मरण शक्ति का स्थान है, वह तो आज के मानव के माथे से अपेक्षाकृत बहुत ही कम विकसित था और जिसका पिछला भाग जो स्पर्श, दृष्टि एवं शारीरिक शक्ति से सम्बन्धित है, वह अधिक विकसित था। इस आदमी के बड़े बड़े नाखून होते थे और शरीर पर बड़े-बड़े बाल। वह जंगली जानवरों से बहुत डरता था। रींछ, शेर, चीता आदि बड़े-बड़े जानवर तो उसे शिकार ही बना लेते थे। जंगली गाय, भैंस, घोड़ा आदि भी अनेक बार उसे मार डालते थे। इन जानवरों का मुकाबला करने के लिये उसका पहला काम मिट्टी या पत्थर का डला या लकड़ी की छड़ी उठाना था। जानवरों से भिन्न उसके शरीर की बनावट ऐसी थी कि अंगूठे और उंगलियों का प्रयोग इस प्रकार कर सके। फिर उसमें चतुराई, चालाकी, साहस का उदय हुआ। शनैःशनैः फिर तो पत्थर, चकमक इत्यादि के हथियार बनने लगे होंगे। अर्द्ध-मानव की इस दशा को जंगली अवस्था ही कह सकते हैं। चेतना, मन, समझ का अधिक विकास अभी तक उसमें नहीं हो पाया था।

रहन-सहन

अर्द्धमानव वस्तुतः जंगली जानवर ही थे। ये अर्द्ध मानव-पहिले तो यों ही इधर-उधर घूमा फिरा करते होंगे। फिर इन लोगों ने खुले में ही किसी पानी वाले स्थल के निकट (झील, नदी, तालाब के निकट) अपना वास करना आरम्भ किया। आग के प्रयोग से इनका परिचय हो गया—अतएव खुले में ही अपने बैठने, रहने सोने की जगह के चारों ओर रात्रि को तो आग जला लेते थे जिससे जंगली जानवरों को वे दूर रख सकें। दिन में ये लोग आग को राख के नीचे दबा कर रख देते होंगे। बार-बार आग को जलाना इन लोगों के लिए कठिन होता होगा। चकमक पत्थरों की रगड़ से, या पत्थर और किसी धातु के टुकड़े की रगड़ से सूखे पत्तों द्वारा ये आग जलाया करते होंगे।

कुछ थोड़े से लोगों का एक छोटा सा समूह एक साथ रहता था। बुड्ढा आदमी जो समूह का पिता होता था वही समूह का मालिक होता था। समूह के सब युवा, स्त्री, बच्चे उससे डरते थे। वह तो बैठा-बैठा पत्थर, चकमक पत्थर तथा हड्डियों के औजार बनाया करता था और उनको तेज किया करता था-बच्चे उसका अनुकरण किया करते थे—स्त्रियां जलाने के लिये ईन्धन, एवं औजारों के लिए पत्थर, चकमक बीन कर लाया करती थीं, दिन में युवा लोग भोजन, शिकार की तलाश में निकल जाते थे। बुड्ढा युवाओं को स्त्रियों से स्यात् नहीं मिलने देता था। बुड्ढा युवाओं को समूह से बाहर कर देता था या मार भी दिया करता था। अवसर आने पर स्त्रियां और युवा लोग भाग जाया करते थे।

जानवरों की खाल से अपने शरीर को ये ढकने लग गये थे। खाल को धोकर, साफ करके एवं सुखा कर काम में लेते थे। स्त्रियां कुछ विशेष प्रकार के खाल के कपड़े वना कर पहिना करती थीं। पत्थर एवं चकमक के औजारों (जैसे छुरा, वर्छी) से जानवरों का शिकार किया करते थे—लकड़ी के वल्लम इत्यादि भी प्रयोग में आते थे। वड़े-वड़े जानवर जैसे शेर, रींछ इत्यादि का शिकार स्यात् नहीं होता था। खरगोश, लोमड़ी इत्यादि का शिकार करते होंगे। शेर इत्यादि जैसे वड़े जानवर को तो कभी वीमार पाते होंगे या अन्य किसी मुश्किल में पाते होंगे तभी उनका शिकार करते होंगे। ये लोग उनका कच्चा ही मांस खा लेते थे। ये लोग मांसाहारी एवं फलाहारी भी थे-अनेक प्रकार के सूखे फल जैसे अखरोट, गिरियां, जंगली मधुमक्खियों का शहद इनको अवश्य मिलते थे। पालतू जानवरों और खेतों से अभी सर्वथा अपरिचित थे। ये अपने मुर्दों को दफनाया करते थे।

अर्द्ध-मानव के रहन-सहन का उपरोक्त चित्र तो विशेषज्ञों द्वारा अनुमानित एक चित्र है, जो कुछ प्राप्त सामग्री के आधार पर तैयार किया गया है। किन्तु हम लोग भी कल्पना कर सकते हैं कि वह अर्द्ध मानव कैसे रहा करता होगा—हम लोगों से लगभग कई लाख, अनेक हजार वर्ष पूर्व। फिर सोचिये—दो अरव वर्ष पुरानी यह पृथ्वी, उसमें १॥ अरव वर्ष तो जल, थल, पहाड़, नदी, झील, वन इत्यादि वनने में ही लग गये,—फिर कहीं प्राण जागे;—और फिर ५० करोड़ वर्ष लगे 'प्राण' को मानव रूप में अवतरित होने में। इतने विशाल काल-मान में केवल १० लाख वर्ष पूर्व ही तो मानव अवतरित हुआ और वह भी अभी केवल अर्द्ध मानव। इस अर्द्ध मानव के अवशेष मिलते रहे आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व तक। इसी बीच में इस पृथ्वी पर हलचल दिखलाई देने लगी थी उस मानव की जो हम आप जैसा ही मावन था, जो वास्तविक मानव-प्राणी था।

वास्तविक मानव प्राणी

आगमन : कब, कहां और कैसे?

ऐसा अनुमान गया जाता है कि जिस जमाने में नीडरथाल मानव इस पृथ्वी पर रह रहा था, उसी जमाने में एक अन्य प्रकार के ऐसे मानव की परम्परा प्राचीनकाल में किसी 'निपुच्छ कपि" प्राणी से उद्भूत हो कर पहिले से चली आ रही थी जो अर्द्ध-मानव से अधिक सौम्य, और अधिक सभ्य था, जिसका सिर, उसके हाथ-पैर सम्पूर्णतया उसी भांति के थे जो आज के मानव के हैं। जबकि अर्द्ध-मानव का शरीर झुका हुआ और सिर बहुत छोटा था इस नये मानव का शरीर बिल्कुल सीधा और सिर अपेक्षाकृत बड़ा था—बिल्कुल हम आप जैसा। पूर्ण मानव, वास्तविक मानव, की इस शाखा को नृवंश-शास्त्रवेत्ताओं ने "होमो सेपियनस" 'मेधावी मानव' या "आधुनिक मानव" नाम दिया है। इस पृथ्वी पर इस वास्तविक मानव का आगमन तो $2\frac{1}{2}$ लाख वर्ष पूर्व हो चुका होगा, किन्तु उसकी विशेष हलचल का पता हमें आज से अनुमानतः ५० हजार वर्ष पूर्व का ही मिलता

है। जब से यह वास्तविक मानव इस सृष्टि के रंगमंच पर आया तभी से मानव जाति का इतिहास प्रारम्भ होता है। आज इस संसार के सभी मानव प्राणी चाहे उनकी प्रजातियां भिन्न-भिन्न हों इस 'होमो सेपीअनस' प्रकार के प्राणी से अवतरित हुए हैं। देश-काल, जलवायु, रहन-सहन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में होमो सेपीअनस कई प्रजातियों में विभक्त हो गया हो, किन्तु जिसे "जाति परिवर्तन" (Species Differentiation) कहते हैं—वह इस जाति में या इसके किसी प्राणी में नहीं हुआ। अर्थात् यह नहीं हुआ कि होमो सोपाइन जाति स्वयं के किन्हीं प्राणियों में भिन्नता आने से वे किसी अन्य प्रकार के जीव (Species) में परिणत हो गये हों।

क्या यह अर्धमानव की संतान था?

विकास की शृंखला में क्या ये मानव किन्हीं अर्द्धमानव प्राणियों की सीधी सन्तान थी?—उपरोक्त हिडलबर्ग मानव की, या इओनथोपस की, या नींडरथाल मानव की या रोहडेशियन मानव की? जितने अनुसंधान हुए हैं उनसे तो यही पता लगता है कि वास्तविक मानव उपरोक्त किसी भी अर्द्ध मानव की सन्तान नहीं था। हिडलबर्ग मानव या इओनथोपस प्रकार के मानव तो बहुत पहले ही लुप्त हो चुके थे—केवल कुछ अर्ध-मानवों जैसी नींडरथाल और रोहडेशियन मानव की परम्परा आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व तक मिलती है। यह नया पूर्ण [वास्तविक] मानव इन नींडरथाल या रोहेडरियन मानव की भी सन्तान नहीं था। उसकी तो स्वतन्त्र ही एक शाखा चली आ रही थी। अर्ध मानव इस नये प्राणी के काका, ताऊ या चचेरे भाई हो सकते थे, पिता या सगे भाई नहीं। कालांतर में नींडरथाल प्रकार का मानव भी लुप्त हो गया; सभी प्रकार के अर्धमानवों की परम्परा समाप्त हो गई, केवल वास्तविक मानव बचा। वास्तविक मानव की इस परम्परा को चलाने वाला विकास की शृंखला में एक ही मानव था– या एक साथ अनेक मानव हुए? यदि एक ही मानव था तो पृथ्वी के कौन से भाग में उसका आविर्भाव हुआ? यदि अनेक मानव थे तो वे एक ही भूखण्ड में अवतरित हुए या अनेक भूखण्डों में? यदि कई भूखण्डों में अलग अलग अवतरित हुए तो एक ही काल में हुए या आगे पीछे कई कालों में? इन प्रश्नों को सीधा, निश्चित, प्रमाणित उत्तर देना अभी कठिन है। यही कहा जा सकता है कि सम्भवत: ये लोग विकसित हुए थे—पश्चिमी एशिया में (ईराक, ईरान के घास के मैदानों में), उत्तरीय अफ्रीका में एवं भूमध्य सागर के उन भूमिखण्डों में जो किसी जमाने में भूखण्ड थे किन्तु आज जलमग्न हैं। कई पुरातत्ववेत्ता एवं जीव-विज्ञानशास्त्री इनके मूल उत्पत्ति स्थान के विषय में यह अनुमान लगाते हैं कि लगभग ५० हजार वर्ष पहिले वास्तविक मानव एक ही स्थान मध्य एशिया में विद्यमान था और वहां से दुनियां में चारों ओर फैला और कालांतर में जलवायु तथा अन्य परिस्थितियों के प्रभाव से कई प्रजातियों में विभक्त हो गया।

मानव की प्राचीन पाषाण युगीय सभ्यता

रहन–सहन

ये लोग कंदराओं एवं गुफाओं में या जल के किनारे पेड़ों के नीचे रहते थे; लकड़ी, घास-फूस और पत्तों से झौपड़ी भी बना लेते थे। मिट्टी या पत्थर का घर बना लेने की कल्पना उस आदि मानव को अभी नहीं हो पाई थी। अभी तक इन लोगों को वनस्पति रोपण, कृषि और पशु-पालन का ज्ञान भी नहीं हुआ था। वस्तुतः ये लोग शिकारी अवस्था में ही थे और घोड़े, भैंसे, रेन्डीयर, महागज, इत्यादि का शिकार किया करते थे, कौंच, बतख इत्यादि को मार गिरा लेते थ, और मछलियां पकड़ते थे। उन्हीं का मांस खाया करते थे। वनों में उपलब्ध फल, अखरोट एवं अन्य प्रकार की गिरियां भी खाते थे।

शस्त्र और औजार

इन लोगों के चकमक पत्थर एवं हड्डियों के बने अनेक औजार तथा हथियार मिलते हैं जो पूर्वार्द्ध प्राचीन पाषाण-युगीय अर्द्ध मानव प्राणियों के हथियारों से अधिक सुन्दर, सुदृढ़ एवं अच्छे बने हुए हैं। ये लोग धनुष बाण भी बनाते थे; धनुष पानी में मुलायम की हुई लकड़ी एवं जानवरों की तांत का, एवं बाण का सिरा नुकीले पत्थर का बनता था। मछली पकड़ने के लिए पेड़ के तन्तुओं की रस्सी का जाल भी बुन लेते थे। एक ही लकड़ी के गट्ठे को पत्थर के औजारों से घड़ कर साधारण नाव भी बना लेते थे। पहिये गाड़ी का ज्ञान नहीं था। कला—इन लोगों को शंख एवं सीप के बने आभूषण मिले हैं। ये लोग चट्टानों एवं गुफाओं की दीवारों पर चित्र खोदते थे और रंग भी करते थे। बिसन (जंगली भैंसा), घोड़ा, रीछ, रेन्डियर, महागज इत्यादि जानवरों के ही चित्र विशेषतया खोदते या बनाते थे—मानव सकल सूरत के चित्र बहुत कम। स्पेन में अल्तापिरा की गुफाओं एवं फ्रांस और इटली की गुफाओं में ऐसे चित्र मिले हैं। हाथी दांत में खुदी हुई जानवरों की अनेक मूर्तियां भी मिलती हैं और कुछ पत्थर की बनाई हुई मूर्तियां। इन बातों से इन लोगों के मानसिक विकास का पता लगता है। ये लोग चित्रकार तो निश्चित रूप से बहुत अच्छे थे।

आदि मानव क्या सोचता था ?

आज हम आत्मा-परमात्मा, कर्म, ज्ञान, भक्ति, वेदान्त, आदर्शवाद, यथार्थवाद, अन्तश्चेतना आदि सूक्ष्मतम आध्यात्मिक बातों के विषय में सोचते हैं। राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, राजनैतिक, आर्थिक इत्यादि सामूहिक जीवन की समस्याओं को सोचते हैं। अणु, विद्युदणु (इलेक्ट्रोन, प्रोटोन), सापेक्षतावाद, क्वान्तम सिद्धान्त, तारामण्डल, ग्रह, चन्द्र, सूर्य, आदि की अन्वेषणात्मक बातों को वैज्ञानिक ढंग से जांच करते हैं। कला, सौन्दर्य, शिव और सुन्दर की परिभाषा करते हैं—इत्यादि। कितनी गहन और पेचीदा ये बातें हैं—और कितना सूक्ष्म और विकसित वह मस्तिष्क जो इन गहनतम एवं

गूढतम बातों में आत्म-विश्वास के साथ विचरण करता है-किन्तु क्या आदिम मानव भी ऐसा ही सोचा करता था? इस विशाल सृष्टि में वह अभी अभी तो अवतरित हुआ ही था-लाखों वर्षों तक पशु तथा अर्द्ध-मानव अवस्था में से गुजरता हुआ अभी अभी तो मानव बना ही था- मानों वह अभी बच्चा ही था। पाशविक जीवन की स्मृतियां अभी ताजा ही थीं। वे सर्वथा तो आज तक भी नहीं भुलाई गई हैं। वह सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र अपने ऊपर निरंभ्र आकाश में देखता तो होगा, किन्तु पशु समान देख कर रह जाता होगा, उसके दिमाग को अभी ये बाते परेशान नहीं करती थीं कि कहां से सूर्य चन्द्र आये और कहां से वह स्वयं आया। वह तो उसके सामने आने वाली निकटतम वस्तुओं के विषय में ही कुछ सोचता होगा, जिनसे उसका खाने-पीने, मरने-मारने, डर भय का सम्बन्ध हो। शेर और रींछ के विषय में सोचता होगा, जिनसे डर कर उसको अपना बचाव करना पड़ता था—हिरणी, लोमड़ी, खरगोश के विषय में सोचता होगा जिनका शिकार उसे करना पड़ता था अपना पेट भरने के लिए। ये ही जंगली जानवर उसके 'विचार' के विषय होंगे; उन्हीं की स्मृति इन आदिम मानवों द्वारा अंकित किये हुए चित्रों में मिलती है। चट्टानों और पत्थरों पर खुदे हुए एवं अंकित जानवरों के चित्र ही स्यात् मानव की आदि कला है।

आदि मानव का विज्ञान

अभी तक बोलना, अपनी इच्छा तथा भाव दूसरे तक पहुंचा देने में समर्थ-इतना भाषण करना उसे नहीं आया था; बोली, भाषा धीरे धीरे विकसित हो रही थी। इतनी तो विकसित कर ली थी कि वाणी के द्वारा अपने ज्ञान को आने वाली संतानों को देता रहे। अपनी आवश्यकता क्या करने से पूरी हो सकती है, क्या करने से नहीं, इस विषय में सोचता जरूर होगा और इसी के फलस्वरूप आदि विज्ञान का जन्म हुआ। वह ऐसे काम करता होगा जिससे वह सोचता होगा कि उनके करने से उसे इच्छित फल मिलेगा। अमुक कार्य का अमुक फल होगा, अमुक कारण से अमुक परिणाम निकलेगा यही सोचना और पता लगा लेना विज्ञान है—आदि मानव ऐसा सोचता और करता था, किन्तु उसकी विचार-शक्ति एवं उसके अनुभव अभी इतने सीमित थे कि उसे अनेक गल्तियां करनी पड़ती थीं। वह अंधेरे से, बड़े जानवरों से, बादलों की गर्जना और बिजली से, आंधी और तूफान से डरता था और सोचता था कि प्रत्येक वस्तु में कोई शक्ति है और अमुक अमुक कार्य करने से उस शक्ति को प्रसन्न किया जा सकता है। यही उसका अपूर्ण विज्ञान (Fetishism) था—उपरोक्त वस्तुओं से डरना एवं उनको प्रसन्न करने के लिए कुछ अमुक काम जैसे-जानवरों की बलि देना, आदमी की बलि चढ़ाना, नाचना कूदना इत्यादि।

आदि मानव की कल्पना

आदिमादव में एक और प्रमुख भाव पाया जाता है, और वह है अपने समूह के "बड़ेरे आदमी" से भय खाना। जिन औजारों, हथियारों का उप-

मानव की प्राचीन पाषाण युगीय सभ्यता

रहन-सहन

ये लोग कंदराओं एवं गुफाओं में या जल के किनारे पेड़ों के नीचे रहते थे; लकड़ी, घास-फूस और पत्तों से झोपड़ी भी बना लेते थे। मिट्टी या पत्थर का घर बना लेने की कल्पना उस आदि मानव को अभी नहीं हो पाई थी। अभी तक इन लोगों को वनस्पति रोपण, कृषि और पशु-पालन का ज्ञान भी नहीं हुआ था। वस्तुतः ये लोग शिकारी अवस्था में ही थे और घोड़े, भैंसे, रेन्डीयर, महागज, इत्यादि का शिकार किया करते थे, कौंच, वतख इत्यादि को मार गिरा लेते थ, और मछलियां पकड़ते थे। उन्हीं का मांस खाया करते थे। वनों में उपलब्ध फल, अखरोट एवं अन्य प्रकार की गिरियां भी खाते थे।

शस्त्र और औजार

इन लोगों के चकमक पत्थर एवं हड्डियों के बने अनेक औजार तथा हथियार मिलते हैं जो पूर्वार्द्ध प्राचीन पाषाण-युगीय अर्द्ध मानव प्राणियों के हथियारों से अधिक सुन्दर, सुदृढ़ एवं अच्छे बने हुए हैं। ये लोग धनुप वाण भी बनाते थे; धनुष पानी में मुलायम की हुई लकड़ी एवं जानवरों की तांत का, एवं वाण का सिरा नुकीले पत्थर का बनता था। मछली पकड़ने के लिए पेड़ के तन्तुओं की रस्सी का जाल भी बुन लेते थे। एक ही लकड़ी के गट्ठे को पत्थर के औजारों से घड़ कर साधारण नाव भी बना लेते थे। पहिये गाड़ी का ज्ञान नहीं था। कला—इन लोगों को शंख एवं सीप के बने आभूषण मिले हैं। ये लोग चट्टानों एवं गुफाओं की दीवारों पर चित्र खोदते थे और रंग भी करते थे। विसन (जंगली भैंसा), घोड़ा, रींछ, रेन्डियर, महागज इत्यादि जानवरों के ही चित्र विशेषतया खोदते या बनाते थे—मानव शकल सूरत के चित्र बहुत कम। स्पेन में अल्तापिरा की गुफाओं एवं फ्रांस और इटली की गुफाओं में ऐसे चित्र मिले हैं। हाथी दांत में खुदी हुई जानवरों की अनेक मूर्तियां भी मिलती हैं और कुछ पत्थर की बनाई हुई मूर्तियां। इन बातों से इन लोगों के मानसिक विकास का पता लगता है। ये लोग चित्रकार तो निश्चित रूप से बहुत अच्छे थे।

आदि मानव क्या सोचता था ?

आज हम आत्मा-परमात्मा, कर्म, ज्ञान, भक्ति, वेदान्त, आदर्शवाद, यथार्थवाद, अन्तसचेतना आदि सूक्ष्मतम आध्यात्मिक बातों के विषय में सोचते हैं। राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, राजनैतिक, आर्थिक इत्यादि सामूहिक जीवन की समस्याओं को सोचते हैं। प्राण, विद्युदणु (इलेक्ट्रोन, प्रोटोन), सापेक्षतावाद, क्वान्तम सिद्धान्त, तारामण्डल, ग्रह, चन्द्र, सूर्य, आदि की अन्वेपणात्मक बातों की वैज्ञानिक ढंग से जांच करते हैं। कला, सौन्दर्य, शिव और सुन्दर की परिभाषा करते हैं—इत्यादि। कितनी गहन और पेचीदा ये बातें हैं-और कितना सूक्ष्म और विकसित वह मस्तिष्क जो इन गहनतम एवं

गूढतम बातों में आत्म-विश्वास के साथ विचरण करता है–किन्तु क्या आदिम मानव भी ऐसा ही सोचा करता था? इस विशाल सृष्टि में वह अभी अभी तो अवतरित हुआ ही था–लाखों वर्षों तक पशु तथा अर्द्ध–मानव अवस्था में से गुजरता हुआ अभी अभी तो मानव बना ही था– मानों वह अभी बच्चा ही था। पाशविक जीवन की स्मृतियां अभी ताजा ही थीं। वे सर्वथा तो आज तक भी नहीं भुलाई गई हैं। वह सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र अपने ऊपर निरंभ्र आकाश में देखता तो होगा, किन्तु पशु समान देख कर रह जाता होगा, उसके दिमाग को अभी ये बातें परेशान नहीं करती थीं कि कहां से सूर्य चन्द्र आये और कहां से वह स्वयं आया। वह तो उसके सामने आने वाली निकटतम वस्तुओं के विषय में ही कुछ सोचता होगा, जिनसे उसका खाने-पीने, मरने-मारने, डर भय का सम्बन्ध हो। शेर और रींछ के विषय में सोचता होगा, जिनसे डर कर उसको अपना बचाव करना पड़ता था—हिरणी, लोमड़ी, खरगोश के विषय में सोचता होगा जिनका शिकार उसे करना पड़ता था अपना पेट भरने के लिए। ये ही जंगली जानवर उसके 'विचार' के विषय होंगे; उन्हीं की स्मृति इन आदिम मानवों द्वारा अंकित किये हुए चित्रों में मिलती है। चट्टानों और पत्थरों पर खुदे हुए एवं अंकित जानवरों के चित्र ही स्यात् मानव की आदि कला है।

आदि मानव का विज्ञान

अभी तक बोलना, अपनी इच्छा तथा भाव दूसरे तक पहुंचा देने में समर्थ–इतना भाषण करना उसे नहीं आया था; बोली, भाषा धीरे धीरे विकसित हो रही थी। इतनी तो विकसित कर ली थी कि वाणी के द्वारा अपने ज्ञान को आने वाली संतानों को देता रहे। अपनी आवश्यकता क्या करने से पूरी हो सकती है, क्या करने से नहीं, इस विषय में सोचता जरूर होगा और इसी के फलस्वरूप आदि विज्ञान का जन्म हुआ। वह ऐसे काम करता होगा जिससे वह सोचता होगा कि उनके करने से उसे इच्छित फल मिलेगा। अमुक कार्य का अमुक फल होगा, अमुक कारण से अमुक परिणाम निकलेगा यही सोचना और पता लगा लेना विज्ञान है—आदि मानव ऐसा सोचता और करता था, किन्तु उसकी विचार–शक्ति एवं उसके अनुभव अभी इतने सीमित थे कि उसे अनेक गल्तियां करनी पड़ती थीं। वह अंधेरे से, बड़े जानवरों से, बादलों की गर्जना और बिजली से, आंधी और तूफान से डरता था और सोचता था कि प्रत्येक वस्तु में कोई शक्ति है और अमुक अमुक कार्य करने से उस शक्ति को प्रसन्न किया जा सकता है। यही उसका अपूर्ण विज्ञान (Fetishism) था—उपरोक्त वस्तुओं से डरना एवं उनको प्रसन्न करने के लिए कुछ अमुक काम जैसे–जानवरों की बलि देना, आदमी की बलि चढ़ाना, नाचना कूदना इत्यादि।

आदि मानव की कल्पना

आदिमादव में एक और प्रमुख भाव पाया जाता है, और वह है अपने समूह के "बड़ेरे आदमी" से भय खाना। जिन औजारों, हथियारों का उप-

भोग "बड़ेरा आदमी" करता था उनको अन्य कोई स्त्री, बच्चा छू नहीं सकता था। जहां वह बैठता था उस स्थल पर अन्य कोई बैठ नहीं सकता था–इस प्रकार के अनेक प्रतिबन्धों [Taboos] ने आदि मानव के मन में घर कर लिया था। समूह की बड़ी स्त्री बच्चों की देखभाल करती थी और उनको क्रोधित "बड़ेरे आदमी" के क्रोध से बचाती थी। इसी "बड़ेरे आदमी", बुड्ढे आदमी और बच्चों की रक्षक समूह के स्त्री के "विचार" से धीरे-धीरे विकसित होकर देवी-देवताओं की कल्पना होने लगी।

आदिमानव को स्वप्न तो आते ही थे–उसकी चेतना बच्चे की तरह कल्पना में भी डूबती थी—किन्तु उसे स्वप्न उन्हीं चीजों के आते थे और उसकी कल्पना उन्हीं चीजों तक सीमित थी जो निकटतम रूप से उसके जीवन से सम्बन्धित थी—यथा, समूह का बड़ेरा—मृत या जीवित, पत्थर (जिनके वह हथियार बनाता था); जानवर (जिनका वह शिकार करता था और जिनसे वह डरता था)। और धीरे-धीरे ज्यों ज्यों वाणी का विकास होने लगा—ये स्वप्न एवं कल्पनायें कहानी के रूप में कही जाने लगीं,—और इस प्रकार अनेक जानवर दुश्मन बने, अनेक मित्र;—मृत—बड़ेरे स्यात् भूत बने; यहां तक कि आज तक हम जानवरों और भूतों की कहानियां अनेक लोगों में प्रचलित पाते हैं।

धर्म

धीरे धीरे 'भय और आश्चर्य की भावना' में उत्पन्न होकर, आदिकालीन [Primitive] कल्पना का सहारा पाकर देवी-देवताओं की सृष्टि ये लोग कर रहे थे और इस प्रकार धार्मिक विश्वासों की रूपरेखा बन रही थी। कालान्तर में ये आदि मानव सूर्य एवं सर्प की पूजा करते हुए पाये जाते हैं तथा 'स्वस्तिक' चिन्ह को एक धार्मिक चिन्ह मानने लगते हैं। आंधी, तूफान, बिजली और गर्जना, मृत्यु इत्यादि को देखते-देखते इतना विचार तो इनका अवश्य बन गया था कि इन सबके पीछे कोई अदृश्य शक्ति है। मृत्यु के उपरांत मनुष्य फिर जन्मता है।

इस प्रकार अंधेरे में अपना रास्ता ढूंढते हुए के समान, आदि मानव शनैः शनैः प्रकाश और स्वाधीनता की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता जा रहा था।

नव पाषाणयुगीय सभ्यता

(आज से लगभग १२ हजार वर्ष पूर्व से लगभग ६ हजार वर्ष पूर्व प्रथम प्राचीन सभ्यताओं के उदय होने तक)

आज से ४०-५० हजार वर्ष पूर्व दुनिया का जो नकशा था, वह शनैः शनैः बदलता जा रहा था, और लगभग १२-१२ हजार वर्ष पूर्व दुनिया के नक्शे की रूपरेखा प्रायः वही हो गई थी जो आज है। महाद्वीपों, नदी, पहाड़, झीलों की स्थिति और सीमा प्रायः वैसी ही बन चुकी थी जैसी आज है, और उसी प्रकार के पेड़-पौधे और जीव-प्राणी पाये जाते थे जो आज पाये जाते

हैं। साईबेरिया, उत्तरीय अमेरिका आदि स्थानों पर से बर्फ हट चुकी थी—स्कॅडिनेविया और रूस देश आदमियों के बसने योग्य स्थल बन रहे थे, एशिया और अमेरिका वेहरिंग मुहाने में समुद्र फैलने से पृथक हो चुके थे, उत्तरीय और दक्षिण भारत के बीच जो समुद्र लहलहा रहा था वह पट चुका था। यूरोप में पूर्वकाल में पाये जाने वाले अनेक जानवर जैसे महागज, तलवार जैसी दांते वाले शेर, मस्कबैल इत्यादि सर्वथा विलीन हो चुके थे। मानों यदि आज का मानव उस १२–१५ हजार वर्ष पूर्व की दुनियां का चक्कर लगाता तो आज की सभ्यता द्वारा अंकित किये गये जो चित्र इस दुनियां के पर्दे पर हैं उनको छोड़कर, वह दुनियां की शकल सूरत, रूपरेखा, पहाड़, पठार बन, नदी, झील प्रायः वैसी ही पाता जैसी आज हैं। और यह भी बात निश्चित सी है कि नवीन पाषाण युग में मानव प्रजातियों (Human Races) की जो परम्परा विद्यमान थी वह अभी तक चली आ रही है। बीच में बड़ा कोई भेद या विभिन्नता पैदा नहीं हुई यद्यपि विभिन्न समुहों में परस्पर युद्ध, मेल-मिलाप, समिश्रण, आदान-प्रदान होता रहा।

ये नव–पाषाणयुगीय सभ्यता वाले लोग उस काल में रहने योग्य दुनियां के प्रायः सभी हिस्सों से फैले हुए थे— यथा, उत्तर अफ्रीका, एशिया माइनर, ईरान, भारत, चीन, दक्षिण पश्चिम एवं मध्य यूरोप, पूर्वीय द्वीप समूह। उत्तरी यूरोप एवं उत्तरी एशिया में जो काफी ठण्डे स्थल थे, मानव अभी धीरे-धीरे फैलने ही लगा होगा। अमेरिका में 'वास्तविक मानव' प्राचीन पाषाण युग में ही पुरानी दुनिया से चले गये थे और वहां उनका विकास कुछ अपने ही ढंग का हुआ। सम्भव है नव–पाषाण काल के आरम्भ में भी, जब तक आज की खाड़ी भूमि रही हों कुछ लोग अमेरिका गये हों।

शस्त्र और औजार

इस काल में मानव खुरदरे पत्थरों के अतिरिक्त चिकने पत्थरों के बने औजारों और हथियारों का प्रयोग करने लग गया था—विशेषतः चिकने पत्थरों की बनी चीजों का। प्राचीन पाषाण युग की अपेक्षा खुरदरे पत्थरों के हथियार अधिक सुदृढ़, सुडोल, तेज और चमकीले होते थे। मुख्य औजार एवं हथियार कुल्हाड़ी था जिसका दस्ता लकड़ी का बना होता था। हड्डियों के और जानवरों के सींगों के आभूषण भी बनाये जाते थे।

कृषि एवं पशुपालन का आरंभ

पहिले पहल तो जंगलों में उत्पन्न प्राकृतिक अन्न (जिसके उत्पन्न करने में मनुष्य का किंचितमात्र भी हाथ न लगा हो) गेहूं, जौ, मक्का इत्यादि का उपयोग करने लगे—फिर बीज बोना, और पौधे आरोपण करना प्रारम्भ किया—और इस प्रकार खेती होने लगी। साथ ही साथ पशुपालन भी सीख लिया—गाय, बैल, भेड़, बकरी, घोड़ा कुत्ता, सूअर इत्यादि पालने लगे। केवल शिकार पर निर्वाह करना छूट गया। खेती करना, पशुपालन, ये चीजें हमको बहुत स्वाभाविक एवं साधारण मालूम होती हैं। किन्तु कल्पना कीजिए उस

प्रारम्भिक मानव की जो न तो समझता था बीज क्या होता है, कैसे उगाया जाता है, कौन से मौसम में उगाया जाता है, अन्न उपजाने के लिये किस प्रकार भूमि तैयार की जाती है, इत्यादि। उसको इन सब बातों का अपने आप आविष्कार करने में कितना समय लगा होगा—कैसे उसको प्रथमबार इन बातों की सूझ हुई होगी? अनेक भूलें, एवं गलत सही तर्क करने के बाद ही शनैः शनैः उसने अपना रास्ता निकाला होगा। इसका कुछ अनुमान इस बात से लगाइये कि आज से १५० वर्ष पहिले रेलगाड़ी का नाम तक नहीं था और आज वह रेलगाड़ी हमारे लिये कितनी स्वाभाविक वस्तु हो गई है। जिस प्रकार जार्ज स्टीफनसन ने अनेक भूलों और गलत सही परीक्षणों के बाद सबसे पहिले रेल का इंजन बनाया, उसी प्रकार पशु-पालन और खेती पूर्वकाल के मनुष्यों के लिये सर्वथा एक नई चीज़ होगी और अनेक परीक्षणों एवं भूलों के बाद ही धीरे-धीरे उन्होंने कृषि और पशुपालन विज्ञान का विकास किया होगा। वास्तव में तो जंगली गेहूं पहिले स्वयं पैदा होता ही था—उसी जंगली गेहूं को पीसकर पहिले इन लोगों ने पकाना और खाना सीखा होगा, और फिर कहीं जाकर इस जंगली गेहूं को स्वयं उपयुक्त समय और भूमि में बोना और खेती करना। यह जंगली गेहूं सबसे पहिले कहां से आया? यह तो वनस्पति क्षेत्र में "प्राकृतिक निर्वाचन" द्वारा स्वयं विकसित एक वस्तु थी। भिन्न-भिन्न प्रकार की वनस्पतियां और जीव प्रकृति में विकसित और विलीन होते रहते हैं।

पहिये, चाक, मिट्टी के घर और वस्त्र का आविष्कार

पशु पालन और खेती का आविष्कार तो हो गया, और फिर किसी एक दिन, अचानक किसी मेधावी मानव के मन में गोल पहिये के स्वरूप और उसकी चाल की कल्पना उद्भूत हो उठी है। उसी कल्पना से आविष्कार हुआ पहिये का और गाड़ी का जो खेत से घर अन्न को ढोकर ले जाने लगी और फिर चाक का जिस पर बनने लगे मिट्टी के बर्तन। मिट्टी की मूर्तियां भी बनने लगी। बर्तन और मूर्तियां आग में पकाई भी जाने लगी। आग का जिससे परिचित तो अर्द्ध–मानव प्राणी भी प्राचीन पाषाण युग में ही हो गये थे, अब अधिक उपयोग होने लगा। मांस पकाकर एवं अन्न पीस कर और पकाकर ये लोग खाने लगे। पत्तों या खाल से शरीर ढकना बन्द हो गया था, अब पौधों के रेशों के कपड़े बुनना प्रारम्भ हो गया था और इन बुने हुए कपड़ों से ही मानव अपना शरीर ढका करता था। ये लोग घर भी बनाने लग गये थे—विशेषतया कच्चे मकान ही बनते थे और मकानों के आंगनों को मिट्टी से लीप लिया जाया करता था।

धर्म और विज्ञान

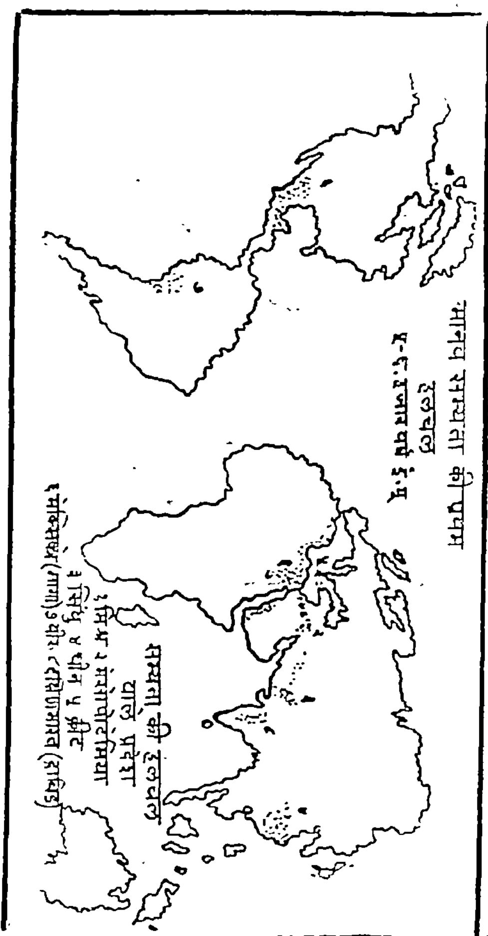
उस काल के अनेक अवशेष चिन्हों से यह एक और बात देखी जाती है कि जब-जब जहां-जहां जिन-जिन लोगों में खेती का प्रारम्भ हुआ है—उसी के साथ एक–एक विशेष प्रकार की मान्यता भी उन लोगों में पाई जाती है। वह मान्यता है भेंट चढ़ाने की, मनुष्य या पशु बलि करके।

बीज बोने एवं अनाज पक जाने के समय पर ये लोग किसी विशेष सुन्दर नवयुवक या युवती का बलिदान करते थे—कुल कालांतर में पशुओं का बलिदान करने लगे होंगे। क्यों ये लोग ऐसा करते थे इसका कारण तो अभी तक मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन का एक विषय ही बना हुआ है। अभी तक तो ऐसा ही सोचा जाता है कि इस मान्यता के पीछे उन अर्द्ध-सभ्य मानवों में कोई तर्क नहीं था—कोई बुद्धि की प्रेरणा नहीं थी, इस प्रकार की मान्यता तो यों ही बच्चे के से स्वप्न प्रभावित मन की सी बात होगी। दूसरी बात यह थी कि ये लोग अपने मृतकों को दफनाया करते थे—और उनको दफनाकर उस पर मिट्टी धूल का एक बड़ा ढेर बना देते थे, या पत्थर चुन देते थे। ये धारणायें कि कोई अदृश्य रहस्यमयी शक्ति है और मृत्यु के बाद फिर जन्म होता है, प्राचीन पाषाण युग में ही मानव के मन में बैठ चुकी थी। इन लोगों को स्यात अभी तक मौसमों का अच्छा ज्ञान नहीं था— और न तारों का ज्ञान, जिससे ये जान पाते कि कब बीज बोने का ठीक समय आ गया है और कब सफल संग्रह करने का। इन अर्द्ध सभ्य मानवों में जिन किन्हीं कुछ विशेष कुशल व्यक्तियों ने तारों के विषय में, मौसम के विषय में कुछ जान लिया होगा— वे ही मानवसमूह के पूजनीय व्यक्ति, या गुरु पुजारी या जादूगरनी बन जाते थे, और उनसे सब लोग डरते थे। इन्हीं गुरु, पुजारी, पण्डित लोगों ने शेष साधारण जनों में स्वच्छता के प्रति रुचि और गन्दगी के प्रति भय के भाव पैदा किये होंगे। ये पुजारी–गुरु–जादूगर–पंडित श्रेणी के लोग वास्तव में कोई धर्म और दर्शन के ज्ञाता नहीं थे। ये लोग तो ऐसे ही थे जिन्होंने प्रकृति और अपने चारों ओर की वस्तुओं को देख कर कुछ प्राकृतिक ज्ञान (विज्ञान) का आधार बना लिया था, ये लोग पहिचानने लग गये थे कि कब चन्द्रमा बढ़ता घटता है, कब कौन से तारे के उदय होने पर विशेष मौसम प्रारम्भ होता है, इत्यादि। इसी ज्ञान की शक्ति के प्रभाव से ये लोग मानव-समूह के गुरु, पुजारी बन गये थे। ये लोग अपने ज्ञान को सर्वथा गुप्त रखते थे, किसी को बताते नही थे, मानों यह कोई जादू मन्त्र टोना हो। इस प्रकार आदि मानव के "बड़ेरे आदमी" के भाव में से, पुरुषों के प्रति स्त्रियों और स्त्रियों के प्रति पुरुषों की अनेक भावनाओं में से, गन्दगी और पवित्रता की भावना में से, फसल पक जाने के समय बलिदान की भावना में से, और मानवों के अपूर्ण विज्ञान, जादू टोना, एवं गुप्त रहस्य में से—वह भावना उदय हो रही थी जिसे 'धर्म' कहते हैं,—और यह भावना मानव के मन में शनैः शनैः संस्कारित हो रही थी। इस परम्परा के धर्म ने, संस्कारों ने, अनेक युगों तक मानव बुद्धि को बांधे रक्खा। अब भी अनेक मानव लोगों की बुद्धि उन प्राचीन संस्कारों में बद्ध है। १७ वीं शताब्दी के अन्त तक इंगलैंड, फ्रांस इत्यादि यूरोपीय देशों में शहरों से दूर अनेक गांवों के लोगों का रहन–सहन एवं उनका मानसिक संस्कार उसी स्तर का बना हुआ था जो नवीन-पाषाण युग के मानव का था; और अफ्रीका और पूर्वीय देशों के गांवों में तो आज तक यह दशा है।

अर्द्ध मानव एवं प्राचीन और नवीन पाषाणयुगीय वास्तविक मानव का तुलनात्मक अध्ययन

	काल	युग का नाम	निवास	भोजन	वस्त्र	औजार और शस्त्र	कला	धर्म	विशेष आविष्कार
अर्ध मानव	५ लाख से ५० हजार वर्ष पूर्व तक	प्राचीन पाषाण युग (पूर्वार्ध)	जंगलों में इधर-उधर एवं झीलों के निकट	कच्चा मांस, मछली फल, सूखे फल	प्रायः नग्न फिर जानवरों की खाल	पत्थर के ढेले, लकड़ी के बल्लम, पत्थर के भाले	?	मृत्यु के उपरान्त किसी प्रकार के जीवन की कल्पना; मृतकों को गाड़ना; कब्र को पत्थरों से ढक देना।	अग्नि की जानकारी और उसका उपयोग
मानव	$2\frac{1}{2}$ लाख से १५ हजार वर्ष पूर्व तक	प्राचीन पाषाण युग (उत्तरार्ध)	जंगल, गुफा, लकड़ी पत्तों की झोंपड़ी	पका मांस, मछली फल, सूखे फल	अधिकतर नग्न, पेड़ की छाल और जानवरों की खाल	पत्थरों के औजार (कुल्हाड़ी इत्यादि); पत्थर एवं हड्डी के	गुफाओं में चित्रकारी; हड्डियों और सींगों के आभूषण	मृत्यु के उपरान्त पुनर्जन्म की एक अस्पष्ट-सी भावना; किसी	चकमक पत्थर की रगड़ से अग्नि उत्पन्न कर लेना और सूखे

	काल	युग का नाम	निवास	भोजन	वस्त्र	औजार और शास्त्र	कला	धर्म	विशेष आविष्कार
						तीखे बर्छे छुरे भाले।		अदृश्द शक्ति से भय के भाव का उदय; देवी-देवता की कल्पना।	पत्ते में उस अग्नि को जलते हुए रखना
मानव	१५ हजार से ५ हजार वर्ष पूर्व तक	नव पाषाण युग	झोंपड़ी एवं मिट्टी के मकान	पका मांस, मछली, फल, सूखे फल, अन्न, दूध।	पेड़ों के रेशों से बने हुए वस्त्र	पत्थरों, हड्डियों और सींगों के अधिक सुघड़ और चिकने और पैने औजार और शस्त्र	गुफाओं में चित्रकारी, हड्डियों और सींगों के आभूषण; मिट्टी के बर्तन (पके हुए) और मूर्तियां	उपर्युक्त पुनर्जन्म, देवी-देवता, पुजारी-गुरु, अदृश्य शक्ति के भाव ... पुष्ट	कृषि, पशु-पालन, पहिया, चाक, वस्त्र


मानव सभ्यता की प्रथम
हलचल
५-६ हजार वर्ष ई.पू
सभ्यता की हलचल
वाले प्रदेश
१ मिश्र २ मेसोपोटेमिया
३ सिंधु ४ चीन ५ क्रीट

यह है कहानी इस पृथ्वी पर मानव के उदय और उसके प्रारम्भिक जीवन की!

उपसंहार

जो हो, सभ्यता की स्थिति उसी को माना गया है जिसमें (१) सामूहिक जीवन, जिसके दो प्रमुख अंग हैं, परिवार और राज्य–संस्था का विकास हो चुका हो; (२) मनुष्य प्राकृतिक-भौतिक परिस्थितियों का ज्ञान उपार्जन करता हुआ उनका ऐसा संयोजन करने लगा हो कि उसको सुख सुविधा मिले; एवं (३) भाषा (और लिपि) का भी विकास कर चुका हो, जिससे उसके ज्ञान की बढ़ती हुई ख्याती अगली पीढ़ियों तक चलती रहे।

बीज रूप से सभ्यता के ये तीनों आधार नव पाषाण युग में स्थापित हो चुके थे। फिर इन्हीं आधारों पर सुविकसित और सुगठित सभ्यता प्राचीन काल में कई भू-भागों में, यथा, मिस्र, सुमेर–बेबीलोन, ईरान, चीन, भारत, ग्रीस, रोम आदि में, हमें देखने को मिलती हैं। उन्हीं का अध्ययन अब हम करेगें।

3

प्राचीन मेसोपोटेमिया और उसकी सभ्यता

(OLD MESOPOTAMIA & ITS CIVILIZATION)

(सुमेर, बेबीलोन, असीरिया, केल्डिया की सभ्यता)

भौगोलिक विवरण

ईरान (फारस) की खाड़ी के उत्तर में जो आधुनिक ईराक प्रदेश है, उसको इतिहासकारों ने मेसोपोटेमिया नाम दिया है-मेसोपोटेमिया का अर्थ है नदियों के बीच की भूमि। वास्तव में उत्तर पश्चिम से आती हुई दो नदियां यूफ्रेटीज (दजला) और टाईग्रीस (फरात) फारस की खाडी में गिरती हैं और इन दो नदियों के बीच की भूमि को मेसोपोटेमिया कहा गया है। आजकल तो फारस की खाड़ी में इन दोनों नदियों का मुहाना एक ही है, किन्तु प्राचीन काल में, आज से लगभग ८-१० हजार वर्ष पूर्व, ये दोनों नदियां पृथक-पृथक गिरती थीं और इन दोनों नदियों के मुहानों के बीच में भी काफी लम्बी चौड़ी भूमि थी। यही मुहानों के बीच की भूमि प्राचीन काल में सुमेर कहलाती थी, जिसमें प्राचीन काल के प्रसिद्ध नगर निपुर, उर इरीदू, तेलएल-ओवीद इत्यादि बसे हुए थे। उस समय फारस की खाड़ी का पानी भी आज की अपेक्षा अधिक ऊपर तक फैला हुआ था। इन हजारों वर्षों में दोनों नदियां अपनी मिट्टी से समुद्र को पाटती रहीं और फारस की खाड़ी की सीमा भी बदल गई। सुमेर प्रदेश से आगे उत्तर में प्राचीन काल में अक्काद प्रदेश था जिसकी राजधानी बेबीलोन थी। उससे भी आगे बढ़कर असीरिया प्रदेश था जिसकी राजधानी असुर थी। सुमेर, अक्काद और असीरिया ये तीनों प्रदेश सम्मिलित रूप में मेसोपोटेमिया कहलाते हैं, और तीनों प्रदेशों की प्राचीन सभ्यतायें काल क्रम में सबसे पहिले सुमेर, सुमेर के बाद बेबीलोन, बेबीलोन के बाद असीरिया और फिर कॉल्डिया जाति के लोगों का दूसरा बेबीलोन साम्राज्य, इस प्रकार आती हैं। इन सब सभ्यताओं का प्राय: एक ही प्रवाह और तारतम्य था, और ये सब प्राचीन मेसोपोटेमिया की सभ्यता मानी जाती हैं।

इस सभ्यता का विकास कब और कैसे हुआ और किन लोगों ने किया ?

पिछले अध्याय में हम देख आये हैं कि आज से लगभग १०–१२ हजार वर्ष पूर्व स्पेन के पश्चिमी छोर से लेकर पूर्व में प्रशान्त महासागर तक, यथा फ्रांस, इटली, मिस्र, एशिया माइनर, भारत और चीन में नव-पाषाण युगीय स्तर की सभ्य अवस्था फैली हुई थी; जिसमें कृषि, पशुपालन, कृषि सम्बन्धी देव-देवियों की पूजा और भेंट, मिट्टी के बर्तन बनाना इत्यादि बातें प्रमुख थीं। इसी अवस्था में से विकास पाकर सामाजिक दृष्टि से सुसंगठित, सुमेर प्रदेश की वह सभ्यता बनी जिसके अवशेष हमें ६–७ हजार वर्ष ई० पू० तक के मिलते हैं। मानव के इतिहास में हम इस पृथ्वी पर सबसे पहले नगर बसते हुए, एवं लोगों को एक सभ्य सुसंगठित समाज बनाकर रहता हुआ पाते हैं। सुमेर, बेबीलोन, असीरिया की सभ्यतायें सर्वथा लुप्त प्रायः हैं—किन्तु उन लुप्त सभ्यताओं का चित्र एवं इतिहास जो आज हमने बनाया है, वह उन खुदाइयों के फलस्वरूप जो उक्त प्रान्त में आज से कई दशक वर्ष पूर्व हुईं। इन खुदाइयों में उस प्राचीनकाल के अद्भुत नगर, महल, सड़कें, कुएं, मन्दिर, देवताओं की मूर्तियां, लेखनकला, अनेक लेख, मुद्रायें, मोहर, मिट्टी के बर्तन, चांदी सोने के आभूषण इत्यादि के अवशेष मिले हैं, जिनसे उन प्राचीन सभ्यताओं का चित्र हमारे सामने स्पष्ट हुआ है। अभी-अभी पिछले कुछ वर्षों में पेनसिलवेनिया और शिकागो विश्वविद्यालयों के अमरीकी पुरातत्व-गवेषकों को प्राचीन सुमेर के प्रसिद्ध नगर निपुर के कुछ शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इनमें से अधिकतर शिलालेख उस समय के लोगों के निजी "लेखसंग्रहालयों" के हैं। इनमें से कुछ शिलालेख "शिक्ष ग्रंथों" और कुछ "निर्देश ग्रंथों" के रूप में प्रयुक्त किये जाते थे। इन शिलालेखों में कुछ में गणित के प्रश्न हैं और कुछ में कानूनी समस्यायें। एक शिलालेख में जनता को विद्याध्ययन के लिए निमन्त्रित किया गया है, इस प्रकार शिक्षा के लिए लोगों को प्रेरित करने वाला यह सबसे प्राचीन लेख है। इतना असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि सुमेरियन जाति उस जमाने की दृष्टि से सभ्यता में बहुत आगे बढ़ चुकी थी और वह धीरे-धीरे समाज शासन, व्यवस्था और वैयक्तिक उत्तरदायित्व के आदर्श की ओर अग्रसर हो रही थी।

सबसे प्राचीन सभ्यता कौनसी ?

यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि सबसे प्राचीन सभ्यता कौनसी है ?—सबसे पहिले सभ्यता का विकास मिस्र में हुआ या सुमेर में-या इन दोनों सभ्यताओं का विकास संसार में सबसे पहिले लगभग एक ही काल में पृथक-पृथक स्वतन्त्र रूप से हुआ, या इन दोनों सभ्यताओं से भी पहिले अपने ही ढंग की (जैसा कि कुछ भारतीय पुरातत्ववेत्ता कहते हैं) भारतीय आर्य संस्कृति का एवं चीन में अपने ही ढंग की चीनी संस्कृति का विकास हुआ। जिस प्रकार आधुनिक काल में तरतीववार समस्त संसार का इतिहास लिखा जाता है, यह बात उस पुराने जमाने में तो प्रायः थी नहीं, फिर भी उस जमाने के अवशिष्ट चिन्हों, मुद्राओं, धातुपत्र एवं शिलालेखों के आधार पर कुछ अनुमान इतिहासकारों ने लगाये ही हैं—एवं अब तक जो कुछ सामग्री, अथवा जो कुछ

भी तथ्य उस पुराने काल के मिले हैं—उनसे कई पाश्चात्य विद्वानों की अब तक तो यही धारणा बनती है कि सुमेर की ही सभ्यता सबसे प्राचीन है। ईसा से पांच-छः हजार वर्ष पहिले के जो अवशेष सुमेर में मिले हैं उतने पूर्वकाल के अवशेष मिस्र में भी, जिसकी सभ्यता अतिपुरातन मानी जाती है, नहीं मिलते। भारत एवं चीन के पुरातन इतिहास के विषय में तो हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य विद्वानों का ज्ञान अभी अधूरा ही है। जो कुछ भी हो इतना तो हम देखते हैं कि थोड़े से ही पूर्वापर अन्तर से प्राचीन दुनिया में प्रायः एक ही साथ चार सभ्यताओं का विकास होता है यथा दजला और फरात की नदियों की घाटी में सुमेर और बेबीलोन सभ्यता का, नील नदी की घाटी में मिस्र की सभ्यता का, भारत में सिन्धु नदी की घाटी में सिन्धु सभ्यता का एवं ठेठ पूर्वीय चीन में ह्वांगहो और यांगटीसिक्यांग नदी की घाटियों में चीनी सभ्यता का। इतना ही नहीं कि इन नदियों की उपत्यकाओं में भिन्न-भिन्न सभ्यतायें विद्यमान थीं, किन्तु अपनी सुविकसित अवस्थाओं में वे समकालीन भी थीं और परस्पर उनमें सांस्कृतिक एवं व्यापारिक विनिमय भी होता रहता था।

नदियों की घाटियों में ही प्रथम सभ्यतायें क्यों ?

यहां यह बात देखने की है कि नदी की घाटियों में ही प्राचीन सभ्यताओं का विकास होता है, अन्य जगहों पर नहीं। इसका भौगोलिक कारण है। भौगोलिक परिस्थितियों का मनुष्य के जीवन एवं उसके विकास में बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। प्राचीन काल में मनुष्य स्थिर होकर उसी जगह ठहर सकता था, जहां वर्ष में बारहों महीनों खेती की सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध हो सके, पशुओं के लिए चारा मिल सके, और घर बनाने के लिए कुछ सामग्री उपलब्ध हो। ऐसी परिस्थितियां उपर्युक्त नदियों की घाटियों में विद्यमान थीं। मिस्र में नील नदी की घाटी में मिट्टी एवं ऐसा पत्थर जो आसानी से इमारतों के काम आ सके बहुतायत से मिलता था। मेसोपोटेमिया में यदि पत्थर नहीं था तो वहां एक प्रकार की ऐसी मिट्टी थी जो सूर्य की गर्मी से पककर पक्की ईंट की तरह बन जाती थी। इन नदियों की घाटियों में खूब घास पैदा होती थी, एवं अन्न के उत्पादन के लिए बारहों महीने सिंचाई का साधन था। अतएव ऐसे स्थलों पर मनुष्यों का स्थायी रूप से घर, गांव, नगर बनाकर बस जाना स्वाभाविक ही था। इन उपत्यकाओं में बहुत से लोग स्थायी रूप से बस गए। शनैः शनैः उनकी जनसंख्या में वृद्धि हुई, एवं उन्होंने संगठित सभ्यताओं का विकास किया।

इस सृष्टि में, इस पृथ्वी पर यह पहला ही अवसर था कि मानव स्थिर होकर एक जगह बसने लगा। उसमें सामाजिक चेतना और उत्तरदायित्व का विकास हुआ, और प्राकृतिक परिस्थितियों को अपने लिए सुखद बनाने का उसने सामूहिक रूप से प्रयास किया।

इन नदियों की घाटियों के अतिरिक्त पृथ्वी पर दूसरी जगहों पर घुमक्कड़ लोग (Nomadic People) भोजन की तलाश में इधर-उधर घूमा

फिरा करते थे। इन लोगों की वजह से इतिहास का यह एक अपूर्वतम तथ्य बराबर बना रहा है कि शांत स्थिर बसे हुए लोगों में एवं इन घुमक्कड़ लोगों में बारबार संघर्ष चलता रहा है—नये घुमक्कड़ लोग आये हैं, पुराने बसे हुए लोगों को जीता है, या ये उन्हीं में घुल मिलकर वहीं बस गये हैं; एवं फिर नये घुमक्कड़ लोगों का प्रवाह आया है—और इस प्रकार सभ्यताओं का आरोहण-अवरोहण, उत्थान-पतन होता रहा है और इतिहास गतिमान रहा है।

सुमेर

सुमेरियन लोग कौन ?

सुमेर की सभ्यता का विकास सुमेरियन लोगों ने किया जो आज सर्वथा लुप्त हैं। कौन ये सुमेरिन लोग थे, कहां इनका उद्गम था, यह सभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ये लोग आर्य, सेमेटिक, मंगोल, निग्रो सभ्यताओं के लोगों से अन्य ही लोग थे। इन सभ्यताओं से इनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं बैठता। स्यात् ये वे ही भूरे या गहरे बादामी रंग (Brunet) के लोग थे जो नव-पाषाण युग में पच्छिम में स्पेन से लेकर पूर्व में प्रशांत महासागर तक भूमध्यसागर तटीय प्रदेशों में फैले हुए थे।

हां, कुछ विद्वानों की राय है कि सिंधु (भारत) से ही कुछ लोगों ने मेसोपोटेमिया जाकर आज से ७-८ हजार वर्ष पूर्व सुमेरी सभ्यता को जन्म दिया था। मेसोपोटेमिया में पहिले से ही नव-पाषाण युगीन उपरोक्त भूरे रंग के लोग बसे हुए थे, उन्हीं में सिंधु लोगों के सम्पर्क से संगठित सभ्यता का विकास हुआ। तो ये सिन्धु लोग कौन थे? ये वे ही लोग थे जिनमें उस प्राचीन सिंधु (मोहेंजोदाड़ो हरप्पा) सभ्यता का विकास हुआ था जिसके विषय में कुछ विद्वानों द्वारा यह माना जाता है कि वह भारत की प्राचीन द्रविड़ जाती और आर्य जाति दोनों के मेल से बनी थी। इसमें संदेह नहीं कि सिन्धु और सुमेर-बेबीलोन की सभ्यता बहुत मिलती जुलती है।

सभ्यता का रूप

सुमेर के प्राचीन लोगों ने पहिले ग्राम बसाये और फिर ये ही ग्राम विकसित होकर नगर बने। कई नगरों के अवशेष मिले हैं जिनमें निपुर, निनेवेह, उर, लागश, किश और बेबीलोन मुख्य हैं। इन नगरों में पकी हुई चमकदार ईटों के सुन्दर-सुन्दर मकान बने हुए थे। मिट्टी के अनेक प्रकार के सुन्दर-सुन्दर बर्तन एवं मूर्तियां उस प्राचीन काल की उपलब्ध हुई हैं। प्रारम्भ में प्रत्येक नगर का शासन अलग-अलग था—वास्तव में ये छोटे-छोटे नगर राज्य थे। इन नगरों के राजा होते थे। मन्दिरों के पुरोहित, पुजारी एवं वैद्य, चिकित्सक, जादू टोना करने वाले लोग ही राजा होते थे। प्रत्येक नगर का एक मुख्य देवता होता था—उस मुख्य देवता का नगर में एक मुख्य मन्दिर होता था, उस मन्दिर का पुरोहित (पुजारी) ही नगर का राजा होता था। धर्मगुरु एवं नगर का शासक एक ही व्यक्ति होता था।

नदियों से नहरें निकालकर ये अपने खेतों को सींचते थे। नहरों द्वारा खेतों को सींचने की कला अद्भुत रूप से विकसित थी। गेहूं एवं जौ की खेती मुख्यतया होती थी। गाय, बैल, भेड़, बकरी, गदहे इन लोगों के पालतू जानवर थे। घोड़े से ये लोग परिचित नहीं थे। जहाजरानी उद्यम का भी ये लोग धीरे-धीरे विकास कर रहे थे। इनकी एक विचित्र लेखन कला थी, तत्कालीन मानव सभ्यता के लिए वह एक महान् उपलब्धि थी। भावों को चित्रों से सूचित किया जाता था, जो भाव इस प्रकार सूचित नहीं किये जा सकते थे उनके लिए खण्ड शब्द थे, जो चित्र नहीं बल्कि ध्वनि सूचक चिन्ह होते थे। ये चिन्ह वस्तु या भाव विशेष की सूचना देते थे। इस प्रकार यह पूर्ण चित्र लिपि नहीं किन्तु खण्ड चित्रलिपि थी। मिट्टी की छोटी-छोटी टाइलों अर्थात् पट्टियों पर लकड़ी की नोकदार कलम से, सुमेरिन लोग, ये चित्र या शब्द-खण्ड कुरेदते थे, जिससे यह लिपि सूच्याकार या कीलाक्षर (Cuneiform) कहलाई। बाद में वे मिट्टी की टाइलें पकाली जाती थीं और इस प्रकार उनके लेख सुरक्षित रहते थे। यह भाषा और लिपि इतना विकास पा चुकी थी कि इसमें व्यापार, काव्य और धर्म के जटिल भावों को भी अभिव्यक्त किया जा सकता था। उक्त लिपि में सबसे पुराने लेख ३६०० ई० पू० तक मिलते हैं; ३२०० ई० पू० से तो लिखित पट्टियों की एक शृंखला सी मिलने लगती है। २७०० ई० पू० तक सुमेरिया में विशाल पुस्तकालय स्थापित हो चुके थे जिनमें उक्त लिखित पट्टियां संगृहीत थीं। प्राप्त अवशेषों से पता लगा है कि इन पट्टियों में व्यापार, ज्योतिष, राज्यादेश, सम्राटों के जीवन सम्बन्धी बातें लिखी हुई थीं, धर्म सम्बन्धी विचार, यहां तक कि काव्यात्मक गीत और देव-प्रार्थनायें भी मिली हैं। इस तरह के बहुत से ऐसे लेख मिले हैं जिनसे उन लोगों के रहन-सहन और इतिहास का पता लगता है।

भिन्न-भिन्न नगर राज्यों में आपस में लड़ाइयां और झगड़े होते रहते थे। अन्त में इरेच नामक नगर राज्य के राजा–पुरोहित ने समस्त सुमेर प्रदेश को मिलाकर एक साम्राज्य स्थापित किया जो फारस की खाड़ी से पश्चिम में भू-मध्यसागर तक फैला हुआ था। इस पृथ्वी पर स्यात् यह पहिला संगठित साम्राज्य था।

बेबीलोन

सम्राट सार्गन

सुमेर प्रदेश में उपरोक्त नगर राज्य जब स्थित थे, उसी समय अरब रेगिस्तान की सेमेटिक जातियां इधर उधर घुमक्कड़ लोगों की तरह घूमा करती थीं। इन्हीं जातियों की अक्काद जाति के एक सरदार ने जिसका नाम सार्गन था, सुमेर पर हमला किया और वहां अपना राज्य स्थापित किया। सार्गन जिसका ऐतिहासिक काल अनुमान से २७५० ई० पू० माना जाता है, इतिहास का प्रथम सैनिक शासक था। उसका राज्य विस्तार फारस की खाड़ी से भू-मध्यसागर तक फैला हुआ था। उसका साम्राज्य सुमेर-अक्काद साम्राज्य कहलाता है। सुमेरियन लोगों की ही सभ्यता, लिपि, भाषा, देवपूजा, इत्यादि

इन नये विजेताओं ने अपना ली। इस वंश के राजा ज्योंही कमजोर हुए तो सेमेटिक लोगों की एक अन्य जाति ने इस प्रदेश पर हमला किया, बेबीलोन नामक एक सुन्दर नगर बसाया अतएव उनका साम्राज्य भी बेबीलोन साम्राज्य कहलाया।

सम्राट हमुरबी

हमुरबी नाम का एक व्यक्ति इस साम्राज्य का सर्व-प्रसिद्ध सम्राट हुआ। उसका काल २१०० ई० पू० के आसपास अनुमानित किया जाता है। इसके राज्य काल में व्यापार की बहुत उन्नति हुई, शासन के संगठित नियम एवं कानून इस सम्राट ने बनाये। इतिहास में स्यात् यही सर्व प्रथम राजा था जिसने शासन सम्बन्धी एवं व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी कानून बनाये। इसके शासन काल में कई बड़े बड़े नगर बसे, जिनके अब तो मात्र अवशेष मिट्टी के नीचे दबे हुए मिलते हैं। किन्तु इन भग्नावशेषों में विद्वानों को राजा हमुरबी द्वारा लिखे गये (जैसा ऊपर कहा गया है मिट्टी की पट्टियों पर खुदे हुए) अनेक पत्र मिले हैं—जो उसने राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों के अफसरों को लिखे थे और जिनमें उसने शासन सम्बन्धी तथा मन्दिर, धर्म एवं काल गणना सम्बन्धी अनेक आदेश दिये थे। इन पत्रों के अतिरिक्त पत्थर का एक लम्बा टुकड़ा भी मिला है जिस पर हमुरबी के शासन कानून अंकित हैं। उन पत्रों में जो आदेश हैं—उदाहरण स्वरूप वे इस प्रकार हैं—यूफ्रीटीज (दजला) नदी में व्यापारिक विकास एवं आवागमन में जितनी रुकावटें आती हैं उनको साफ कर देना चाहिये। कर समय पर एकत्र हो जाना चाहिये एवं जो लोग कर अदा नहीं करते हैं उनको सजा मिलनी चाहिये। बेईमान न्यायाधीशों एवं राज कर्मचारियों को भी न्याय के सामने प्रस्तुत होना पड़ेगा, इत्यादि इत्यादि।

उपरोक्त "प्राप्त पत्थर" में जो कानून खुदे हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

(१) यदि कोई पुत्र अपने पिता को पीटे तो उसका हाथ काट दिया जाय। (२) जो किसी की आंख फोड़े तो उसकी आंख फोड़ दी जाय। (३) किसी कारीगर की लापरवाही से यदि मकान गिर जाय तो मकान वाले का जो नुकसान हो वही नुकसान कारीगर का किया जाय। (४) नहरों को खराब करने वाले को कड़ी सजा दी जाय इत्यादि।

सामाजिक व्यवस्था

राजा के उपरोक्त पत्रों में जो आदेश लिखित हैं, एवं पत्थर पर जो कानून खुदे हुये हैं, उनसे उस प्राचीन काल की समाज व्यवस्था के विषय में बहुत कुछ मालूम होता है। यह सामाजिक व्यवस्था काफी संगठित एवं विकसित थी। तीन श्रेणी के लोग उस समाज में थे—

१. **उच्च वर्ग**—जिसमें पुरोहित, पुजारी, शासनकर्त्ता, राज्य कर्मचारी लोग थे।

२. **मध्यम वर्ग**—जिसमें विशेषत: व्यापारी थे।

३. **गुलाम**—जिसमें विशेषत: खेतीहर मजदूर नौकर थे।

ऐसा भी अनुमान होता है कि स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊंची थी। स्त्रियां बहुधा व्यापार भी किया करती थीं। बहुपत्नीत्व की प्रथा का प्रचलन था किन्तु स्त्रियों को तलाक का अधिकार था।

व्यापार, बैंकिंग (लेन देन), खेती सिंचाई के लिए नहरें एवं नगरों की स्वच्छता के लिए नालियां इत्यादि बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

हमुरबी की मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य फिर तितर-बितर हो गया। १७०० ई० पू० में इसका पतन होना प्रारम्भ हुआ, किन्तु ८ वीं शती ई० पू० तक किसी प्रकार यह चलता रहा। नये सेमेटिक लोग इस प्रदेश में आ गये, जिन्होंने सब व्यवस्था को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। बेबीलोन की सभ्यता से वे कुछ भी लाभ नहीं उठा सके। बेबीलोन की प्राचीन भाषा भी समाप्त हो गई एवं उसकी जगह एक प्रकार की सेमेटिक भाषा का जो उस जमाने की यहूदी भाषा से कुछ-कुछ मिलती-जुलती थी, प्रचलन हो गया।

साहित्य

बेबीलोन के लोगों ने सुमेरियों की ही लेखन कला को अपनाकर उसे अधिक उन्नत कर लिया था। मिट्टी की पट्टियों पर धातु की कलमों से लिखा जाता था। इस प्रकार पुस्तकें लिखी जाकर मन्दिरों में रक्खी जाती थीं। उस काल का एक महाकाव्य मिला है, जो "गिलगमिश" महाकाव्य के नाम से प्रसिद्ध है। अनेक दन्त-कथायें भी उन लोगों में प्रचलित थीं। उन लोगों में सृष्टि रचना और महाप्रलय की एक कहानी प्रचलित थी जो एक चट्टान पर लिखी हुई मिली है। लगभग २००० ई० पू० में इन सबका अस्तित्व होना चाहिये। सृष्टि रचना और प्रलय की इसी कहानी को बाद में यहूदियों ने अपनी बाइबल में अपना लिया और यहूदियों की बाइबल से मुसलमानों ने अपनी कुरान में।

बेबीलोन में गणित, ज्योतिष, इतिहास, चिकित्सा शास्त्र, व्याकरण, दर्शन का भी ज्ञान था, जिससे कालांतर में जूड़िया, फिलस्तीन, सीरिया, अरब और ग्रीस के लोग भी प्रभावित हुए।

असीरिया

जब बेबीलोन साम्राज्य खत्म प्राय: हो रहा था तो टाईग्रीस व युफ्रेटीज इन दो नदियों की घाटी के उत्तर भाग में एक नये राष्ट्र का उदय हो रहा था। इस नये राष्ट्र का मुख्य नगर असुर था, जिससे इस राज्य का नाम ही असीरिया हुआ। असुर पहले एक छोटा सा नगर राज्य ही था। यहां के निवासियोंने बेबीलो न की सभ्यता से ही काल-गणना, लेखन कला, मूर्तिकला एवं सभ्यता की अन्य बातें सीखीं। असीरियन लोगों ने सीरिया, इजराइल, जूडिया एवं मिस्र साम्राज्य के भी कई भागों पर कुछ काल के लिए विजय

प्राप्त की एवं अपना एक महान असीरियन साम्राज्य स्थापित किया। इस साम्राज्य का सर्व प्रथम प्रसिद्ध सम्राट सार्गन द्वितीय था जिसका काल ७२२–७०५ ई० पू० माना जाता है। सार्गन के पुत्र सेनाकरीव (७०५–६८१ ई० पू०) ने प्रसिद्ध बेबीलोन नगर को तो विध्वंस कर दिया किन्तु उसने एक नया शानदार नगर बसाया जिसका नाम निनेवेह था; इसी नगर को सेनाकरीब ने असीरियन साम्राज्य की राजधानी बनाया। इसी नगर में सम्राट ने एक बहुत विशाल महल बनवाया। इस महल में अलवस्टर पत्थर पर चित्रित अनेक चित्र मिले हैं। इन चित्रों में सम्राट की विजयों का चित्रण है एवं सिंह और अन्य जंगली जानवरों के शिकार के भी चित्र हैं। ये सब चित्र कलापूर्ण ढंग के हैं। इस महल से लगे हुए अनेक सुन्दर-सुन्दर उद्यान भी थे। सेनाकरीब सम्राट का पौत्र असुरबनीपाल बड़ा विद्या-प्रेमी था। अपने राज्यकाल में उसने एक विशाल पुस्तकालय बनवाया और जितने भी मिट्टी की पट्टियों पर प्राचीन लिखित लेख अथवा पत्र (Documents) उसको मिले, वे सब उसने अपने पुस्तकालय में संगृहीत किये। उपरोक्त सेनाकरीब द्वारा निर्मित महलों में लगभग ३ लाख मिट्टी की पट्टियों पर लिखित उस काल के धार्मिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक लेख मिले हैं। ये पट्टियां अब ब्रिटिश म्यूजियम, लंदन में सुरक्षित हैं। उस काल की ऐतिहासिक बातें इन्हीं रिकार्डों से उद्घटित हुई हैं। इस प्रकार असुरबनीपाल का राज्य 'ज्ञानोदय' का राज्य था।

किन्तु सम्राट को अनेक जाति के लोगों को दबाकर अपने आधीन रखना पड़ता था और यह काम सम्राट अपनी सैनिक शक्ति के बल पर कर सकता था। इस दृष्टि से असीरियन राज्य एक सैनिक साम्राज्य ही था। असीरियन राज्य के विरुद्ध विद्रोह चलते ही रहते थे। इसी प्रकार ६०६ ई०पू० में असीरियन लोगों के साम्राज्य का दक्षिण की ओर से बढ़कर आती हुई सेमेटिक लोगों की केल्डिया (खाल्दी नामक एक जाति द्वारा अन्त किया गया—निनेवीह नगर पर कब्जा कर लिया गया और मेसोपोटेमिया की भूमि पर केल्डियन साम्राज्य की स्थापना हुई। असीरियन लोगों की इस हार पर उन प्रदेशों की कई छोटी-छोटी जाति के लोगों को जैसे जूड़िया के यहूदी, फिलस्तीन के फिलस्तीन लोग एव सीरिया के सीरीयन लोगों को बहुत ही खुशी हुई, ऐसा एक विवरण यहूदी लोगों की प्राचीन धर्म पुस्तक 'प्राचीन बाइबिल' (Old Testament) में आता है।

केल्डिया (खल्द)

इस साम्राज्य का सबसे महान सम्राट नेबूकाड्रेजार (Nebuchadrazzar) था—जिसने असीरियन साम्राज्यकाल में विध्वस्त पुराने बेबीलोन नगर को फिर से बनवाया और उसे अपनी साम्राज्य की राजधानी चुना। इस सम्राट का शासनकाल ६०४–५६१ ई० पू० था। पड़ौस की सब छोटी-छोटी जातियों को जीतकर इस सम्राट ने अपने आधीन किया। जूड़िया के यहूदी लोगों को वहां से हटाकर वह अपनी राजधानी बेबीलोन में ले गया और वहीं

उनको बसाया। सम्राट ने वेबीलोन नगर को बहुत सुन्दर एवं समृद्ध किया। नगर में एक बहुत विशाल और सुन्दर महल बनवाया—इतना सुन्दर कि जितना मेसोपोटेमिया में किसी सम्राट के राज्यकाल में नहीं बना था। अपनी स्त्री को प्रसन्न करने के लिए उसने प्रसिद्ध झूलते बाग (Hanging Gardens) भी बनवाये।

झूलते बाग

प्राचीन वेबीलोन के लोग अनेक देवी-देवताओं को पूजते थे। देवताओं के सुन्दर-सुन्दर विशाल मन्दिर बनवाया करते थे—जिनमें बड़े-बड़े पुजारी पुरोहित लोग रहते थे। बहुधा शासक या सम्राट ही प्रधान पुरोहित भी होता था। वेबीलोन के सम्राट नेबूकाड्रेजार ने एक बहुत विशाल, शिखरसम दिखने वाला (Towerlike) मन्दिर बनवाया। यह मन्दिर बहुत ऊंचा था और इसके अनेक खंड थे। प्रत्येक खंड के बारजों (Balconies) में सुन्दर-सुन्दर पुष्पित पौधे, वृक्ष एवं उद्यान लगाये गये थे—मानों मुख्य भवन के भिन्न-भिन्न खडों के बाहर की ओर झरोखों में ये घने पुष्पित पौधे और उद्यान ऐसे लग रहे हों जैसे आकाश में लटक रहे हैं। आश्चर्यजनक इंजीनियरिंग ढंग से इस प्रकार एक नहर बनाई गई थी जो कि मन्दिर के चारों ओर शिखर से ऐड़ी तक बहती रहती थी, झरोखों पर लगे उद्यानों को सींचती रहती थी और मन्दिर के समस्त भवन को ठण्डा और खुशनुमा बनाये रखती थी। ये झूलते बाग प्राचीन काल की दुनिया की सात आश्चर्यजनक चीजों में से एक हैं। इनकी प्रसिद्धि उस काल के सभी प्रदेशों में फैली हुई थी। पिछले कुछ वर्षों में जब ऐतिहासिक खुदाइयां ईराक में हो रही थीं—तब इन झूलते उद्यानों के अवशेष मिले थे।

केल्डियन साम्राज्य काल में कला-कौशल एवं व्यापार की बहुत उन्नति हुई। वेबीलोन उस प्राचीनकालीन दुनिया का एक बहुत ही धनिक और समृद्धिवान नगर माना जाता था। केल्डियन लोगों ने विशेषतया नक्षत्र विद्या में उन्नति की। इन लोगों को १२ राशियों का ज्ञान था—एवं जूपीटर, मार्स, वीनस, मर्करी एवं शनि आदि ५ ग्रहों का भी इनको ज्ञान था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन सुमेरियन लोगों के काल (लगभग ६ हजार वर्ष ईसा पूर्व) से प्रारम्भ होकर यूफ्रिटीज और टाईग्रीस (दजला, फरात) नदियों की मेसोपोटेमिया उपत्यका में एक प्राचीन समृद्धिवान सभ्यता का उदय और विकास हुआ। कुछ इतिहासज्ञों की राय में यही सभ्यता संसार की सर्वप्रथम सभ्यता थी और मिस्र, ईरान, सिंध आदि देश के लोगों ने सभ्यता का पाठ यहीं से पढ़ा। केल्डियन राज्य के अन्तिम वर्षों में ईरान के आर्य लोगों के यहां अनेक हमले हुए और ५३८ ई० पू० में मीडिया और ईरान के आर्य लोगों ने इस साम्राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। इन आर्य लोगों के बाद आधुनिक काल तक मेसोपोटेमिया में पहले ग्रीक, फिर रोमन, फिर अरब और तुर्क लोगों के साम्राज्य क्रमशः स्थापित हुये। प्राचीन नगरों का विध्वस हुआ—नये नगर स्थापित हुए। आज के प्रसिद्ध नगर हैं बगदाद,

बसरा आदि—इस प्रदेश का नाम है ईराक और वहां के रहने वाले हैं अधिकतर अरब जाति के मुसलमान। आज (१६५०) ईराक में अरब जाति के सुल्तान का राज्य है।

प्राचीन मेसोपोटेमिया सभ्यता की विशेषतायें

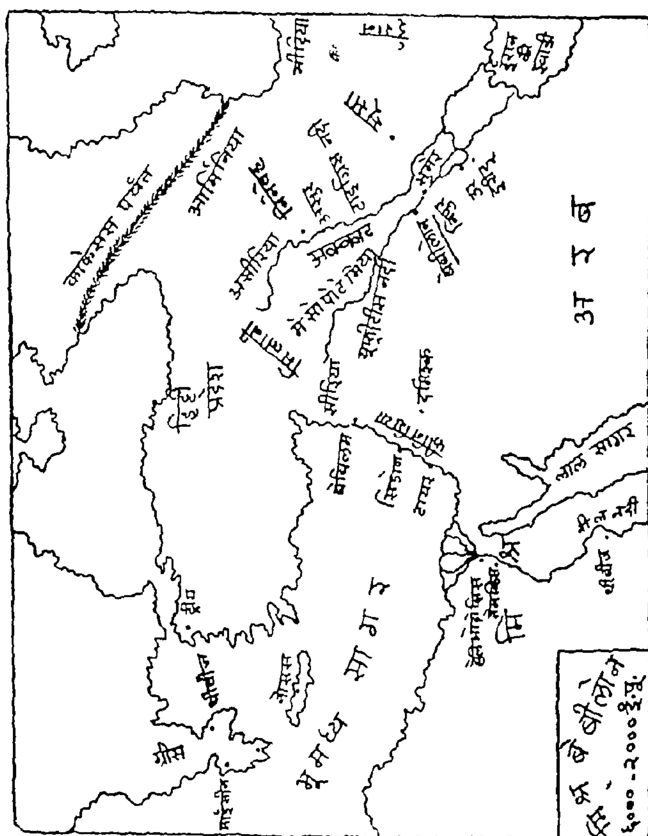
मेसोपोटेमिया (सुमेर, बेबीलोन, असीरिया, केल्डिया) सभ्यता के प्रारम्भिक काल में कुछ छोटे-छोटे नगर राज्य थे। इन नगर राज्यों के शासक पुरोहित होते थे, जो मन्दिर के पुजारी होते थे। इन प्राचीन सभ्यताओं का आरम्भ ही मानों मन्दिरों के साथ-साथ हुआ। मन्दिरों में अद्‌भुत शकल-सूरत वाले देवताओं की मूर्तियां होती थीं। ये मूर्तियां या तो स्वयं देवता मानी जाती थीं या लोगवाग इन मूर्तियों को देवताओं के प्रतीक समझते थे। कृषि से सभ्यता का आरम्भ हुआ था एवं कृषि की उपज से सम्बन्ध रखने वाले इनके देवता थे—सूर्य देवता, प्रकृतिदेवी, वृषभदेव। इन देवताओं के नाम इनकी अपनी भाषा में एक दूसरे ही थे। लोगों का समस्त धार्मिक जीवन इन देवताओं, पुरोहितों और मन्दिरों में ही सीमित था। देवताओं की कृपा दृष्टि से ही अच्छी फसल पैदा होती थी, बीमारियां दूर होती थीं और युद्ध में शत्रुओं की हार होती थी एवं उनकी कोप दृष्टि से ही समस्त विपरीत बातें होती थीं। इसीलिये पुरोहित और पुजारी लोग ही शासक होते थे। मन्दिर ही उस काल के लिये ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा और कला के केन्द्र थे, जहां पुजारी लोग सर्वसाधारण को बतलाते थे कि अमुक समय में बीज बोने चाहिए—अमुक समय में धान काटना चाहिए, इत्यादि। मन्दिरों में ही जादू-टोना और दवाइयों से बीमारियां ठीक हो जाती थीं। मन्दिरों में ही उस काल में पढ़ाई-लिखाई का काम होता था। उस काल में बड़े-बड़े विशाल और सुन्दर मन्दिर बने हुये थे। प्रत्येक नगर का अपना मुख्य देवता और उसका मुख्य मन्दिर होता था, प्रत्येक व्यक्ति भी किसी इष्ट देव या इष्ट देवी में मान्यता रखता था। उस काल में बेबीलोन का मुख्य देवता "बाल मार्दूक" था, इस देवता का नगर में एक विशाल मन्दिर था। 'इष्टर' प्रमुख देवी थी, जो सौन्दर्य, प्रेम और सृष्टि की मातृदेवी मानी जाती थी। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों समाज बढ़ने लगा, भिन्न-भिन्न नगर राज्य सम्पर्क में आने लगे और परस्पर व्यापार बढ़ने लगा, त्यों-त्यों भिन्न-भिन्न नगर राज्यों एवं जातियों में झगड़े एवं युद्ध होने लगे। ऐसी परिस्थितियों में एक केन्द्रीय शक्ति की आवश्यकता होने लगी जो युद्धों का संचालन कर सके और शासन कार्य भी चला सके। इस प्रकार धीरे-धीरे पुरोहित पुजारी वर्ग से पृथक ही शासक वर्ग का उत्थान हुआ। शासक वर्ग में से सम्राट पैदा हुए, उनके नीचे प्रभावशाली कर्मचारियों का एक वर्ग उत्पन्न हुआ। धीरे-धीरे मन्दिरों की अपेक्षा राजाओं के दरबार (कोर्ट) अधिक महत्वशाली हो गये और उनके बनाये हुए नियमों और आज्ञाओं से समाज का परिचालन होने लगा। यद्यपि शासक, राजा और सम्राट, पुरोहितों से अब तक पृथक वर्ग के लोग हो चुके थे तथापि समाज के साधारण लोगों के मानस पर पुरोहितों का साम्राज्य बना हुआ था। ऐसी अनेक परिस्थितियां आती थीं जब सम्राटों को पुरोहितों को

अपना पोषक और सहायक मानकर चलना पड़ता था। यहां तक कि असीरियन जाति का राज्य जब बेबीलोन पर हुआ तब उस विदेशी जाति को बेबीलोन के देवता 'बाल मार्दूक' को मान्यता देनी पड़ी, उसकी पूजा करनी पड़ी और तभी प्रजा का सहयोग उसे प्राप्त हो सका।

मेसोपोटेमिया की सभ्यता और संगठित राज्य की स्थिति प्रायः ६००० ई० पू० से प्रारम्भ होकर ५०० ई० पू० तक, इस प्रकार लगभग ५–६ हजार वर्षों तक बनी रही। इसमें साम्राज्यकाल तो पिछले ढाई–तीन हजार वर्षों का रहा। हमने देखा है कि इस लम्बे अरसे में मेसोपोटेमिया में सुमेर, अक्काद, असीरिया और केल्डिया इत्यादि प्रदेशों की जातियों के शासक और सम्राट एक के बाद दूसरे आये। इन लोगों ने अनेक बड़े–बड़े महल, मन्दिर, उद्यान, सड़कें इत्यादि बनवायीं, व्यापार बढ़ाया, कला-कौशल, नक्षत्र-विद्या, साहित्य की उन्नति की। एक के बाद दूसरे शासक आये, इस प्रकार कई हजार वर्षों तक समाज-शासन चलता रहा। जन साधारण के जीवन का प्रवाह प्रायः एक सा बना रहता था—खेती करना, गरीबी में रहना और शासक को अपना लगान चुका देना—पुरोहित से अपनी भलाई बुराई पूछ लेना और मन्दिर में उत्सव के समय सेवा भेंट में अन्न चढ़ा देना। जो कारीगर, शिल्पी लोग थे वे सम्राटों, पुरोहितों और अन्य धनिकों के लिए मकान, महल और मन्दिर बनाने में लगे रहते थे—उनको सजाने के लिए लकड़ी, धातु, हाथी दांत, मिट्टी इत्यादि की कलापूर्ण वस्तुयें बनाते रहते थे। जुलाहे, रंगरेज, खाती सुनार, कुम्हार, लोहार, मूर्तिकार आदि अनेक प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख बेबीलोन के साहित्य में मिलता है। व्यापारी लोगों का बाजारों में व्यापार चलता रहता था। बेबीलोन और निनेवेह के प्रसिद्ध व्यापारिक नगरों में मिस्र, अरब, भारत, चीन की चीजों का परस्पर लेन–देन होता रहता था।

गेहूं, जौ, मक्का की खेती होती थी। अनाज हाथ से पीसा जाया करता था और ईंट के चूल्हों पर रोटियां पकाई जाती थीं। खजूर एवं अन्य फल भी पैदा होते थे। भेड़, बकरी एवं चौपायों का पालन होता था। ऊन के सुन्दर वस्त्र बनते थे। रुई के कपड़े भारत से एवं रेशम के कपड़े चीन से आते थे। इन लोगों की सबसे अधिक समृद्ध एवं सुन्दर कला मिट्टी के बर्तनों की थी, जिन पर सुन्दर पॉलिश होती थी और उस पर चित्रकारी। मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला का इतना विकास नहीं हो पाया था जितना मिस्र में हुआ, क्योंकि इस प्रदेश में पत्थर सरलता से उपलब्ध नहीं होता था। खेती, ऊन, खजूर और मिट्टी के बर्तन ये ही वस्तुयें यहां समृद्धि की आधार थीं।

स्त्रियों का समाज में उच्च स्थान था, उन्हें धन और सम्पत्ति पर भी निजी अधिकार प्राप्त था। पहले तलाक का अधिकार भी उन्हें प्राप्त था—किन्तु सभ्यता की पिछली शताब्दियों में यह अधिकार उन्हें नहीं रहा।


मिश्र बेबीलोन
६००० - २००० ई.पू.
कॉकेसस पर्वत
आर्मिनिया
हिट्टी
प्रदेश
असीरिया
निनेवह
मीडिया
मेसोपोटेमिया
टाइग्रिस नदी
यूफ्रेटीस नदी
सूसा
सीरिया
बेबीलोन
सुमेर
फीनीशिया
दमिश्क
सिडोन
टायर
मध्य सागर
ट्रॉय
ग्रीस
अरब
लाल सागर
ईरान की खाड़ी
मि श्र
थीबीज

मेसोपोटेमिया की इस दीर्घकालीन सभ्यता और साम्राज्य की तुलना कीजिए आधुनिक ऐतिहासिक काल से। कहां उनका ५-६ हजारों वर्षों का लम्बा जीवन, कहां आधुनिक ऐतिहासिक काल का कुछ ही सौ वर्षों का जीवन। ऐसा प्रतीत होता है उस समय जीवन और समाज और इतिहास मानों बहुत धीरे-धीरे सरकता था। आज के पिछले १५० वर्षों में तो समाज और इतिहास की चाल बहुत ही तीव्रगामी रही है।

४

प्राचीन मिस्र की सभ्यता

[THE ANCIENT EGYPTIAN CIVILIZATION]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

जब सुमेर में सुमेरियन सभ्यता का विकास हो रहा था, प्रायः उसी समय नील नदी की घाटी मिस्र में मिश्र की प्राचीन सभ्यता का विकास हो रहा था। जैसा पहिले उल्लेख कर आये हैं यह निश्चितपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सुमेर और मिश्र की सभ्यता में कौनसी सभ्यता अपेक्षाकृत पुरानी है और न यही कहा जा सकता कि इन दोनों का उद्गम एक ही था या भिन्न-भिन्न। कौन ये लोग थे जिन्होंने इस प्राचीन मिश्र की सभ्यता का विकास किया? इन प्राचीन मिस्र के लोगों का सम्बन्ध किसी भी आधुनिक प्रजाति साथ तो नहीं जोड़ा जा सकता। मिस्र में प्राचीन पाषाण काल के चिन्ह मिलते ईं, तदुपरान्त नव-पाषाण कालीन खेती पशुपालन इत्यादि के अवशेष भी। किन्तु फिर एक व्यवधान सा पड़ जाता है और ५७०० ई० पू० में फिर जब मिश्र क इतिहास पर से परदा उठता है तो हमें वहां पाषाण युगीय लोगों से सर्वथा भिन्न प्रकार के लोग दृष्टिगोचर होते हैं, जो काफी सभ्य हैं और शनैः शनैः अपनी सभ्यता का विकास करते जाते हैं। कहां से मिस्र में नये लोगों का आगमन हुआ, या मिस्र में ही इनका उदय हुआ यह निश्चित नहीं। इस सम्बन्ध में लन्दन विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध मानव विकास शास्त्र वेत्ता श्री पेरी महाशय का यह मत है कि इस पृथ्वी पर मिस्र में ही सर्वप्रथम सभ्यता का विकास हुआ और यहीं से दुनिया के अन्य लोगों ने सभ्यता सीखी। अपनी पुस्तक "सभ्यता का विकास"[1] में बहुत ही पांडित्यपूर्ण ढंग से वे इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि प्राचीन पाषाण काल के मानव की स्थिति से नव-पाषाण काल के मानव की स्थिति तक क्रमवार विकास केवल मिस्र में ही हुआ। मिस्र में ही ऐसी भौगोलिक एवं प्राकृतिक सुविधायें थीं कि वहां के

1. W. J. Perry : The Growth of Civilization, 1928.

लोगों ने सर्वप्रथम खेती का आविष्कार कर लिया और वहीं से फिर खेती की कला पहिले समीपस्थ देशों में यथा मेसोपोटेमिया, फारस में फैली और फिर भारत, चीन एवं यूरोप के पच्छिमी भागों में। इस खेतिहर स्थिति से ही विकासमान होकर मिस्र के लोगों ने सुसंगठित समाज की सर्वप्रथम स्थापना की एवं स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, लेखनकला, ज्योतिष इत्यादि का सुविकसित रूप प्राप्त किया। कुछ पौर्वात्य विद्वानों का मत है कि वे लोग, जिन्होंने मिस्र सभ्यता का विकास किया, उसी नस्ल के थे जिसके सुमेरियन लोग थे। सुमेरियन लोगों को ये विद्वान प्राचीन द्रविड़ एवं आर्य जाति के सम्मिश्रण से बना मानते हैं। सिन्ध से या भारत के पच्छिमी किनारे से जहाजों में ये लोग अफ्रीका पहुंचे होंगे।

प्राचीन मिस्र के इन लोगों की सभ्यता और वे लोग स्वयं कई हजार वर्षों तक इतिहास में पनपकर, अपना नाटक खेलकर, अन्त में लुप्त हो गये। आज तो उस प्राचीन सभ्यता के केवल अवशेष मिलते हैं जिनसे अवश्य यह ज्ञात होता है कि यह सभ्यता थी बहुत विकसित। ये ही वे लोग थे जिन्होंने संसार प्रसिद्ध 'पिरेमिड' (समाधियां, स्तूप) बनाये थे जो आज भी हम लोगों के लिए एक अद्भुत आश्चर्य की वस्तु बने हुये हैं।

जानकारी के साधन

मिस्र और सुमेर का परस्पर सम्पर्क था। मिस्र के लोगों के रहन-सहन का ढंग, इनके देवता और पूजा का ढंग एवं इनकी लेखन विधि और भाषा सुमेर से प्रायः भिन्न थी, यद्यपि सभ्यता और संस्कृति के आधार तत्व साधारणतया एक से थे। ये लोग भी लिखते तो थे एक प्रकार की चित्रलिपि किन्तु सुमेरियन चित्रलिपि से भिन्न एवं सुमेरियनों की तरह मिट्टी की टाइल पर नहीं किन्तु पेपीरस रीड पर। पेपीरस एक छालदार वृक्ष होता था जो नील नदी की घाटी में बहुतायत से उत्पन्न होता था। वह वृक्ष आजकल मिस्र के केवल उत्तरी भाग में कहीं-कहीं पैदा होता है। इन्हीं पेपीरस रीड पर लिखे हुए लेखों से मिस्र के लोगों के इतिहास, धर्म, रहन-सहन इत्यादि का पता लगता है।

राजनैतिक पृष्ठभूमि

मिस्र के राजा सुमेरियन राजाओं की तरह "पुरोहित-राजा" नहीं होते थे किन्तु राजा स्वयं देवता की ही प्रतिमूर्ति या देवताओं के ही वंशज माने जाते थे। ये शासक "फेरो" (Pharaoh) कहलाते थे। मिस्र के इतिहास का कालक्रम वहां के फेरो की वंश परम्पराओं की संख्या से निर्देशित किया जाता है—जैसे प्रथम वंश, द्वितीय वंश इत्यादि। जिस काल में मिस्र के राजाओं का प्रथम राजवंश प्रारम्भ होता है, ऐसा अनुमान किया जाता है कि उस काल से भी पूर्व कुछ शासक लोग वहां शासन कर चुके थे। ऐसा मान सकते हैं कि प्रायः ५००० ई० पू० से सामाजिक जीवन संगठित होने लगा—और इस प्रकार धीरे-धीरे ३४०० ई० पू० में प्रथम राजवंश की

वहां स्थापना हुई। फेरों के शासनकाल को तीन भागों में बांटा जा सकता है—

१. प्राचीन राज्य काल (३४०० से २७०० ई० पू० तक)—इसे पिरेमिडों का युग भी कहा जा सकता है।
२. मध्य राज काल (२७०० से १८०० ई० पू० तक)—इसे सामन्तवादी युग भी कहा जाता है।
३. साम्राज्य काल (१६०० से १००० ई० पू० तक)

प्राचीन राज्य काल

३४०० ई० पू० में दक्षिणी मिस्र के सम्राट मीने (Menes) ने उत्तरी मिस्र के राज्य को जीतकर एक वृहत् संयुक्त राज्य की एवं प्रथम ऐतिहासिक राजवश की स्थापना की, एक नया नगर मैंमफिस अपनी राजधानी बनाया। इस काल में दस वंशों ने राज्य किया। राजा जोसेर (३१५० ई० पू०) के राज्यकाल में शायद सर्वप्रथम सुज्ञात ऐतिहासिक पुरुष हुआ जिसका नाम इमहोतेप था। इमहोतेप महान औषध एवं चिकित्साशास्त्री, वास्तुकार एवं अनेक कलाओं और विज्ञानों का संस्थापक था। उसी ने वास्तु (भवन निर्माण) कला की परम्परा स्थापित की जिसके आधार पर ही मिस्र के अद्भुत पिरेमिडों का निर्माण हुआ, एवं अनेक विशाल प्रस्तर मूर्तियों का भी। चतुर्थ राजवंश के सबसे पहले सम्राट खुफु (ग्रीक नाम चिपोस) ने गिजेह नगर में सबसे पहला महान् पिरेमिड बनाया। उसी के उत्तराधिकारी सम्राट खफरे ने दूसरा विशाल पिरेमिड बनवाया। इसी काल में मिस्र का प्रसिद्ध स्फिन्क्स् बना। छठे राजवंश के आते आते फेराओं (सम्राटों) का राज्य ढीला पड़ गया, स्थानीय जमीदार और सामन्त स्वतन्त्र होने लगे और मिस्र कई छोटे छोटे राज्यों का समूह बन गया।

मध्य राजकाल (सामन्ती युग)

लगभग तीन सौ वर्ष तक मिस्र का इतिहास अशांत और अन्धकारपूर्ण रहा। पिरेमिड युग के बाद कई दुर्बल राजा सिंहासन पर आये। सम्राट का अधिकार केवल नाममात्र का रह गया। पुरोहित वर्ग ने अपनी शक्ति काफी बढ़ा ली तथा सामन्तशाही व्यवस्था देश में प्रचलित हो गई। ये छोटे-छोटे राज्य आपस में लड़ा करते थे। इसी समय उत्तर से हिकासों तथा दक्षिण से नुबियनों के आक्रमण हुए जिन्होंने कुछ समय तक मिस्र पर अपना अधिकार भी कर लिया। किन्तु इस राजनैतिक अशांति ने मिस्र के सांस्कृतिक विकास में विशेष बाधा न डाली। इस काल का सबसे प्रतापी राजा आमेन होतप तृतीय हुआ जिसने अनेक किले तथा बांध बनवाये। फैय्यूम में उसने प्रसिद्ध भूल-भुलैया तथा स्फीन्कस बनवाया। उसकी मृत्यु के बाद राज्य छिन्न भिन्न हो गया तथा हिकासों का मिस्र पर अधिकार हो गया।

नया साम्राज्य काल

ई० पू० १६०० के लगभग मिस्र के नगर थीब्ज के निवासियों ने

आहमीज नामक फरोआ के नेतृत्व में हिकासों आदि विदेशियों को मिस्र के बाहर निकाल दिया। इसने दक्षिण के विद्रोहियों और नुवियनों का दमन करके मिस्र को एकता के सूत्र में बांध दिया। इसके समय में सामन्तों का अन्त हो गया और सारी भूमि राज शासन में आ गई। इसने एक शक्तिशाली जहाजी बेड़े का निर्माण कर सीरिया फिलिस्तीन, साइप्रेस आदि पर चढ़ाई की। इस काल में मिस्र में घोड़े, रथों और नये शस्त्रों से सुसज्जित एक नग ढंग की स्थायी सेना का निर्माण भी हुआ। आन्तरिक सुव्यवस्था, आर्थिक समृद्धि तथा कला और विद्या की अभूतपूर्व उन्नति होने के कारण आहमीज का शासन काल मिस्र के इतिहास में स्वर्ण युग के नाम से विख्यात है। इसके उत्तराधिकारियों में थुतमस प्रथम (१५४५ ई० पू० से १५१४) एक महान् विजेता हुआ जिसने मिस्र के साम्राज्य को नील के चौथे प्रपात तक पहुंचा दिया। उसकी मृत्यु के बाद उसकी पुत्री 'हेतशेप्सुत' रानी बनी। वह बड़ी पराक्रमी और तेजस्वी थी। यह संसार की प्रथम महान् स्त्री-शासक कही जा सकती है। इसके राजकाल में चित्रकारी और वास्तुकला ने विशेष उन्नति की। उसने अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण किया। हेतशेप्सुत की मृत्यु के बाद १४७९ ई० पू० में उसका पति थुतमस तृतीय मिस्र के सिंहासन पर बैठा। यह बड़ा पराक्रमी और विजेता था जिसने सूडान, फिलीस्तीन, सीरिया तथा पश्चिमी एशिया के अन्य देशों पर अपना अधिकार कर लिया। अपनी इन्हीं विजयों के कारण वह मिस्र का 'नैपोलियन' कहलाता है। कारनाक के प्रसिद्ध मन्दिर की दीवारों पर इसी सम्राट के वीर कृत्यों को चित्रों में अंकित किया गया है। इसका तीसरा उत्तराधिकारी आमेनहोतप चतुर्थ (१३७५ ई० पू० से १३५८ ई० पू०) शान्ति और धर्म का प्रेमी था। उसके विचार क्रान्तिकारी थे। मन्दिर की अगणित देवदासियों को वह निन्दनीय समझता था। उसने मिस्र में एकेश्वरवाद के सिद्धांतों का प्रचार किया। वह आतोन का उपासक था। उसने इखनातोन नामक नवीन नगर बसाया किन्तु इखनातोन ने मन्दिरों और पुजारियों को कोई महत्व नहीं दिया। इसकी मृत्यु के बाद योग्य उत्तराधिकारियों के अभाव में मिस्र की शक्ति का ह्रास होने लगा। इस प्रकार मिस्र के लगभग चार हजार वर्ष या इससे भी अधिक समय तक 'राज्य वंश' स्थापना के पूर्व के राजा एवं भिन्न-भिन्न 'राज्य वंशों' के राजा शासन करते रहे। इन चार हजार वर्षों में उत्तर में मेसोपोटेमिया के बेबीलोन एवं असीरियन राजाओं से मिस्र के फेरो के युद्ध हुए, अनेक इनकी सन्धियां हुईं। कभी मिस्र के फेरो का साम्राज्य विस्तार हुआ, कभी बेबीलोन साम्राज्य का विस्तार। एक बार मिस्र पर अरब के अर्द्ध-सभ्य बद्दुओं के घोर आक्रमण भी हुए, यहां तक कि उन्होंने १८०० ई० पू० के आसपास समस्त मिस्र पर अधिकार जमा लिया और कई शताब्दियों तक वे वहां राज्य करते रहे। इन्होंने जिस राज्य कुल की स्थापना की वह 'हिक्सो (Hyksos) कुल' कहलाया। कई शताब्दियों तक मिस्री लोग इनके अधीन रह कर अन्त में उठे, हिक्सो राजाओं को मिस्र से निकाल बाहर किया और फिर प्राचीन मिस्री फेरो शासक बने। इन अरबों के अतिरिक्त मिस्री लोगों और शासकों का सम्बन्ध यहूदी आदि जातियों से भी रहा। कहते हैं कि लगभग २००० ई० पू० में बेबीलोन साम्राज्य के एक प्रसिद्ध नगर 'उर' के वासी संत अबराहम (जो यहूदियों की

बाइबल के ही अब्राहम हैं) अपने स्वतन्त्र विचारों के कारण एवं तत्कालीन अनेक देवी-देवताओं एवं मन्दिरों में विश्वास के विरुद्ध केवल एक ईश्वर में आस्था रखने के कारण अपने नगर से निकाल दिये गये और उन्होंने मिस्र में जाकर शरण ली। वे वहां कुछ वर्ष रहे, एक मिस्री स्त्री से शादी की और अन्त में अरब लौट कर आगये, जहां उनके इस्माइल नामक सन्तान पैदा हुई। ऐसी मान्यता है कि यहूदी जाति इन्हीं अबराहम की नस्ल से है। ये ही यहूदी अरब से फैलकर उत्तर में जूड़िया और इजराइल प्रदेशों में जाकर बस गये थे और वहां अपना राज्य कायम कर लिया था। इन्हीं यहूदी लोगों से, भिन्न जाति के सीरीयन लोगों से एवं फारस के आर्य लोगों से मिस्री फेरों के अनेक युद्ध हुए। चार हजार वर्षों तक एक विकसित समाज और सभ्यता का इतिहास चलता रहा। अनेक विशाल नगर, मन्दिर, भवन, महल, अद्भुत स्तूप बने; कला कौशल, पठन-पाठन साहित्य, चिकित्सा गणित की प्रतिष्ठा हुई; शासकों ने अनेक शासन नियम बनाये, अनेक सन्धियां की जिनके रेकार्ड इनके लेखों में मिलते हैं। लगभग १००० ई० पू० में मिस्री साम्राज्य और सभ्यता का ह्रास होने लगा, अन्त में अलक्षेन्द्र महान् के नेतृत्व में ग्रीक लोग यहां ३३२ ई० पू० में आये, उन्होंने मिस्र के ३१ वें राज्यवंश का, जो उस समय वहां शासन कर रहा था, अन्त किया और ग्रीक राज्य स्थापित किया। सैकड़ों वर्षों तक ग्रीक टोलमी राजाओं का राज्य रहा, फिर रोमन लोग आये और फिर ७ वीं शती में अरब लोग। इस उथल पुथल में प्राचीन मिस्र जाति और मिस्र सभ्यता लुप्त हो गई। आज (१९५८ ई०) मिस्र एक गणराज्य है। निर्वाचित राष्ट्रपति एक राष्ट्र सभा द्वारा शासन करता है। अरबी वहां की भाषा है और इस्लाम वहां के लोगों का धर्म।

मिस्री लोगों द्वारा आविष्कृत चीजें

प्राचीन मिस्र में जो कुछ था और आधुनिक मिस्र में जो कुछ है वह सब वहां की नील नदी की बदौलत। नील नदी मिस्र का जीवन है। नील नदी में प्रतिवर्ष बाढ़ें आया करती हैं। प्राचीन मिस्र के लोगों ने नील नदी में प्रतिवर्ष आने वाली बाढ़ों का धीरे-धीरे निरीक्षण करके, नहरों एवं बांधों द्वारा खेतों की सिंचाई का आविष्कार किया। वे लोग लकड़ी का काम, पत्थर की घड़ाई का काम एवं स्थापत्य कला को अच्छी तरह से समझते थे। वे लोग सूत कातना एवं कपड़ा बुनना भी जानते थे। सोना, तांबा, कांसा आदि धातुओं के उपयोग से परिचित थे। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इन्हीं लोगों ने कुर्सियों, गद्देदार कुर्सियों, कई प्रकार के वाद्ययन्त्रों एवं सुन्दर आभूषणों को रखने के लिए सुन्दर सन्दूकों, एवं कई प्रकार के प्रकाशदानों का आविष्कार किया। एक अधिक महत्वपूर्ण आविष्कार था लिखने की स्याही का। सौन्दर्य वृद्धि के प्रसाधन भी इन लोगों ने बना लिये थे, जैसे चेहरे की क्रीम, ओठ और नाखून रंगने को एक प्रकार का पेंट, बाल और शरीर में मलने के लिये तेल—इन सबका प्रयोग वहां के युवा पुरुष और स्त्रियां किया करती थी। स्यात उस्तरे से हजामत करने का आविष्कार भी इन्हीं लोगों ने किया था। औषधि और शल्य (सर्जरी) शास्त्र की भी स्वतन्त्र रूप से स्थापना और

उनका विकास इन्होंने किया था, यद्यपि बहुजन समुदाय का विश्वास औषधि की गोलियां की अपेक्षा तावीज और गंडों में अधिक था। समुद्रों के ऊपर चलने वाली बड़ी-बड़ी जहाजों का आविष्कर्त्ता भी इन्हीं प्राचीन मिस्र के लोगों को माना जाता है। इन चीजों के जो अवशेष मिलते हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि मिस्र के लोग हाथ के काम में बहुत ही दक्ष थे। जिस किसी चीज को भी बनाते थे उसे बहुत ही सुन्दर और पूर्ण।

चार महान् उपलब्धियों का श्रेय तो प्राचीन मिस्रियों को ही जाता है। (१) भाषा की वर्णमाला, (२) सौर गणना के अनुसार सर्वप्रथम कैलेंडर बनाना, (३) राजाओं की समाधियों पर विशाल–विशाल विचक्षण मस्तब या स्तूपों का निर्माण करना, (४) मृत शरीरों की ममी बनाकर उनको हजारों वर्षों तक कायम रखना।

वर्णमाला और लेखन विधि

कुछ विद्वानों की राय में लेखन कला का आविष्कार संसार में सर्व प्रथम मिस्र में ही हुआ। प्रारम्भ में मिस्रवासी चित्रलिपि का प्रयोग करते थे। कुछ काल बाद यह चित्रलिपि विचार लिपि में बदल गई। चित्र अब पदार्थ प्रगट न कर 'विचार' प्रगट करने लगे। इस प्रकार शनैः शनैः शब्द खंड, संकेत लिपि और अन्त में वर्णमाला का विकास हुआ। ई० पू० २००० के लगभग उन्होंने अपनी भाषा के २४ व्यंजन स्थापित कर लिये थे। किन्तु मिस्रवासियों ने स्वयं शुद्ध वर्णमाला का प्रयोग कभी नहीं किया, वे तो अपने लेखों में चित्र संकेत और वर्ण के मिश्रण से बनी हुई लिपि का ही प्रयोग करते रहे। लिखने में वे पेपिरस रीड़ से बना एक प्रकार का कागज, कलम और स्याही प्रयोग में लाते थे।

कैलेंडर

पुरातत्ववेत्ताओं ने पता लगाया है कि ४२४१ ई० पू० में मिस्रवासियों ने सौर गणना के अनुसार सर्व प्रथम कैलेंडर बना लिया था। ३६५ दिन का एक वर्ष माना गया, इसको उन्होंने १२ महीनों में विभक्त किया, ३० दिन का एक महीना माना गया और शेष ५ दिन वर्ष के अन्त में छुट्टी के माने गये। आकाश मण्डल के तारों को इन लोगों ने विभिन्न नक्षत्र-पुंजों में विभिक्त किया एवं १२ राशियां स्थापित कीं।

स्तूप (पिरेमिडः प्राचीन काल की सात अद्भुत वस्तुओं में से एक)

मिस्र के लोगों का मृत्यु के विषय में अपना ही एक विश्वास बना हुआ था। वे सोचते थे कि मृत्यु के पश्चात् भी प्राणी को उसकी गहरी नींद से जगाया जा सकता है, और फिर से उसका जीवन चेतनामय बन सकता है। यह मरा हुआ जीव चेतनयुक्त होकर देव–लोगों के द्वीप में आनन्द से अमर जीवन का उपभोग करता है। मृत्यु के विषय में यह विश्वास मेसोपोटेमिया, बेबीलोन, एवं क्रीट द्वीप के माईनोअन लोगों के इस विश्वास से भिन्न था कि मृत्यु के

बाद जीव नीचे अन्धेरी दुनियां में चले जाते थे और वहां एक छायामय जीवन व्यतीत करते थे। मिस्र के लोगों का मृत्यु के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचार होने की वजह से ही वहां पर सुन्दर-सुन्दर कब्र, कब्रों के अन्दर मृत शरीर की ममी रखी जाना, एवं कब्रों के ऊपर बड़े बड़े विशाल स्तूप बनाना जिससे मृत शरीर को कोई छू छा न सके, उन्हें विगाड़ न सके—यह प्रथा चली। इन स्तूपों के अवशेष अब भी मिलते हैं, इनमें से कुछ स्तूप तो सर्वथा अपनी प्रारम्भिक हालत में हजारों वर्षों के बाद आज भी विद्यमान हैं। एक आदि-कालीन धार्मिक विश्वास से प्रेरित होकर मनुष्य ने भी अपने मृत शरीर को कायम रखने का क्या अनुपम ढंग निकाला। ये ममी, कब्र और कब्रों पर स्तूप केवल राजाओं और रानियों के लिए ही बनाते थे। साधारण लोग तो मामूली कब्रों में भी दफना दिये जाते थे। बड़े-बड़े स्तूपों (पिरामिड) की प्रथा तो मिस्र के तीसरे राज्यवश से चली। चौथे राज्यवंश के प्रमुख तीन शासकों ने यथा-चिपोस, चिफ्रेन एवं माईसरनीअस ने, जिनके राज्यकाल में मिस्र ने अभूतपूर्व उन्नति की और देश धन धान्य एवं ऐश्वर्य से परिपूर्ण रहा, अपने अपने लिए एक-एक इस प्रकार तीन बहुत ही महान् स्तूप बनवाये। ई० पू० २७ वीं शताब्दी की ये बातें हैं। उपर्युक्त तीन स्तूपों में से एक "स्तूप महान्" कहलाता है। ये तीन प्रमुख स्तूप, जिनके नीचे प्राचीन मिस्र के शासकों के मृत देह की ममी समाधियों में रक्खी हुई हैं, मिस्र आधुनिक नगर काहिरा से कुछ मील दूर गिजे नामक स्थान पर है। इन स्तूपों तक पहुंचने के लिए पहिले पत्थर की एक विशाल मूर्ति आती है जिसका शरीर 'शेर' का है, एवं "मुंह" मानव का। यह स्फीन्क्स (Sphinx) कहलाती है। यह मूर्ति २४० फीट लम्बी एव ६६ फीट ऊंची है-और दूर से ही पथिक की ओर मानो ऐसे देखती, और कहती हुई प्रतीत होती है कि तुम्हारा पिरेमिड तक जाना उचित नहीं। पिछले लगभग ४७०० वर्षों से यह अद्भुत मूर्ति दिन प्रतिदिन उदय होते हुए सूर्य को देख रही है-कवियों ने कल्पना की है-क्या ऐसा करते-करते यह थक नहीं गई होगी? यह मूर्ति क्या है-किसका यह प्रतीक है, और क्यों एक टक देख रही है-यह भी हजारों वर्षों तक एक रहस्य ही बना रहा। कुछ ही वर्ष पहिले यह बात विदित हुई कि इस स्फिक्स की मूर्ति का मुंह फेरो जिफ्रेन का है-और फेरो जिफ्रेन ने ही इसे बनवाया था। इस विशाल मूर्ति को पार करके ही स्तूपों तक पहुंचना पड़ता है। "स्तूप महान" का आधार चबूतरा ७०० फीट लम्बा, ७०० फीट चौड़ा है-इस आधार चबूतरे के ऊपर दूसरा चबूतरा, अपेक्षाकृत पहिले से छोटा-और इस प्रकार एक के ऊपर दूसरा लघु से लघुतर;—और इस प्रकार बढ़ते बढ़ते इसकी ऊंचाई ४८० फीट तक चली गई है। २५ लाख पत्थरों का जिनमें प्रत्येक पत्थर का वजन ५६ मण हो, यह स्तूप बना है। कल्पना कीजिये इस पर्वतसम विशालकाय स्तूप की। इस स्तूप के अन्दर ही दो बहुत ही सुन्दर 'कमरे' बने हुए हैं-ये एक राजा की कब्र है, और दूसरी उसकी रानी की। वैसे तो ये स्तूप ठोस बने हुए हैं, किन्तु नीचे कब्रों तक पहुंचने के लिए उन स्तूपों में रास्ते कटे हुए हैं-और प्रकाश और वायु के लिए अद्भुत इंजीनियरिंग कुशलता से टनल बनी हुई है-यहां तक कि कब्रों के पास से नील नदी की एक धारा प्रवाहित होती है। कब्रों तक जो रास्ते जाते हैं उनकी दीवारें बहुत ही सुन्दर चिकने पत्थरों की बनी

हैं जिन पर अनेक चित्र चित्रित हैं। इन रास्तों में, मानो छत को आधार देते हुए अनेक सुन्दर सुन्दर स्तम्भ बने हुए हैं। ये रास्ते सीधे सपाट नहीं, किन्तु चक्करदार हैं, मानों वे भूलभुलैया हों। इसी आशय से ऐसा किया गया है कि कोई प्राणी फेरों की कब्रों तक न पहुंच सके और किसी प्रकार की चोरी न कर सके। वे कमरे जो कि कब्रें हैं, और भी अधिक सुन्दर हैं—दीवारें अनेक चित्रों से चित्रित हैं। एक कमरे में एक बहुत ही सुन्दर बने कफन में राजा के शव की ममी रखी हुई हैं, दूसरे कमरे में रानी की। कमरों में अनेक बहुमूल्यवान आभूषण सुन्दर कलापूर्ण बर्तन, हथियार, कपड़े घड़ों में खाद्य-पदार्थ रक्खे हुए हैं जिससे कि राजा या रानी को अपनी मृत्यु के उपरांत स्वर्गिक जीवन में किसी भी चीज की कमी न रहे। कमरे में वाद्ययन्त्रों के बनाने वालों की, संगीतज्ञों की, तथा अन्य सहचारियों की मूर्तियां भी हैं जिसमे स्वर्गिक जीवन में राजा को आनन्द के सब साधन उपलब्ध हों। प्रत्येक पिरामिड के पास ही उस फेरो का मन्दिर है जिस फैरो का वह पिरामिड है। ये मन्दिर "स्तम्भों के आधार पर स्थित छत"—इस शैली के बने हुए हैं। स्थापत्य कला की इस शैली में से ही वह शैली विकसित हुई जिसके अनुसार बाद में ग्रीस के मन्दिर बने।

ममी (Mummies)

मृत शरीर को कई भागों में चीरकर उसके हृदय, मस्तिष्क तथा अन्य कई अवयवों को सूक्ष्म यन्त्रों से निकाल लिया जाता था, एवं उस शरीर के आन्तरिक भागों को कई दवाइयों एव सुगन्धित पदार्थों से साफ किया जाता था एवं धोया जाता था। फिर उसमें स्वर्ण धातु. एवं अनेक सुगन्धित पदार्थ भरकर उसे ठोस बना दिया जाता था और फिर एक स्वच्छ महीन महीन लम्बे कपड़े में उस शरीर को खूब लपेट दिया जाता था। चेहरा पेंट कर दिया जाता था और ऊपर से इस प्रकार चित्रित कर दिया जाता था मानो वह राजा की ही प्रतिमूर्ति हो। इस प्रकार मृत शरीर की ममी बनाकर श्रेष्ठ लकड़ी या धातु के बने हुए कफन (सन्दूक) में वह रख दी जाती थी। कफन पर चारों ओर राजा के जीवन के महत्वपूर्ण कार्य एवं उसकी जीवनी उनकी भाषा में अंकित कर दी जाती थी।

हजारों वर्षों के पुराने राजाओं की उन प्रतिमूर्तियों को, एवं उस काल के इतिहास को सुरक्षित रखे हुए मिस्र के ये विशाल पिरामिड वास्तव में अद्भुत हैं। प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि विलियम मोरिस की कविता "दी राईटिंग ओन दी इमेज" में पिरामिडों के अन्तर भाग में रक्खी हुई मूर्तियों, चित्रों एवं धन वैभव का ही कल्पना-चित्र मालूम होता है।

धर्म, मन्दिर और देवता

प्राचीन मिस्र के लोगों की आरम्भ में कई स्वतन्त्र जातियां थीं। प्रत्येक जाति का अपना-अपना एक भिन्न देवता होता था। लोगों की ऐसी कल्पना थी कि इन देवताओं का धड़-मानव शरीर जैसा होता था, किन्तु ऊपरी भाग अथवा सिर-मुंह किसी जानवर का सा होता था—जैसे किसी देवता

का मुंह बन्दर का होता था, किसी का हिप्पोपोटेमस का, किसी का बाज का, किसी का बिल्ली एवं किसी का गीदड़ का। इन देवताओं की खुशी और नाराजगी पर ही लोगों का सुख दुःख निर्भर करता था–अतएव उनको खुश करने के लिए उनकी पूजा होती थी और उनको भेंट चढ़ाई जाती थी। उस जमाने के लोगों का कुछ ऐसा ही विश्वास बना हुआ था। इन देवताओं के सब मानवीय सम्बन्धों की भी कल्पना की जाती थी; देवताओं की स्त्रियां होती थीं, बच्चे होते थे–इत्यादि। इन जातियों में परस्पर युद्ध होता रहता था और विजित जाति को विजेता जाति के देवता को मान्यता देनी पड़ती थी। भिन्न–भिन्न जातियों में लड़ाई होते-होते, ऐसा अनुमान है कि ४३०० ई० पू० तक मिस्र में केवल दो जातियां रह गई थीं, शेष सब इन्हीं दो जातियों में घुल–मिल गई थीं, और समस्त मिस्र प्रदेश केवल दो राज्यों में विभक्त था–उत्तरी मिस्र एवं दक्षिण मिस्र। उत्तरी मिस्र में उस जाति का राज्य था जिसका देवता सर्प था; दक्षिण मिस्र में शासन करने वाली जाति का देवता होरस था। अन्त में उत्तर एवं दक्षिण मिस्र के दोनों राज्य भी मिलकर एक संयुक्त राज्य बन गये। इस प्रकार के लेख मिलते हैं कि उत्तर और दक्षिण मिस्र के संयुक्त राज्य का प्रथम शासक मेनी था। इस प्रकार शासन क्षेत्र में परिवर्तन के साथ–साथ और समस्त मिस्र का एक फेरो (शासक) स्थापित होने के साथ–साथ राज धर्म में भी परिवर्तन हुआ–और एक राज्य की स्थापना होते ही केवल एक देवता का आधिपत्य हो गया। इस देवता का नाम 'रे' देवता (सूर्य देवता) था–इसी 'रे' देवता को सर्वोपरि माना जाता था। इस रे देवता के अन्य भी कई नाम थे–जैसे आतन, ओसिरिस ताह, आमन इत्यादि। यही देवता मिस्र को धन-धान्य एवं समृद्धि देने वाला था। आइसिस प्रमुख देवी थी। आइसिस वेबीलोन की देवी इष्टर की तरह सृष्टि की मातृशक्ति मानी जाती थी—भारत में 'काली मां', ग्रीस में 'दीमीटर' और रोम में 'सीरीज' देवी की तरह। यद्यपि मिस्र के शासकों में इन सर्वोपरि देव देवता की मान्यता बढ़ गई, किन्तु साधारण जन, साधारण किसान का विश्वास तो उन पुराने भिन्न भिन्न देवताओं में ही बना रहा जिनको वे मिस्र में एक एकाधिपत्य राज्य स्थापित होने के पूर्व, अपना सखा, स्वामी और भाग्य-विधाता मानते आये थे। मिस्र के फेरो अपने आपको उपर्युक्त 'रे' (सूर्य) देवता की ही संतान मानते थे—और वे सूर्यवंशी कहलाते थे। दक्षिण मिस्र का एक प्रमुख देवता चन्द्र (?) था— एवं अनेक शासक अपने आपको चन्द्रवंशी मानते थे। इसी एक बात को आधार बनाकर प्रसिद्ध 'मानव-विकास" शास्त्र–वेत्ता पेरी महाशय ने यह अनुमान लगाया है कि यहीं मिस्र से ही चीन, भारत एवं समस्त अन्य प्राचीन सभ्यताओं के शासकों में अपने आपको सूर्य या चन्द्रवंशी राजा कहने की प्रथा चली।

इन भिन्न-भिन्न, विचित्र-विविध देवताओं की मूर्तियों की स्थापना के लिये–जिनको खुश करने से, जिनकी पूजा करने से, जिनको भेंट चढ़ाने से वे प्रसन्न होते थे और लोगों को सुख समृद्धि देते थे–जिनके नाराज होने से लोगों को आफत और दुःख का सामना करना पड़ता था–बड़े बड़े विशाल और सुन्दर मन्दिर बनाये जाते थे। इन मन्दिरों में यह एक विशेष बात

देखी गई है कि मन्दिर के अंतरिम भाग जिसमें मूर्ति होती थी, उसका द्वार ज्योतिष गणना के अनुसार किसी निश्चित दिशा की ओर बना होता था, जिससे कि वर्ष के निश्चित दिनों में (यथा २१ मार्च एवं २१ सितम्बर जिस रोज दिन और रात बराबर होते हैं) सूर्य की किरणें द्वार में से होती हुई सीधी मूर्ति के ऊपर पड़ें। किसी किसी मन्दिर का द्वार किसी निश्चित नक्षत्र की ओर अभिमुख करके बनाया जाता था। मन्दिर के आंतरिक भाग में मूर्ति की स्थापना होती थी—मूर्ति के सामने एक वेदी होती थी, जिस पर भेंट या बलि चढ़ाई जाती थी। सभ्यता के प्रारम्भ के साथ ही साथ इन मन्दिरों का भी प्रारम्भ हुआ। मन्दिरों में ये मूर्तियां पत्थरों या धातुओं की बनी होती थीं—इन मूर्तियों को या तो स्वयं देवता समझ लिया जाता था या देवताओं का प्रतीक। मन्दिरों से सम्बन्धित एवं देवताओं की पूजा से सम्बन्धित अनेक पुजारी, मन्दिरों के कर्मचारी इत्यादी होते थे। इन पुजारी लोगों की अपनी पृथक ही एक स्वतत्र जाति होती थी जिसका समाज में बहुत ऊंचा स्थान था। इन पुजारी लोगों का मुख्य काम मन्दिरों में देवताओं की पूजा तथा भेंट चढाना ही होता था। विशेष-विशेष अवसरों पर—जैसे बीज बोने के समय या धान पक जाने के बाद धान काटने के समय, विशेष सामूहिक पूजा और भेंट अर्पण का समारोह होता था। इन पूजाओं के निश्चित दिनों के आसरे से ही सर्व साधारण लोग जानते थे कि अब तो बीज बोने का समय आ गया अब धान काटने का—इत्यादि। किन्तु उस जमाने में मन्दिरों में और पुजारियों का महत्व उक्त बातों के अतिरिक्त और भी कई बातों में होता था। इन्हीं मन्दिरों में राजाओं का तथा जमाने की महत्वपूर्ण घटनाओं का वृत्तान्त सुरक्षित रक्खा जाता था—मन्दिरों में ही दीवारों पर चित्र अंकित किये जाते थे, जो उस काल की कला और इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। दीवारों पर ऐसे अनेक चित्र अंकित है जिनमें किसी राजा को विजय यात्रा करके लौटता हुआ दिखाया गया है, और कही देवता राजा को आशीर्वाद दे रहे हैं। इन्हीं मन्दिरों में लेखन कला का प्रारम्भ हुआ एवं सूर्य और नक्षत्रों की चाल और काल गणना के विज्ञान का आरम्भ हुआ। पुजारी लोग केवल पूजा कर देना और भेंट चढा देने का ही काम नहीं करते थे—किन्तु वे बीमारों का इलाज भी करते थे एव जादू टोने के द्वारा व्यक्तियों को सुख समृद्धि दिलवाने का प्रयत्न भी करते थे। प्राचीन काल में मन्दिर ही, ज्ञान, विद्या, साहित्य एवं इतिहास के केन्द्र थे। साधारण जनता तो भोली, अशिक्षित, एवं अज्ञानांधकार में ही अपना जीवन बिताती थी।

मिस्र के एक प्रसिद्ध फेरो (इखनातन या अमेनोफिस चतुर्थ) ने जिसका शासन काल १३७५ ई० पू० से प्रारम्भ हुआ माना जाता है, लोगों के धार्मिक विश्वास में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का प्रयास किया। उसने यह घोषित किया की फेरो देवताओं के वंशज नहीं किन्तु साधारण लोगों की तरह मानवी लोग ही हैं। इससे अपने पूर्वजों की प्राचीन राजधानी थीबीज (मिस्र में) को छोड़ दिया और एक नई राजधानी बसाई जिसका नाम तलअलअमरना था। इसका साम्राज्य ठेठ मिस्र में सुदूर दक्षिण भाग से लेकर मेसोपोटेमिया में यूफ्रीटीज नदी तक फैला हुआ था। इसने इन सब राज्यों

के भिन्न–भिन्न देवताओं के मन्दिर को बंद करवा कर, केवल एक देवता आतन की पूजा का प्रचलन करना चाहा। 'आतन' (Aton) सूर्य का ही दूसरा नाम था। राजाओं, पुजारियों और लोगों का यही विश्वास था कि भिन्न-भिन्न देवता जिनकी शकल सूरत मूर्तियों में अंकित थी–वैसी शकल सूरत वाले देवता वास्तव में ऊपर देवलोक में रहते थे। किन्तु प्रसिद्ध शासक इखनातन ने उस प्राचीन काल में सबसे पहिले यह विचार रक्खा कि आतन (सूर्य देवता) साकार रूप में विद्यमान नहीं (अर्थात् उस रूप में, जिस रूप में उस देवता की मूर्तियां मन्दिरों में स्थापित थीं)—यह तो सूर्य की शक्ति का नाम मात्र है, यह शक्ति सर्व सम्पन्न है—यह देवता सर्वशक्तिमान है—और यही शक्ति इस पृथ्वी और इसके जीवों का संचालन कर रही है। इन भावों को व्यक्त करते हुए इखनातन ने अनेक संगीतमय पद भी बनाये थे जो आज भी प्राचीन मिस्री भाषा में लिखे हुए मिलते हैं। इखनातन के एक भजन-गीत का[1]—जिसकी उसने आतन देव की प्रशस्ति में रचना की थी. वह आतन देव जिसने उसके हृदय को आनन्द–विभोर किया था—भावानुवाद नीचे दिया जाता है, केवल एक अंश का। गीत आतन (सूर्य, रे) देव को सम्बोधित है।

'आकाश के क्षितिज में तेरा आगमन सुन्दर है;
ए प्राणवंत आतन, जीवन के स्रोत!
पूर्व के क्षतिज में जब उगता है तू
तो आप्लावित अपनी सुषमा से कर देता है प्रत्येक भूमि को।'

एक दूसरा अंश है :

'उगते हुए, चमकते हुए, दूर जाते और लौटते हुए,
तू बनाता है असंख्य रूप
अपने में से ही आविर्भूत कर।'

इखनातन की गणना हम संसार के बुद्ध और ईसा जैसे महान् व्यक्तियों में कर सकते है। उसके अनेक पदों के भावों की छाया ईसाइयों की बाइबल और मुसलमानों की कुरान में मिलती है। अनेक वाक्य यों के यों बाइबल और कुरान में मिलते हैं। इस्लाम के कलमे के वाक्य "एक अल्लाह के सिवाय दूसरा अल्लाह नहीं है और मोहम्मद उसका भेजा हुआ रसूल है," ज्यों के त्यों इखनातन के भजनों में मिलते हैं; केवल अल्लाह की जगह आतन (सूर्य देव) शब्द है और मोहम्मद की जगह इखनातन। किन्तु इखनातन के उदात्त भावों को सर्व साधारण बिल्कुल भी नही समझ सकें, ग्रहण करना तो दूर रहा। वास्तव में देखा जाय तो आज भी सर्व साधारण का मानसिक विकास प्राय: उसी स्तर का है जिस स्तर का आज से ८–९ हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भिक सभ्यता काल के मानव का था।

---

1 प्राचीन मिस्री भाषा में लिखा गीत का अवशेष ब्रिटिश म्यूजियम लंदन में सुरक्षित है। हिन्दी अनुवाद मूल गीत के अंग्रेजी अनुवाद (विल ड्यूरान्ट: अवर ओरियंटल हैरीटेज में प्राप्त) के आधार पर है।

शिक्षा और साहित्य

मिश्रवासियों ने शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में आश्चर्यजनक उन्नति की। शिक्षा प्रायः मन्दिरों में दी जाती थी। शिक्षा का उद्देश्य लिखना-पढ़ना तथा व्यापारिक और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना था। मन्दिरों में शिक्षा समाप्त कर विद्यार्थी कचहरियों में काम सीखते थे। लेखक का पद पा लेना शिक्षा का विशेष लाभ माना जाता था। विविध विषयों के अध्ययन में मिस्र ने काफी तरक्की की। उस काल के बहुत से लेख विज्ञान, गणित, इतिहास, वनस्पति तथा धातुओं पर थे। उनका अधिकांश साहित्य धार्मिक था जिसमें भातोन और फराओं की स्तुतियां आदि सम्मिलित थीं। यह प्राचीन साहित्य बहुत कुछ अंश में फराओं की कब्र से प्राप्त हुआ है। तंल-ए-अमारा नामक स्थान से तीन सौ पत्र प्राप्त हुए हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मिश्र तथा वेबीलोन का पारस्परिक सम्पर्क था। शिक्षा के लिए राजकीय पाठशालायें बनी हुई थीं। पिरेमिडों से ईसा से २००० वर्ष पूर्व के पेपाइरी (कागज) पर लिखे हुए लेखों के पुलन्दे प्राप्त हुए हैं, जिनमें किस्से, कहानियां, धार्मिक विषय, प्रेम गीत, रण-गान, कविताएं, पत्र, मंत्र-तंत्र, स्तुतियां, ऐतिहासिक वार्तायें, वंशावलियां, नीति के उपदेश आदि लिखे हैं। नाटक तथा पद्य-कथाओं को छोड़कर मिस्र वालों ने साहित्य के सभी मुख्य अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

कला

पिरेमिडों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। पिरेमिडों के अतिरिक्त मिस्रवासियों को भव्य मन्दिर बनाने का भी शौक था। कला की सृष्टि से कारनाक का मन्दिर अत्यन्त सुन्दर है। इस मन्दिर की एक विशाल सुरंग इंजीनियरी का एक अद्‌भुत नमूना है। इस सुरंग में १३६ पत्थर के चित्रित स्तम्भ हैं जो १६ पंक्तियों में खड़े हैं। यह सुरंग एक हॉल के रूप में है। मन्दिरों की दीवारों पर सुन्दर चित्र अंकित हैं जो उस काल की कला और इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। थीबीज तथा हेलियोपोलिस नामक स्थानों पर उस काल के अनेक मन्दिरों के चिन्ह प्राप्त हुए हैं। उन्नीसवें वंश के राजा रमीसस द्वितीय ने अम्बूसिम्बेल नामक स्थान पर १८५ फीट लम्बा और ९० फीट ऊंचा मन्दिर बनवाया जिसमें उदय होते सूर्य की प्रतिमा स्थापित कराई।

मूर्ति कला में भी मिस्र ने आश्चर्यजनक तरक्की की। मिस्र के शासकों (फराओं) की ८० से ६० फीट तक ऊंची ठोस पत्थर को काट कर बनाई गई मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। गिजे के पिरेमिड तक पहुंचने के पहिले पत्थर की एक विशाल मूर्ति आती है जिसका शरीर शेर का है और मुख मानव का। यह स्फीन्क्स् कहलाती है। यह मूर्ति २४० फीट लम्बी तथा ६६ फीट ऊंची है। यह स्फीन्क्स किसका प्रतीक है यह एक रहस्य ही बना हुआ है।

मिस्र की चित्र कला अत्यन्त सजीव और भावपूर्ण होती थी। कारनाक के मन्दिर के स्तम्भों और दीवारों पर अनेक चित्र अंकित हैं। भीत्ति-चित्र

बनाने में वे बड़े चतुर थे। कई प्रकार के रंगों का वे चित्रों में प्रयोग करते थे। चीन को छोड़कर कोई भी प्राचीन देश मिस्र की इस कला में समता नहीं कर सकता था। रानी हेतशेप्सुत को चित्रकारी का बड़ा शौक था। उस काल का एक चित्र मिला है जिसमें तीन जहाजों का अद्वितीय चित्रण है। पशु प्रेमी होने के नाते मकानों पर बाज तथा अन्य पालतू पशुओं के चित्र भी बनाये जाते थे। चित्रों से प्रगट होता है कि लोगों को प्रकृति सौन्दर्य से प्रेम था। चित्रकार चित्र के सौन्दर्य के स्थान पर भाव और विषय-वस्तु पर अधिक जोर देते थे।

सामाजिक संगठन

समाज में सर्वोपरि फेरो (शासक) होता था। मिश्र में फेरो का पद केवल एक शासक या पुजारी के ही समान नहीं होता था, जैसा कि सुमेर और असीरिया में था। मिस्र में तो फेरो स्वयं एक देवता या देवता का वंशज माना जाता था और इसीलिये राजघराने में ही राजा का विवाह हो सकता था—क्योंकि साधारण लोग तो देवताओं के वंशज थे नहीं। किस प्रकार मिस्र के राजा इस असाधारण मान्यता तक पहुंचे कुछ कहा नहीं जा सकता था। इन फेरों की शक्ति निरंकुश होतीं थी। कोई भी उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं जा सकता था। तभी तो यह सम्भव हो सका कि अनेक शासक लोग लाखों आदमियों को वर्षों तक काम में लगाकर वे महा-विशाल स्तूप (पिरामिड) बनवा सके। फेरों के नीचे उन्हीं के वंशज राजकुमार होते थे जो फेरों के आधीन रह कर भिन्न भिन्न प्रान्त या प्रदेशों का राज्य करते थे या केन्द्रीय शासन व्यवस्था में ही उच्च पदाधिकारी होते थे। शासन चलाने के लिये अनेक प्रकार के करों की व्यवस्था थी एवं अनेक नियम बने हुए थे। कर न देने वालों को या नियम भंग करने वालों को कड़ी सजा दी जाती थी।

पहिले तो शासक लोग ही मन्दिरों के पुजारी होते थे किन्तु शासन व्यवस्था जटिल होने से और शासकों के राजकीय कामों में अधिक व्यस्त होने से, पुजारी पुरोहित लोगों की एक जाति ही अलग बन गई थी। इन पुजारी लोगों का धार्मिक मामलों में लोगों से सीधा सम्पर्क था, और इसी की वजह से बड़े-बड़े मन्दिरों के पुजारियों की लोक-शक्ति भी कम नहीं थी। कभी-कभी इन पुजारियों की मदद और सहयोग के बिना शासन चलाना कठिन हो जाता था। ऐसे भी विवरण मिलते हैं कि पुजारियों के मन्तव्य क अनुकूल चलने वाले राज्यघराने के किसी विशेष व्यक्ति के पक्ष में शासकों के विरुद्ध षड़यन्त्र भी चलते थे किन्तु मिस्र के फेरों में एवं वहां के मन्दिर के पुजारियों में प्राय: किसी प्रकार का विरोध या द्वन्द नहीं हुआ।

फेरो, पुजारी एवं राज्य कर्मचारी लोग उच्च वर्ग के लोग थे। ये लोग बहुत ही अमीरी ढंग से रहते थे। अनेक लोग इनके नौकर एवं गुलाम होते थे। इन लोगों के रहने के लिए सुन्दर-सुन्दर महल और मकान बने हुए थे जिनमें ऐहिक जीवन के सुख और आनन्द की सभी सामग्रिया संग्रहीत रहती थीं। मकानों में अलग-अलग पाखाने, स्नानघर होते थे। स्त्रियों के

शृङ्गार के लिये अनेक सुगन्धपूर्ण साधन विद्यमान थे। महीन सुन्दर-सुन्दर कपड़े पहिने जाते थे एवं स्वर्ण और मोतियों के आभूषण धारण किये जाते थे। ऐशो-आराम से जिन्दगी बीतती थीं।

इस उच्चवर्ग के उपरान्त व्यापारी, उद्यम उद्योग करने वाले एवं खेतीहर लोग थे। सीरीया, जूड़िया, फारस, भारतीय समुद्र तट, मेसोपोटेमिया, अरब आदि देशों से सूखे और सामुद्रिक रास्तों से व्यापार होता था। सोना, मोती, हाथी दांत, तांबा, लकड़ी इत्यादि का आयात होता था एवं गेहूं, जौ का निर्यात होता था। शिल्पी लोग सुन्दर-सुन्दर मिट्टी के वर्तन, घड़े इत्यादि बनाते थे, उन पर पोलिश एवं रंग किया जाता था, रुई के कपड़े बुने जाते थे, खदानों में काम किया जाता था एवं धातुओं के वर्तन बनाये जाया करते थे। मिस्र में विशेष काम कांच का होता था—यहां की कांच की बनी चीजें बेबीलोन के बाजार में खूब बिकती थीं। इन शिल्पी लोगों का समुदाय राजाओं एवं अन्य बड़े-बड़े घरानों के चारों ओर इकट्ठा हो जाता था और उन्हीं उच्चवर्ग के लोगों के लिये और सर्वथा उन्हीं के आधीन इन लोगों का काम चलता रहता था।

समाज का सबसे बड़ा वर्ग तो किसान लोगों का ही था—जो खेती करते रहते थे, देवताओं में भोला विश्वास रखते थे, राजाओं या प्रान्तीय शासकों को कर देते थे, और अशिक्षित और गरीब बने रहते थे। इन्हीं किसानों में से या दक्षिण अफ्रीका की कुछ विजित जातियों में से जैसे नेबूआ के लोग या युद्धों में पकड़े हुए कैदी, गुलाम वर्ग के लोग होते थे, जिनमें से शासकों के लिये सेना बनती थी तथा वे अन्य निम्न काम भी करते थे।

उच्चवर्ग के लोगों में स्त्री का बहुत सम्मान होता था, इनकी स्वतन्त्र सम्पत्ति होती थी। धनी वर्ग में बहुपत्नीत्व का प्रचलन था। किन्तु स्त्री को तलाक का अधिकार था। मिस्र में कई स्त्री शासक एवं विजेता भी हुई हैं, जिनमें सबसे प्रसिद्ध जो शासक हुई उसका नाम था हेतशेपसुत। इस स्त्री के राज्य काल में मिस्र बहुत ही समृद्धिशाली रहा और राज्य भर में सुख और शान्ति रही।

इस प्रकार ईसा के प्रायः ५ हजार वर्ष पूर्व से प्रारम्भ हो कर लगभग ४५०० वर्षों तक यह प्राचीन सम्यता, यह एक प्राचीन जाति उदय हो कर, खिल कर एवं विकसित हो कर अन्त में समय के गर्त में विलीन हो गई। उन ४–५ हजार वर्ष के विशाल काल की तुलना में तो अपना आधुनिक मशीन युग जो अभी १५० वर्ष ही पुराना है, नहीं के बराबर है। जो आधुनिक युग की गति है उसमें तो कौन जाने ४–५ हजार वर्षों में मानव कहां तक पहुंच जायेगा।

५

प्राचीन सिंधु सभ्यता

[THE INDUS VALLEY CIVILIZATION]

[मोहेंजोदाड़ो-हरप्पा]

कैसे प्रकाश में आई ?

भारत में सिन्धु प्रान्त के लरकाना नामक स्थान पर, सिन्धु नदी से हट कर पच्छिम में कुछ रेतीले टीले हैं। इन टीलों का नाम आसपास के सिन्धु निवासियों में "मोहेंजोदाड़ो" प्रचलित है–जिसका अर्थ है "मुर्दों का टीला"। इन टीलों पर स्थित एक बौद्ध विहार तथा स्तूप के संबंध में भारतीय पुरातत्व विभाग के द्वारा सन् १९२२ ई० में कुछ खुदाई हो रही थी। खुदाई होते होते अचानक प्रागैतिहासिक युग की कुछ मुद्रायें मिलीं। ऐसी ही अनेक मुद्रायें पंजाब में मोंटगोमेरी जिले के हरप्पा नामक गांव में कुछ वर्ष पूर्व मिली थीं। इन बातों से प्रभावित हो कर मोहेंजोदाड़ो में विशेष खुदाई के लिये पुरातत्व विभाग द्वारा एक विशेष योजना बनाई गई एवं सन् १९२२ से लेकर कुछ वर्षों तक मोहेंजोदाड़ो एवं सिन्ध के कई अन्य स्थानों पर, पंजाब में हरप्पा एवं बलूचिस्तान के कई स्थानों पर खुदाई की गई और उसके फल-स्वरूप प्राचीन सभ्यता का निश्चित रूप से पता लगा। पुरातत्ववेत्ताओं ने इस सभ्यता का नाम "मोहेंजोदाड़ो तथा हरप्पा" की सभ्यता अथवा "प्राचीन सिन्धु सभ्यता" रक्खा। खोजों के आधार पर यह निर्धारित हुआ कि उन स्थानों में जहां आजकल सिन्ध, बलूचिस्तान तथा दक्षिण पश्चिमी पंजाब स्थित हैं, प्राचीन काल में एक बहुत ही विकसित अवस्था की सभ्यता विद्यमान थी। मोहेंजोदाड़ो एवं हरप्पा उस प्राचीन काल में उन प्रदेशों के बहुत ही सुन्दर ढंग से बने हुये समृद्धिशाली नगर थे, जो सम्भव है उन प्रदेशों की राजधानियां रहे हों। मोहेंजोदाड़ो में प्राप्त अवशिष्ट चिन्हों से यह धारणा बनाई गई है कि मोहेंजोदाड़ो नगर का प्रारम्भिक काल ३२५० ई० पू० था–इसी काल में वह नगर पूर्ण विकसित रूप में था। इससे यह तो अनुमान लगाया जा सकता है कि ईसा के प्राय: ४–५ हजार वर्ष पूर्व इस सभ्यता का प्रारम्भ वहां हो गया होगा। इन नगरों के विकास और सभ्यता के अवशेष प्राय: २७५० ई० पू० तक के

मिले हैं । प्रायः कुछ वर्ष इधर-उधर इसी काल तक के अवशेष चिन्ह हरप्पा तथा दूसरे स्थानों पर मिलते हैं । इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि प्रायः २५०० ई० पू० में ये नगर ध्वस्त और विलीन होगये थे– इनके अचानक ध्वस्त और विलीन होने के कई कारण हो सकते है–सिन्धु नदी में भयंकर बाढ़ों का आना; जलवायु में असाधारण परिवर्तन, विशेषतः मौसमी हवाओं के रुख बदलने से, उसके फलस्वरूप वर्षा कम होने से एवं शनैः शनैः बालुओं के टीलों द्वारा भूमि ढक जाने से । प्राचीन मेसोपोटेमिया एवं मिस्र की सभ्यताओं का लोप तो उत्तर से सेमेटिक तथा आर्य जाति के लोगों के आक्रमण द्वारा हुआ, किन्तु सिन्धु प्रदेश में भी ऐसे कई आक्रमण हुये हों इसके कोई भी चिन्ह नहीं मिलते हैं । इसका लोप तो स्यात प्रकृति के हाथों द्वारा ही हुआ । किन्तु इतना अवश्य है कि सिन्धु सभ्यता के प्रदेशों में कालांतर में आर्य लोग और उनकी सभ्यता प्रसारित हो गई ।

किन लोगों ने इसका विकास किया ?

कौन ये लोग थे जिन्होंने सिन्धु सभ्यता का विकास आज से ५–६ हजार वर्ष पूर्व किया और कैसी यह सभ्यता थी ? यद्यपि इस सभ्यता का विकास भारत में सिन्धु नदी की उपत्यका में हुआ, किन्तु यह भारतीय आर्य सभ्यता नहीं थी । यह सभ्यता मिस्र और सुमेर सभ्यता की समकालीन थी और बहुत सी बातों में यहां का रहन-सहन, मन्दिर, पूजा आदि का ढंग सुमेर की सभ्यता से मिलता है । वास्तव में ऐसा मालूम होता है कि उस काल में भू-मध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों से लेकर, यथा मिस्र, एशिया माइनर, सीरिया से लेकर इलम [प्राचीन ईरान], मेसोपोटेमिया और फिर मोहेंजोदाड़ो और हरप्पा एवं दक्षिण भारत,–और फिर सुदूरपूर्व में चीन के तटवर्ती प्रदेशों तक जिस नव-पाषाण युगीय (खेती, पशुपालन, मन्दिर, पुजारी और पूजा) सभ्यता का प्रसार था–और जिसके तदनन्तर मिस्र में मिस्र सभ्यता का विकास हुआ, मेसोपोटेमिया में सुमेर, बेबीलोन, असीरिया सभ्यता का विकास हुआ, उसी प्रकार सिन्धु प्रान्त में सिन्धु नदी की उपत्यका में मोहेंजोदाड़ो और हरप्पा (सिन्धु सभ्यता) का विकास हुआ । यह भी निश्चित है कि इन सब देशों का परस्पर संपर्क था और इनमें व्यापार एवं सांस्कृतिक विनिमय होता रहता था। ये सब सभ्यतायें नगर प्रधान एवं व्यापार प्रधान थीं । इन्हीं बातों से अनुमान लगाया जाता है कि सिन्धु सभ्यता वाले उसी जाति के लोग थे, जिस जाति के सुमेरियन लोग थे । आज इसी मत की अधिक मान्यता है कि भूमध्य सागरीय प्रजाति के लोगों (द्राविड़ों) ने ही सिन्धु सभ्यता का विकास किया । इन सभी लोगों का कद मध्यम, शरीर पुष्ट और वर्ण भूरा सा (काला गोरा मिश्रित या गहरा बादामी) था । कुछ भारतीय विद्वानों का यह भी मत है कि सप्त-सिंधव से जो आर्य दस्यु एवं वृत्त लोग अपने आदि घर को छोड़ कर इधर उधर फैले, उन्होंने सिन्धु सभ्यता का विकास किया । जो कुछ हो जिस प्रकार प्राचीन मिस्र, मेसोपोटेमिया एवं चीन के लोगों की आदि उत्पत्ति के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता वैसे ही मोहेंजोदाड़ो हरप्पा के लोगों की उत्पत्ति (Origin) के विषय में अभी सर्वथा निश्चयपूर्वक तो कुछ नहीं कहा

जा सकता ।

जीवन तथा रीति रस्म

सिन्धु प्रान्त में गेहूं, जौ और सम्भवतः चावल की भी खेती होती थी। दूध, घी से लोग परिचित थे। पालतू पशुओं में बैल, भैंस, भेड़, हाथी, कुत्ता, ऊंट तथा जंगली पशुओं में हरिण, नीलगाय, बन्दर, भालू, खरगोश आदि के अवशेष चिन्ह मिले हैं। हरी तरकारी, शाक भाजी, मिठाई, मछली, अंडे, मांस इत्यादि भी लोगों के भोजन का अंग था। इन सब बातों का पता खुदाई में प्राप्त वस्तुओं के आधार पर मिला है। खुदाई में बड़े-बड़े पोलिश किये मिट्टी के घड़े जिनमें अनाज रखा जाया करता होगा एवं तश्तरियां, प्याले, थाली चम्मच आदि बर्तन बड़ी संख्या में मिले हैं, जिससे यह भी अनुमान किया जाता है कि त्यौहार, विवाह इत्यादि के अवसर पर दावतें भी होती होंगी। कताई, बुनाई की कला में ये लोग बहुत ही प्रवीण मालूम होते थे। कपास, रेशम और ऊनी कपड़ों का प्रचलन था। पुरुष लोग तो केवल एक शाल की तरह का कपड़ा शरीर पर लपेट लेते थे–गरीब लोग साधारण कपड़े पहिनते थे एवं धनी लोग सुन्दर कला-पूर्ण कपड़े। तरह तरह से केश–रचना करने का इन लोगों में बड़ा शौक था। पुरुष सुमेरियन लोगों की तरह छोटी छोटी दाढ़ी रखते थे–ओंठ का ऊपरी भाग प्रायः साफ रहता था–दोनों ओर से चलने वाले अनेक उस्तरे मिले हैं। इन लोगों के कला प्रेम का सर्वोत्तम उदाहरण उनके आभूषण हैं। स्त्रियों के अतिरिक्त बच्चे भी आभूषण पहिनते थे। सब देवी देवताओं की मूर्तियां आभूषणों से लदी हुई रहती थीं। ये आभूषण स्वर्ण के होते थे, किन्तु गरीब लोग लाल पकी हुई, पोलिश की हुई मिटटी के आभूषण पहिनते थे। कुछ आभूषण हाथी दांत के भी होते थे। स्त्रियों के शृंगार के लिए अनेक प्रसाधन विद्यमान थे–लकड़ी और हाथी दांत के कंघे, लाल चमकीले रंग की अनेक डिब्बियां जिनमें चेहरे पर श्वेत तथा गुलाबी आभा लाने के लिए कुछ पाउडर से रखे होते थे— इत्यादि अनेक वस्तुयें खुदाई में मिली हैं। शृङ्गार के ऐसे ही प्रसाधन सुमेर तथा मिस्र के लोगों में भी प्रचलित थे। बच्चों के खेल के लिये अनेक खिलौनों के अवशेष भी मिले हैं। अनेक प्रकार के लैम्प तथा मिट्टी के दीपकों का प्रयोग होता था।

गाड़ी तथा रथों का प्रचलन था। ये लकड़ी, तांबे इत्यादि की बनी हुई होती थीं। स्यात् गधे एवं बैल इनको खींचते थे–घोड़ों से ये लोग अभी अनभिज्ञ थे। गाड़ी और रथों का प्रचलन मिस्र और सुमेर में भी था। ये लोग पशु पक्षियों का शिकार भी करते थे–धनुष इन लोगों का प्रमुख अस्त्र था। पत्थर की गोलियों और गुलेल का प्रयोग भी ये लोग करते थे। इनके अतिरिक्त अन्य औजार तथा हथियार जैसे तलवार, आरियां, दरातियां, हंसिये इत्यादि भी मिले हैं। पशु पक्षियों को लड़ाना, उनके अनेक प्रकार के खेल, फलके, पासों तथा गिट्टियों से खेले जाने वाले खेल–ये उन लोगों के प्रमोद के मुख्य साधन थे।

स्थापत्य तथा नगर-निर्माण कला

मोहेंजोदाड़ो की नगर निर्माण प्रणाली वास्तव में बहुत सुविकसित एवं प्रौढ़ थी। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐसी उत्तम प्रणाली संसार के अन्य किसी प्राचीन देश में देखने को नहीं मिलती। नगर में चौड़ी-चौड़ी सड़कें थीं, किसी सुनिश्चित योजना के अनुसार गलियां तथा मकान बने थे, सफाई के लिए नाली-प्रणाली थी। मेसोपोटेमिया के इश्नूना नगर में भी नालियों का अच्छा प्रबन्ध था, किन्तु मिस्र के नगरों की नालियां इतनी वैज्ञानिक और सुन्दर नहीं थीं। नगर में बड़े बड़े स्नानगृह तथा शौचगृह भी सुनिश्चित स्थानों पर सर्वसाधारण के लिए बने हुए थे। कूड़ा-करकट इत्यादि डालने के लिए स्थान स्थान पर कूड़ेखाने रक्खे हुए थे। सुमेर और मिस्र में धनिकों के घरों पर तो स्नानगृह बने हुए थे, किन्तु नगरों में सर्व साधारण के लिए कोई स्नानगृह नहीं बने हुए थे। इससे अनुमान होता है कि सिन्धु सभ्यता में नागरिकता का भाव अधिक विकसित था।

मोहेंजोदाड़ो और हरप्पा नगरों की इमारतें प्रायः दो खण्ड की हैं। इन मकानों में पकाई हुई ईंटें प्रयोग में लाई गई हैं। मिस्र की तरह पत्थर का प्रयोग नहीं है। मेसोपोटेमिया में तो अधिकतर कच्ची ईंटें ही दीवारों के लिए प्रयुक्त होती थीं। वहां केवल स्नानगृहों और शौचगृहों में पकाई हुई ईंटों का प्रयोग हुआ है। दीवारों पर पलस्तर प्रायः मिट्टी का ही होता था। मकानों की छत पीटी हुई मिट्टी अथवा कच्ची या पकी हुई ईंटों की होती थी। छतों में कड़ियों का प्रयोग बहुत होता था। पानी के लिए कुएं बने थे—इन कुओं की दीवारें मजबूत ईंटों की बनी हैं। ईंटें इतनी सफाई के साथ चुनी गई हैं कि खुदाई में प्राप्त कुएं साफ किये जाने पर आज भी खूब काम दे रहे हैं। नगरों एवं मकानों के इस सुन्दर प्रबन्ध को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि कोई उच्च संस्था नगर का प्रबन्ध करती होगी।

कला-कौशल

सिन्धु प्रान्त में सैकड़ों मृण्मूर्तियां (मिट्टी की मूर्तियां) प्राप्त हुई हैं। अनेक मुद्रायें तथा तावीज प्राप्त हुए हैं एवं असंख्य मिट्टी के बर्तन जिन पर सुन्दर पोलिश किया हुआ है। ये मिट्टी की मूर्तियां विशेषतः बच्चों के खिलौने और मन्दिरों और देवताओं को भेंट की जाने वाली तथा पूजा की ही मूर्तियां हैं। देवताओं की मूर्तियों में अधिकतर "मातृ देवी" की मूर्ति मिली है। मिट्टी के बर्तनों की कला बहुत ही सुन्दर तथा विकसित थी। मिट्टी के बर्तन दो प्रकार के थे–एक वर्ग के बर्तनों पर पतले, हल्के लाल रंग की पॉलिश होती थी। इन पर रेखागणित के वृत्तों या कोणों की कारीगरी की हुई है। दूसरे वर्ग के बर्तन अच्छी तरह पकाई चमकीली मिट्टी के होते थे। बर्तनों पर चित्रकारी बहुत ही सुन्दर है। चित्रकारी में विशेषतः बेल बूटे, पशु–पक्षी, पेड़ पत्तियों की आकृतियां चित्रित की गई हैं। मिश्र, सूसा तथा सुमेर के मिट्टी के बर्तनों पर विशेषतः मनुष्य आकृति का चित्रण हुआ है। मिट्टी के बर्तनों की यह कला जितनी उस काल में सुन्दर थी वैसी तो आजकल भी बहुत कम देखने को मिलती है।

मोहेंजोदाड़ो में एक पत्थर की मूर्ति भी प्राप्त हुई है—जिसे कुछ पुरातत्ववेत्ता तो पुजारी की मूर्ति बतलाते हैं एवं कुछ अन्य पुरातत्ववेत्ता किसी योगी की मूर्ति। इस पुजारी या योगी की मूर्ति की शकल बेबीलोन के पुरोहितों से मिलती है। इसके अतिरिक्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण शिल्प की दो मूर्तियां हरप्पा से प्राप्त हुई हैं। इनमें से एक लाल और दूसरी नीले-काले पत्थर की है। इन मूर्तियों का शरीर सौष्ठव यूनान की मूर्तियों से कम आकर्षक नहीं। यहां की खुदाइयों में कुछ पीतल की नर्तकियों की भी मूर्तियां मिली हैं—जिससे ज्ञात होता है कि इन लोगों में नृत्य कला का भी प्रचलन था—और यह नृत्यकला काफी विकसित थी। किन्तु नृत्य का उस काल में क्या ध्येय था, यह ज्ञात नहीं। मोहेंजोदाड़ो में थोड़ी अलंकृत लाल गोमेदा की गुरियां भी प्राप्त हुई हैं, यहां पीतल की भी कुछ वस्तुयें प्राप्त हुई हैं। सिन्धु प्रान्त की मुद्राओं तथा पट्टियों पर अंकित आकृतियां सिन्धु कला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इन मुद्राओं पर बैल, भैंस तथा नीलगाय के चित्र बहुत ही यथार्थ और सुन्दर हैं।

रुई के कपड़े

उस काल के सभ्य देशों में स्यात् मिश्र को छोड़कर अकेले सिन्धु प्रान्त में ही रुई के कपड़े बुने जाते थे। रुई के सूत के बहुत ही सुन्दर ढंग के कई डिजाइनों के कपड़े बुने जाते थे और मिश्र तथा बेबीलोन के बाजारों में बिकते थे। अन्य देशों में तो विशेषत: ऊन या हैम्प या रेशम के ही कपड़े बुने जाते थे।

भाषा और लिपि

सुमेर के लोगों की तरह इन लोगों की भी भाषा पर्याप्त विकसित थी। लिपि, जिसमें वह भाषा लिखी जाती थी, सुमेर की लिपि से मिलती जुलती स्यात् एक प्रकार की चित्र लिपि ही थी। विद्वानों ने सुमेर की भाषा और लिपि का तो अध्ययन कर लिया है, किन्तु सिन्धु सभ्यता की भाषा और लिपि पढ़ने में वे अभी सफल नहीं हुए हैं। उनकी लिपि का रहस्य खुलने पर तो अनेक नई बातें इस सभ्यता के विषय में मालूम होंगी, और सम्भवत: सुमेर और मिश्र की सभ्यताओं पर भी नया प्रकाश पड़े।

धार्मिक विश्वास

सिन्धु प्रान्त के लोगों के धर्म का स्वरूप निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। इतना अनुमान लगाया जाता है कि इन लोगों ने भी मिश्र एवं मेसोपोटेमिया की तरह विशाल-विशाल मन्दिर-भवन बनवाये थे। वे लोग मूर्तियों की स्थापना अपने भवनों में भी किसी विशेष कमरे में करते रहे होंगे। उस काल की ज्यादातर मातृदेवी की मृण्मूर्तियां मिली हैं। मातृदेवी की पूजा प्राचीन काल में ईजीयन से सिंधुप्रान्त के बीच के सभी देशों में जैसे इलम, फारस, मेसोपोटेमियां, मिश्र तथा सीरिया में प्रचलित थी। मातृदेवी की पूजा की उत्पत्ति धरती माता की पूजा से ही हुई है। धरती-माता, प्रकृति ही मनुष्यों का

पालन-पोषण करती है। मेसोपोटेमिया के कई लेखों से ज्ञात होता है कि मातृदेवी नगर निवासियों की हर प्रकार की व्याधियों से रक्षा करती थी। यूफ्रीटीज, टाईग्रीस, नील और सिन्धु नदी के तटों पर रहने वाले लोगों की आजीविका बहुत कुछ खेती पर ही निर्भर थी, फिर यह स्वाभाविक ही है कि वे धरतीमाता, प्रकृतिदेवी—मातृदेवी की पूजा विशेषतः करते थे। मातृदेवी की मूर्ति के अतिरिक्त शिव तथा शिवलिंग की भी कई मूर्तियां मिली है—एवं शिवजी की त्रिमुखों वाली आकृति कई मुद्राओं एवं ताम्र-पटों पर अंकित मिली है। इससे अनुमान है कि सिन्धु प्रान्त के लोग शिवजी की पूजा करते थे और स्यात् योग की प्रणालियों से भी परिचित थे। इसके अतिरिक्त फैलिक (लिंग) की पूजा भी होती थी। लिंगों की अनेक प्रकार की मूर्तियां मिली हैं। प्राचीन मिस्र, यूनान, रोम में भी बालपीट की पूजा होती थी—बालपीट लिंग सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाला देवता था। सिन्धु प्रान्त में स्यात् शक्ति उपासना भी प्रचलित थी एवं पशु पूजा भी होती थी। कुछ सभ्यताओं के लोगों का विश्वास था कि मनुष्य रूप में आने से पहिले देवता पशु रूप में ही पूजे जाते थे। पशुओं में जिनकी पूजा होती थी उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण तो था बैल किन्तु हाथी, गैंडा, नीलगाय की भी पूजा होती थी। बैल स्यात् सिंधु प्रान्त में शिवजी का वाहन माना जाता था। बैल का सिन्धु प्रान्त में ही नहीं किन्तु संसार के सभी प्राचीन सभ्य देशों में धार्मिक महत्व था। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु प्रान्त निवासी वृक्ष-पूजा में भी विश्वास रखते थे। नाग, जल तथा तुलसी की पूजा का भी प्रचलन था। स्वस्तिक तथा यूनानी क्रूश का चित्रण भी मुद्राओं तथा धातु की पट्टियों पर दीख पड़ता है। इन चिन्हों का धार्मिक महत्व माना जाता था। स्वास्तिक तथा चक्र के चिन्हों का संबंध सूर्य और अग्नि से माना जाता है और सूर्य और अग्नि देवताओं के रूप में पूजित रहे हैं। सिन्धु प्रान्त के निवासियों की तावीजों एवं जादू-टोनों पर भी विशेष श्रद्धा थी। इन तमाम बातों से यही अनुमान लगा सकते हैं कि इन लोगों का बुद्धि का विकास, मनन एवं चिन्तन का विकास अभी विशेष नहीं हुआ था तथा बुद्धि, तर्क, विज्ञान एवं दर्शन की गहराइयों को ये प्रारम्भिक मानव स्यात् छू भी नहीं पाये थे। नवीन-पाषाण युगीय पुजारी, पुरोहितों एवं शनैः शनैः बनते हुए आदिकालीन धार्मिक संस्कारों पर ही इन लोगों की धार्मिक भावना आधारित थी। इन लोगों का जीवन विशेषकर ऐहिक था। ऐहिक जीवन का सुख उच्चवर्ग के लोग—यथा शासक, पुजारी, पुरोहित तथा अन्य धनिक लोग भोगते थे—किन्तु उस सुख में भी "चेतना" अधिक जागृत नहीं थी, चेतन अनुभूति गहरी नहीं थी।

"सिन्धु सभ्यता" आज से लगभग ६–७ हजार वर्ष पूर्व इस सृष्टि के रंगमंच पर आकर मिस्र, बेबीलोन सभ्यताओं की भांति नटी का सा कुछ क्षणों तक अपना नृत्य करके विलीन हो गई किन्तु उस नटी के नृत्य की कुछ तरंगे आज भी मानों प्रवाहमान हैं—उनका प्रभाव आज भी भारत में विद्यमान है। मातृदेवी की पूजा, शक्ति पूजा, शिव और शिवलिंग की पूजा, देवता रूप में पत्थर, वृक्ष, तुलसी और बैल की पूजा; जादू-टोणा, मन्त्र-तन्त्र, योग

धूप-दीप-नैवेद्य से मूर्ति की पूजा इत्यादि बातें हिन्दू संस्कृति में सिन्धु सभ्यता से ही आई; मानो ये बातें भारतीय संस्कृति में उस अतीव प्राचीन काल से "आगम" रूप में चली आ रही हों। कई पौराणिक हिन्दू देवता सिन्धु सभ्यता के देवताओं के ही तो विकसित रूप हैं, जैसे—

सिन्धु सभ्यता का देवता	पौराणिक हिन्दू देवता
लाल वर्ण देवता पशुपति	रूद्र, शिव
मां देवी	(उमा शक्ति)
नील वर्ण आकाश देवता	विष्णु
शौर्य और युद्ध का देवता	मुरूकुण (शिव का पुत्र स्कन्द)
यौवन और सौंदर्य का	कनघ : कृष्ण
देवता गणेश	गणेश

६

भारतीय आर्यों की सभ्यता

(THE INDIAN ARYAN CIVILIZATION)

वैदिक साहित्य

भारतीय आर्य कौन थे, कब भारत में रहते थे, कब उनके आदि ग्रन्थ ऋग्वेद की रचना हुई, इसकी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। इन आर्यों के जीवन मन, आत्मा की कहानी, इनकी अन्तर्दृष्टि, इनकी अन्तस्तम अनुभूतियां सन्निहित हैं उस साहित्य में जिसे वैदिक साहित्य कहते हैं, जो विशाल है और जिसका मूल है ऋग्वेद तथा अन्य तीन वेद। इस विशाल साहित्य की भाषा वैदिक (संस्कृत का पूर्व रूप) है। कालान्तर में इस विशाल साहित्य से आविर्भूत हुआ वेदाङ्ग, दर्शन एवं पुराण साहित्य जो वैदिक भाषा के ही संस्कारित रूप "संस्कृत भाषा" में है। पहिले बहुत संक्षेप में इस साहित्य के शरीर की चर्चा करेंगे। वैदिक साहित्य को पंडितों ने ३ भागों में विभक्त किया है—संहिता, ब्राह्मण एवं आरण्यक-उपनिषद।

१. वेद-संहिता (मन्त्रों या ऋचाओं का संग्रह)

संहितायें (अर्थात् संगृहीत मन्त्र, ऋचायें) चार वेदों की मिलती हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। सब ऋचाओं की भाषा एक सी नहीं है। कहीं कहीं उसमें अत्यन्त प्राचीनता के चिन्ह हैं और कहीं कहीं अपेक्षाकृत कम प्राचीनता के। ये वेद हैं क्या? वेद का सामान्य अर्थ है 'सत्य ज्ञान'। इस अर्थ को मान कर चलें तो आर्यों के इस विश्वास में कि 'वेद' तो अनादिकाल से चले आते हुए ईश्वरीय ज्ञान हैं, किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। वास्तव में ज्ञान अर्थात् वस्तु एवं सृष्टि का सत्य क्या है, यह तो तभी से स्थित अर्थात् विद्यमान है जब से सृष्टि है। पर वेद शब्द का विशेष अर्थ चार प्रसिद्ध वेदों (मन्त्र-संहिताओं) से है। इन वेदों में जो ऋचायें या मन्त्र हैं, और उन मन्त्रों में जो तथ्य, जो ज्ञान, सत्य समाहित है, उस ज्ञान अथवा सत्य के दर्शन अर्थात् उसकी अन्तरानुभूति समय समय पर कुछ विशिष्ट शुद्ध मन वाले पुरुषों (ऋषियों) को हुई और उसकी अन्तरानुभूमि होते ही, उस ज्ञान का दर्शन होते ही, वह

प्रवाहित हो निकला ऋषि की छन्दबद्ध वाणी में। प्रथम बार मानव में आध्यात्मिक चेतना का उद्भव हुआ था—प्रथम बार उषा के समान लोकोत्तर प्रकाश से उसका मन उद्भाषित हो उठा था। यह वाणी लोगों के लिए उपदेशात्मक उक्ति नहीं थी, किन्तु सृष्टि की अनन्तता और जीवन के अगाध रहस्य से पराभूत हृदय की सहज कविता थी। ऋषि द्वारा दृष्ट शब्द-बद्ध 'ज्ञान' या 'सत्य' या "तथ्य" कहलाया ऋचा या मंत्र—ऐसे मन्त्रों का संग्रह कहलाया वेद। मूलवेद ऋग्वेद में इस तरह १०५८० ऋचायें हैं, अन्य वेदों में अपेक्षाकृत बहुत कम जैसे सामवेद में १८७५, यजुर्वेद में २०८६ एवं अथर्ववेद में ५९८७। वास्तव में, ऋग्वेद में छन्दोबद्ध प्रार्थनायें तथा मन्त्र हैं; सामवेद में ऋग्वेद के ही अनेक मन्त्रों को गीतबद्ध किया हुआ है, यजुर्वेद में ऋग्वेद के ही अनेक मन्त्रों को यज्ञ और कर्मकाड की दृष्टि से गद्य-सूत्रों में लिखा गया है, अथर्ववेद भिन्न कोटि का एक मन्त्र-टोणों का वेद है। इस प्रकार हम देखेंगे कि वेदों को हम किसी एक प्राणी, कवि या ऋषि की रचना नहीं मान सकते। समय समय पर भिन्न-भिन्न ऋषियों ने तथ्यों का अनुभव किया और मन्त्रों की रचना की। (किन्हीं विद्वानों की राय में ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों की रचना ईसा से लगभग २५००० वर्ष पूर्व हुई, किन्हीं दूसरे विद्वानों की राय में इनकी रचना ईसा से लगभग १५००–२००० वर्ष पहिले हुई)। इन मन्त्रों की रचना के पश्चात् मन्त्रों के पठन पाठन की शैली का प्रचार हुआ। उस समय कागज तो थे नहीं जो कहीं मन्त्रों को लिखा जाता; भोज एव ताड़ पत्रों का प्रचार भी स्यात् अनेक वर्षों पीछे ही हुआ होगा; अतएव वेद मन्त्र वेदाचार्यों द्वारा शिष्यों को कंटस्थ कराये जाते थे। उनके कंठ कराने की विधि और प्रणाली इतनी विलक्षण थी कि भिन्न भिन्न वेदों के आचार्यों के शिष्यों तथा प्रशिष्यों की परम्परा में वेदों के मन्त्र यथावत् प्रचलित रहे। मैक्समूलर ने अपने लेख "India what it can teach us" (भारत हमें क्या सिखा सकता है) में दिखलाया है कि इतने बड़े साहित्य को स्मृति के आधार पर चलाना कम कठिन नहीं था। कालांतर में भोज या ताड़पत्र का प्रचलन होने पर वेद लिखे गये एवं संगृहीत किये गये होंगे। सबसे प्राचीन ताड़ की पुस्तक ई० सन् की दूसरी शताब्दी की उपलब्धि है। भोजपत्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ जो अब तक मिला है वह ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी का है; यह ग्रन्थ पाली भाषा का "धम्मपद" है। कागज पर लिखी गई सबसे प्राचीन पुस्तक ई० सन् की १३ वीं शताब्दी की बतलाई जाती है, पर पण्डितों का ख्याल है कि मध्य एशिया में गड़ी हुई संस्कृत की अनेक पुस्तकें जो कागज पर लिखी प्राप्त हुई हैं उनका काल ई० सन् की चौथी शताब्दी होना चाहिये।

इसी प्रकार श्रुति परम्परा से चलते चलते किसी काल में वेद भी लिखे गये—पहिले सम्भव है ताड़ या भोजपत्रों पर लिखे गये हों, फिर कागज पर। आज जो वेदों के भाष्य मिलते हैं वे तो अपेक्षाकृत आधुनिक हैं। वेदों पर सायण और मध्व (मध्ययुग के दो महान् पंडित) के भाष्य १४ वीं सदी में लिखे गये थे। बंगाल में प्राप्त नगुद भाष्य १४ वीं सदी की रचना है। प्रायः इन्हीं भाष्यों के आधार पर छपे हुए वेद आज तक प्रचलित हैं। सायण के ही भाष्य के आधार पर मैक्समूलर ने सर्वप्रथम ऋग्वेद के

पाठ सन् १८०५–९२ ई० में छपवाये; फिर अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने अन्य वेदों के पाठ छपवाये। उन्हीं के आधार पर एवं कुछ और विशेष अन्वेषणों के साथ २० वीं शताब्दी में वेदों के पाठ छपे। महर्षि दयानन्द का वेद भाष्य भी प्रसिद्ध है।

२. ब्राह्मण

वैदिक साहित्य का दूसरा भाग है—ब्राह्मण गन्थ। ब्राह्मण ग्रन्थ गद्य में लिखे गये हैं और इनमें कर्मकाण्ड की प्रधानता है। वेदों (संहिताओं) में चर्चित यज्ञों के लिए; कब और कैसे अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए, कुश किधर और क्यों रखना चाहिए आदि यज्ञ सम्बन्धी अनेक छोटी मोटी बातों का विवेचन किया गया है तथा जगह जगह ऐतिहासिक और परम्परा प्राप्त कहानियां हैं जो बाद में चलकर पुराण और इतिहास का रूप धारण करती हैं। असल में ब्राह्मणों में से बहुत से लुप्त हो गये हैं और यह जानने का कोई उपाय नहीं रह गया है कि उनमें क्या था। ब्राह्मणों में जिस दृष्टि से संहिता को देखा है, वह यद्यपि कर्मकाण्ड प्रधान है, फिर भी उसमें व्याकरण, आयुर्वेद, दर्शन आदि का स्पष्ट परिचय विद्यमान है।

आरण्यक और उपनिषद

ब्राह्मणों के अन्त में आरण्यक और उपनिषद् हैं। इनमें आध्यात्मिक बातों का बड़ा गम्भीर विवेचन किया गया है। ये "वेदान्त" भी कहलाते हैं, क्योंकि ये वेदों के ही अन्तिम भाग हैं। उपनिषदों के ब्रह्म सम्बन्धी सभी वाक्य ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त पर आश्रित हैं। उपनिषदों को रहस्यानुभूति एवं अध्यात्म या ब्रह्म विद्या का आदि स्रोत समझा जाता है। उपनिषद् साहित्य प्रेरणामूलक है, उनके अनुशीलन से मानव चेतना कभी कभी तो सचमुच प्रकृति और अस्तित्व के गहनतम तल को छू लेती है। प्रमुख उपनिषदों के नाम ये हैं:—बृहदारण्यक तैतीरीय, ऐतरेय, केन, काठक, ईशा, श्वेताश्वतर, मुण्डक, महानारायण, प्रश्न मैत्रायणीय तथा माण्डूक्य। भारतवर्ष के सभी दार्शनिक'सम्प्रदाय इन उपनिषदों में ही अपना आदि अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त वैदिक साहित्य की रचना के बाद (जिसे हम आर्यों का आधारभूत साहित्य कह सकते हैं) और अनेक प्रकार के साहित्य की रचना हुई जिसका उल्लेख आर्य जाति की संस्कृति और सभ्यता की आज तक अबाध गति से चली आती हुई धारा को समझने के लिये आवश्यक है। इस साहित्य की रचनाकाल के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, सम्भव है कि ईसा के अनेक शताब्दियों पूर्व से ईसा के पश्चात् कुछ शताब्दियों तक इसकी रचना हुई हो। इस साहित्य के ५ प्रमुख अंग माने जा सकते हैं, यथा (१) वेदांग साहित्य, (२) धर्म पुराण-इतिहास, (३) महाभारत गीता, (४) रामायण, (५) दर्शनशास्त्र।

१. वेदाङ्ग साहित्य

वैदिक साहित्य (वेद, ब्राह्मण, उपनिषद) काफी बड़ा हो चुका था। वह जटिल भी हो गया था। उनको समझने में सहायता देने के लिये और उसका रूप और अर्थ स्थिर कर देने के लिये भाषागत वैज्ञानिक छानबीन के बाद नया साहित्य तैयार किया गया जो वेदाङ्ग कहलाया। वेदाङ्ग ६ हैं—

(१) शिक्षा ग्रन्थ—इनमें वर्ण और उनके उच्चारण सम्बन्धी नियम दिए गये हैं।

(२) छन्द—इसमें वेदों में प्रयुक्त छन्दों का विवेचन किया गया है।

(३) व्याकरण—इन ग्रन्थों में वैदिक पदों के सही पाठ और उच्चारण सम्बन्धी नियमों का निरूपण किया गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी, व्याकरण का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

(४) निरुक्त—यास्क मुनि कृत निरुक्त ग्रन्थ सबसे प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ वस्तुतः वेदों का भाष्य है। वेदों का सही सही अर्थ समझने में निरुक्त ग्रन्थ से ही सबसे अधिक सहायता मिलती है।

(५) कल्प-कल्प साहित्य का दूसरा नाम सूत्र साहित्य है। सूत्र का मतलब है कम-से-कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ भर देना। विशाल वैदिक साहित्य के धार्मिक विचार, रीति एवं नियम सब लोग ध्यान में रख सकें, इसी उद्देश्य से सूत्र साहित्य का निर्माण हुआ। सूत्र साहित्य को प्रायः तीन विभागों में विभाजित किया जाता है; यथा श्रोत-सूत्र, गृह्य-सूत्र, एवं धर्म-सूत्र। श्रोत सूत्रों में वैदिक यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड का वर्णन है, गृह सूत्रों में गृहस्थ के दैनिक यज्ञ आदि, यथा धर्म सूत्रों में सामाजिक नियमों आदि का विवेचन है।

(६) ज्योतिष-काल गणना एवं निरूपण सम्बन्धी ज्ञान की यज्ञ के समय उपयोगिता होती थी। ऋग्वेद पर आश्रित ज्योतिष का सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'लगध-ज्योतिष' है।

२. धर्म-पुराण-इतिहास

हिन्दुओं के व्यक्तिगत, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन को नियमन करने वाले वेदों के आधार पर बनाये गये नियम जिन ग्रन्थों में मिलते हैं, उनको धर्म या स्मृति ग्रन्थ कहते हैं। सबसे प्रसिद्ध और सर्वमान्य स्मृतिग्रन्थ मनु ऋषि कृत मनुस्मृति है। हिन्दुओं का समस्त धार्मिक, सामाजिक जीवन मनुस्मृति के आदेशों के अनुसार ही परिचालित होता आया है।

पुराणों से मतलब उन ग्रन्थों से है जो प्राचीन काल से लोकप्रिय रूप में चले आ रहे हैं और जिनमें लोक-धर्म-भावना समाविष्ट है। पुराणों में विशेषतया चार प्रकार के विषयों का वर्णन पाया गया है, यथा प्राचीन राजाओं तथा ऋषियों की वंशवलियां तथा उनके आख्यान; जाति के इतिहास से सम्बन्धित प्राचीन घटनायें; सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, वर्णाश्रम, श्राद्ध,

दार्शनिक सिद्धान्त सम्बन्धी विवरण; और शिव, विष्णु आदि की भक्ति तथा तीर्थ, व्रत आदि के महात्म्य आदि का वर्णन। पुराणों की संख्या १८ है, जिसके नाम हैं:—ब्रह्म पुराण, पद्म पुराण, विष्णु पुराण, वायु पुराण, भागवत पुराण, नारद पुराण, मार्कन्डेय पुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्म वैवर्त पुराण, लिङ्ग पुराण, वराह पुराण, स्कन्द पुराण, वामन पुराण, कूर्म पुराण, मत्स्य पुराण, गरुड़ पुराण एवं ब्रह्माण्ड पुराण। इन पुराणों में कहीं-कहीं वैदिक काल से भी पहिले के इतिहास की घटनाओं का उल्लेख मिलता है। भारतीय पुरातत्वविद और संस्कृत के विद्वान पुराणों में अनेक ऐतिहासिक तथ्य खोजकर निकाल रहे हैं। जहां तक पुराणों की धार्मिक गाथाओं का प्रश्न है, वे अधिकतर प्रतीकात्मक हैं, मानों जातीय अवचेतन मन, लोक-इच्छा और लोक-कल्पना उन प्रतीकों में समाहित हो गई हो। यहूदी और ईसाई लोगों की धर्मपुस्तक बाइबल और चीनी लोगों की प्राचीन धर्म गाथाओं में भी ऐसा ही हुआ है। पुराणों में अनेक बातें असंगत हैं—कपोल कल्पित, किन्तु फिर भी उनका आधार तत्वतः वे अनुभूतियां और सत्य हैं जो वेद और उपनिषदों में प्रकाशित हुए। इन आधारभूत मानवीय अनुभूतियों पर कथा और काव्य के जिस विशाल और रंगीन भवन का निर्माण पुराणों के रूप में हुआ—वह है सचमुच अद्भुत। पुराण साहित्य में यह बात स्वयं सिद्ध है कि उसके रचेताओं में—वे ऋषि, मुनि, पंडित जो भी हों—उदात्त कल्पना-शक्ति थी, वे मानवीय इच्छाओं—अभिलाषाओं और गहन अन्तः स्थल की अच्छी-बुरी सभी प्रवृत्तियों को खूब समझते थे; लोक कल्याण और लोक रंजन की भावना उनके काव्य की मूल प्रेरणा थी। जातीय जीवन का अस्तित्व बनाये रखने के लिये, उसे सुखी और मंगलमय रखने के लिये, निराशा से बचने के लिये, ऐसे प्रयत्न प्रायः सभी प्राचीन जातियों में हुए। यह उस समय के मानव का प्रयत्न था—अपने चारों ओर की सृष्टि को समझने का एव जीवन में निष्प्रयोजनता और सूखापन नहीं आने देने का।

३. महाभारत गीता

महाभारत अपने आप में एक सम्पूर्ण समग्र साहित्य है। यह लोक प्रवाद बहुत अंश तक सही है कि जो विषय महाभारत में नहीं है वह भारत में कहीं भी नहीं है। पण्डितों ने महाभारत का अर्थ किया है—भारतवंश वालों की युद्ध कथा। ऋग्वेद में इन भारतवंश वालों का उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भरत को दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र बतलाया गया है। इन्हीं भरत के वंश में कुरु हुए जिनकी सन्तानों में आपसी झगड़े के कारण कभी घोर युद्ध हुआ था। महाभारत में इसी युद्ध का वर्णन है; किन्तु महाभारत केवल उस युद्ध की ही कहानी नहीं है। असल में महाभारत उस युग की ऐतिहासिक, नैतिक, पौराणिक, उपदेशमूलक और तत्ववाद सम्बन्धी कथाओं का विशाल विश्वकोष है। भारतीय दृष्टि से महाभारत पांचवां वेद है, इतिहास है, स्मृति है, [illegible] है, और साथ ही काव्य है। अनेक काल तक यह ग्रन्थ बनता और संवर्धित होता रहा। समूचे महाभारत की रचना का एक काल नहीं है। आज का महाभारत एक लाख श्लोकों का संग्रह ग्रन्थ है। इसी महाभारत के अन्तर्गत

है—विश्व प्रसिद्ध "गीता" जिसमें समाहित है हिन्दू दर्शन का निचोड़ कि मानव ज्ञानोत्पन्न अनासक्त भाव से स्वधर्मानुकूल (अर्थात् अन्त:स्थित स्वभाव के अनुकूल) कर्म करते हुए, सब कुछ अपने भगवान को समर्पित कर दे। ज्ञान, कर्म, भक्ति (Knowing, Willing, Feeling) का यह अपूर्व सामञ्जस्य है—जिस सामंजस्य के बिना जीवन एकांगी रह जाता है। इतना विशाल महाकाव्य जिसमें व्यक्ति और समाज के जीवन का इतना सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन मिलता हो और जो साथ ही साथ मानव भावों के गहनतम तल को छूता हो संसार में और कोई दूसरा नहीं है।

४. रामायण

विश्वास किया जाता है कि "रामायण" वैदिक साहित्य के बाद मानव कवि का लिखा हुआ पहिला काव्य है। इसलिए इसको आदि काव्य और इसके रचयिता वाल्मीकि को आदि कवि माना जाता है। विद्वानों की परीक्षा से भी यह सिद्ध हुआ है कि रामायण सचमुच काव्य जाति के ग्रन्थों में सबसे पहला है। यह काव्य अखिल संसार के महाकाव्यों की तुलना में अद्वितीय है। ग्रीक महाकवि होमर के "इलियड" और "ओडेसी" इटली के महाकवि दान्ते का "दिवाइना कोमेडिया" श्रेष्ठ महाकाव्य हैं, किन्तु उनमें रामायण के भावों जैसी सूक्ष्मता और उदात्तता नहीं है। यदि हमें संसार के तीन महानतम कवियों का नाम लेना पड़े तो हम कहेंगे कि वे वाल्मीकि (भारत), होमर (ग्रीस) और शेक्सपीयर (इंगलैण्ड) हैं। रामायण और महाभारत दोनों महाकाव्य भारतीय संस्कृति की अनुपम देन है। विद्वानों द्वारा ऐसा भी मालूम किया गया है कि ६०० ई० सन् के आसपास कम्बोडिया (हिन्द चीन का एक प्रान्त) में रामायण का धार्मिक ग्रंथ के रूप में प्रचार था।

५. दर्शन

दर्शन ६ हैं यथा—(१) गौतम का न्याय, (२) कणाद का वैशेषिक, (३) कपिल का सांख्य, (४) पतंजलि का योग, (५) जैमिनी का पूर्व मीमांसा, (६) व्यास का उत्तर मीमांसा (वेदान्त)। ये सब दर्शन शास्त्रों के मूल में वेद और उपनिषद हैं। ये दर्शन सूत्र रूप में लिखे गये थे, अतएव इनको समझने के लिए भाष्यों की रचना हुई जैसे उत्तर मीमांसा (मीमांसा का अर्थ है वेद वाक्यों के वास्तविक भावों को समझना) पर शंकराचार्य, रामानुज, माध्व और विष्णु स्वामी ने भाष्य लिखे, जो अपने अपने मत के अनुसार अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं।

उक्त दर्शन शास्त्रों का वर्गीकरण चाहे ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी में हुआ हो किन्तु सिद्धान्त और विचार रूप से उनकी परम्परा ई० पू० को कई शताब्दियों तक जाती है। यहां तक माना जा सकता है कि उन विचारों का सार उपनिषदों में है और कुछ का आदि-स्रोत ऋग्वेद में जैसे ऋग्वेद के नासदीय सूक्त को वेदान्त दर्शन का आधार माना जाता है।

हिन्दू-धर्म

उपर्युक्त वैदिक साहित्य (वेद, ब्राह्मण, उपनिषद) तथा उत्तर वैदिक साहित्य (वेदांग, धर्म पुराण-इतिहास, महाभारत, रामायण दर्शन) ही हिन्दू धर्म, हिन्दू मान्यता, हिन्दू दर्शन, हिन्दू ज्ञान विज्ञान के आधार स्तम्भ हैं। आधुनिक हिन्दू धर्म प्राचीन वैदिक धर्म का ही समानान्तर है। इस धर्म के प्रवर्तक, ईसाई या मुसलमान या बौद्ध धर्मों के समान कोई एक नबी या प्रोफेट या गुरु नहीं हुए;–न इसका प्रवर्तन किसी एक विशेष काल में हुआ। यह धर्म तो प्राचीन ऋग्वेदिक काल से–(वह ऋग्वेद जो मानव जाति का आदि ग्रन्थ है) आधुनिक काल तक एक अजस्र धारा की तरह बहता हुआ चला आया है और चला जा रहा है; आज के भारतीयों में उसी प्राचीन ऋग्वेदिक संस्कृति एवं सभ्यता के धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं के संस्कार हैं। इतिहास के इस दीर्घ कालीन समय में, इस हजारों वर्षों के समय में, वे संस्कार कभी अवरुद्ध नहीं हुए. भारतीय संस्कारों से मूलतः कभी भी दूर जाकर नहीं पड़े। हजारों वर्षों के इस काल में अनेक अन्य सभ्यताओं, जातियों एवं धर्मों से इस भारतीय (वैदिक, हिन्दू) धर्म और सभ्यता का सम्पर्क हुआ—परस्पर लेन-देन, मेल जोल हुआ; बहुत सी नई चीजें मूल रूप में या रूपान्तरित होकर इसमें समा गई, किन्तु उस आदि मूल धारा का प्रवाह रुका नहीं, मूल धारा के प्रवाह की दिशा भी आधारभूत रूप ने बदली नहीं। इसीलिए कहते हैं प्राचीन काल में संसार में अनेक महान् सभ्यताओं का जैसे मिस्र और बेबीलोन की सभ्यता, ग्रीस एवं रोम की सभ्यता का उदय हुआ, उत्थान हुआ, किन्तु काल के गहन गर्त में उनका रूप विलीन हो गया; इसके विपरीत भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की धारा टूट कर कभी विलीन नहीं हुई, यद्यपि उसमें नये रंग रूप आये। आज भी इस भूमि की संस्कृति और सभ्यता के वातावरण में उद्भवित हुए हैं, मानव मात्र की कल्याण भावना अन्तर में लिए हुए शीलवान् पुरुष गांधी, महाकवि रविन्द्र और योगीराज अरविन्द।

७

भारतीय मानस में धार्मिक क्रांति

(REVOLUTION IN INDIAN RELIGIOUS THOUGHT)

(१) महात्मा बुद्ध और बौद्ध धर्म

महात्मा बुद्ध (५५७-४८६ ई० पू०) के आविर्भाव के पूर्व भारत में वर्णों का (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य एवं शूद्र वर्णों का) प्रचलन प्रायः बंधी हुई पृथक पृथक जातियों के रूप में हो चुका था। धर्म ग्रन्थों का भी पठन पाठन प्रायः ब्राह्मणों तक ही सीमित हो चुका था। कर्म-काण्ड अर्थात् वैदिक युग के यज्ञ और बलि ही व्यावहारिक धर्म के मुख्य अंग रह गये थे। इस कर्मकाण्ड को भी ब्राह्मणों ने बड़ा जटिल और आडम्बरपूर्ण बना दिया था। दूसरी ओर अनेक साधु-संत, योगी और महात्मा हो गये थे जो इस दुनिया और इस जीवन का तिरस्कार कर केवल आत्मा, परलोक और मोक्ष की बात करते थे। संस्कृत भाषा, इसका साहित्य एवं इसके धर्म-ग्रंथ जन-साधारण से दूर की वस्तु थीं। उस समय जन साधारण में बोलचाल की भाषा संस्कृत नहीं, किन्तु अन्य कई बोलियां थीं जो प्राकृत कहलाती थीं। जन साधारण यज्ञ, कर्मकाण्ड और दार्शनिकता की दुरूहता और जटिलता से मुक्त होना चाहता था; एवं अनजाने कुछ ऐसी आवश्यकता अनुभव कर रहा था कि कोई सरल राह उसे मिल जाय। जीवन में यह सरल राह दिखलाने वाले कई महात्मा प्रगट हुए, उनमें बुद्ध और महावीर प्रमुख थे।

महात्मा बुद्ध का जीवन

सिद्धार्थ (गौतमबुद्ध) का जन्म ई० पू० ५५७ में कपिलवस्तु (आधुनिक उत्तर प्रदेश में बस्तीनगर के उत्तर में) नामक नगर में जो शाक्य वंश के लोगों के गणराज्य की राजधानी थी, शाक्य राजा अर्थात् राष्ट्रपति शुद्धोदन की स्त्री महामाया से हुआ। सिद्धार्थ बचपन से ही चिन्तनशील रहते थे—उनकी यह प्रवृत्ति देख कर पिता ने १८ वर्ष की आयु में ही उनका विवाह कर दिया, किन्तु उनकी चिन्तनशील प्रवृत्ति बदली नहीं। एक बूढ़े और उसके बुढ़ापे के

दृश्य ने, एक रोगी और उसके कष्टमय रोग के दृश्य ने, एक लाश और मृत्यु के दृश्य ने, और एक शांत प्रसन्न मुख सन्यासी के दृश्य ने उनके जीवन पर गहरी छाप डाली और उनकी दिशा को ही बदल दिया। २० वर्ष की आयु में उनके पुत्र भी हो चुका था, किन्तु इसी समय (आषाढ़ पूर्णिमा) एक रात अन्तिम बार अपनी स्त्री और बालक का मुंह देख कर वह घर से बाहर निकल पड़े, दुख: सुख और जीवन का रहस्य को ढूंढ़ने के लिए। इसे गौतम का "महाभिनिष्क्रमण" कहते हैं। गृहस्थों के कर्मकांड (यज्ञयोगादि) से तो शांति मिली ही नहीं थी–अब वह दार्शनिकों के पास उस समय की विद्या सीखने लगे, उसमें भी शान्ति नहीं मिली। जंगलों में छ: वर्षों तक घोर तपस्या की जिसके परिणामस्वरूप शांति तो दूर उनके सौम्य शरीर का केवल हाड़ चाम अस्थि-पञ्जर बाकी रह गया, और उनकी स्थिति अस्वस्थ और अर्ध चेतन हो गई। कहते हैं उस समय एक युवती जिसका नाम सुजाता था, उधर से निकली, उस युवती ने गौतम को बड़ी श्रद्धा से पायस खिलाया, और वह स्वस्थ हो गये। स्वस्थ होने के बाद एक दिन (वैशाखी पूर्णिमा) गौतम एक पीपल के नीचे-जब वह ध्यान मग्न थे उन्हें एक अद्‌भुत शांति की अनुभूति हुई—मानो उनके चित्त के सब विक्षेप शांत हो गये हों, सब प्रकार के कष्टों और दुखों का रहस्य खुल गया हो। इससे "बोध" अर्थात् वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हुई। उसी दिन गौतम "बुद्ध" हुए और वह पीपल भी "बोधि-वृक्ष" कहलाया। बुद्ध को क्या बोध हुआ? वह बोध था—सरल, सच्चा जीवन ही सुख का मार्ग है; वह सब यज्ञों, शास्त्रार्थों और तप से बढ़ कर है। जीवन का यह स्वयं अनुभूत तथ्य था। सरल, सच्चा जीवन क्या है? इसका आभास बुद्ध की इस वाणी से मिलता है, जो बोध प्राप्ति के बाद बनारस सारनाथ पहुंचकर उनके प्रथम श्रावकों के सामने उच्चरित हुई थी—"भिक्खुओं! सन्यासी को दो अन्तों (सीमाओं) का सेवन नहीं करना चाहिए। वे दो अंत कौन से हैं? एक तो काम और विषय, सुख में फंसना जो अत्यन्त हीन, ग्राम्य और अनार्य है; और दूसरा शरीर को व्यर्थ कष्ट देना जो अनार्य और अनर्थक है। इन दोनों अन्तों का त्याग कर तथागत ने मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) को पकड़ा है—जो आंख खोलने वाली और ज्ञान देने वाली है।" यह मध्यम-मार्ग ही बौद्ध धर्म का निचोड़ है। इसमें जाति भेद, ऊंच नीच का भाव, यज्ञयागादि एवं देव-पूजा; ब्राह्मण पौरोहित्य एवं कर्मफल वाद का पचड़ा नहीं है। सब पचड़ों से दूर सरल आचरण का एक मार्ग है। बुद्ध ने अपनी अनुभूति से मानव का कल्याण करना चाहा। अतएव उन्होंने स्थान स्थान पर घूमकर, जाति, ऊंचनीच से भेद भाव, यज्ञयागादि एवं ब्राह्मण सत्ता एवं कर्मफलवाद से ऊपर उठकर उपदेश देना प्रारम्भ किया। अनेक जन उनके शिष्य हो गये–जिनमें भिक्षु, सन्यासी और गृहस्थ अनुयायी भी थे। अपने अनुयायी, भिक्षु-सन्यासियों का बुद्ध ने जनतन्त्र के आदर्शों पर एक संघ के रूप में संगठन कर दिया। ये बौद्ध भिक्षु भी धर्म प्रचार के लिए निकल पड़े। चारों ओर बुद्ध के यश का प्रचार हुआ। एक बार घूमते-घूमते यशस्वी बुद्ध अपने पुराने घर पर अपनी पत्नी एवं पुत्र (जिसका नाम राहुल था) के पास भी भिक्षा के लिये पहुंचे। गौतम (बुद्ध) की पत्नी फिर से उनका दर्शन पाकर अपने को न सम्भाल सकी। एकाएक

गिर पड़ी और उनके पैर पकड़ कर रोने लगी। मा (गौतम की पत्नी) ने बुद्ध (अपने पति) को समर्पित किया अपना बालक राहुल, जो भिक्षुक बना और अपने पिता के पद चिन्हों पर चल पड़ा—धर्म प्रचार के लिए। कुछ वर्षों बाद स्वयं राहुल की माता ने भिक्षुणी बनने का निश्चय किया–भिक्षुणी संघ की अलग स्थापना हुई। वह संघ भी मानव कल्याण के लिये धर्म प्रचार के काम में लग गया।

इस प्रकार ४५ वर्ष तक भारत भर में बुद्ध बराबर घूमते रहे और अपनी सुखद वाणी लोगों को सुनाते रहे। अन्त में ८० वर्ष की आयु में उनके शरीर में दर्द हुआ—साथी भिक्षुओं को अन्तिम बार अपने पास बुलाया और यह अन्तिम वाणी कही—"भिक्षुओं! मैं तुम्हें अन्तिम बार बुलाता हूं। संसार की सब सत्ताओं की अपनी अपनी आयु है। अप्रमाद से काम करते जाओ। यही तथागत की अन्तिमवाणी है।" तत्पश्चात् बुद्ध की आंखें मुंद गईं। यही उनका "महापरिनिर्वाण" था।

बौद्ध धर्म

बुद्ध के उपदेश मागधी भाषा में मौखिक ही होते थे। बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके भिक्षुओं ने उनकी शिक्षाओं का संकलन किया। निर्वाण के बाद राजगृह (मगध) में ५०० बौद्ध भिक्षुओं की एक "संगति" (सभा) हुई, जिसमें बुद्ध के मुख्य शिष्य आनन्द के सहयोग से "सुत्त पिटक" नामक धर्मग्रन्थ एवं एक अन्य प्रमुख शिष्य उपालि के सहयोग से "विनय पिटक" नामक धर्म ग्रन्थ का संकलन किया गया।

उपरोक्त प्रथम सभा के सौ वर्ष बाद, दूसरी सभा वैशाली में हुई और फिर तीसरी सम्राट अशोक के समय (२६७-२३२ ई० पू०) पटना में। इन सभाओं में बौद्धों के धार्मिक साहित्य का रूप निर्दिष्ट हुआ। उपर्युक्त दो ग्रन्थों को मिलाकर कुल तीन ग्रन्थ बौद्ध धर्म के आधारभूत ग्रन्थ बने यथा—

१. **सुत्त पिटक**—जिसमें बुद्ध की सूक्तियां (उपदेश) हैं।
२. **विनय पिटक**—जिसमें भिक्षुओं के आचार सम्बन्धी नियम हैं।
३. **अभि-धम्म पिटक**—जिसमें बौद्धों के दार्शनिक सिद्धांत हैं।

बौद्ध धर्म के ये तीन पिटक (पेटियां-धर्मग्रन्थ) मुख्य हैं। ये पहले पहल पाली भाषा में लिखे गये। कालान्तर में उपरोक्त धर्मग्रन्थ सुत्त पिटक में "जातक" नामक एक और अंश जोड़ दिया गया—जातक भाग में लगभग ५०० उपदेशात्मक कहानियां हैं। ६–७ वीं शताब्दी के पूर्व भारत में बहुत सी मनोरञ्जक कहानियां प्रसिद्ध थीं—उनको बुद्ध के पूर्वजन्म की कहानियों की शक्ल दे दी गयी और जातक नाम से सुत्त पिटक में उनका समावेश कर लिया गया।

बौद्ध धर्म के सिद्धांत

बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का उल्लेख करने के पहिले एक बार अपना

परिणामात्मक स्थिति को सत्य मानते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वस्तु की सत्ता असत्ता में विश्वास करने न करने से उस वस्तु से हमारे सम्पर्क द्वारा उत्पन्न परिणाम में कोई फर्क नहीं पड़ता—जैसे एक पत्थर को आप सत् असत्, परिवर्तनशील अपरिवर्तनशील, गतिहीन या सतत गतिमान कुछ भी मानिये, यदि उसको आप अपने माथे पर मारेंगे तो वह आपके माथे को फोड़ेगा ही। बुद्धकाल में कर्मवाद और परलोकवाद, मरने के बाद क्या होता है, आत्मा क्या है आदि विषयों में अनेक मत प्रचलित थे। इनके संबंध में बुद्ध ने साफ कह दिया कि तुम्हारे इन मतों के रहते या न रहते संसार का दु:ख तो कम होता नहीं, फिर इनके पीछे बेकार क्यों पड़े हो, वर्तमान के पीछे पड़ो; जो बीता सो बीता, जो नहीं आया उसकी चिन्ता करना बेकार है। वास्तव में बुद्ध की दृष्टि बहुत ही व्यावहारिक और बुद्धिसंगत थी। मानव मात्र के कल्याण के लिए दार्शनिक प्रपंचों और विषमताओं में दूर वे किसी व्यावहारिक रास्ते की खोज में थे, जो उन्होंने खोज भी निकाला। उन्होंने निम्न चार आर्य सत्यों की अनुभूति की—और ये ही सत्य उन्होंने मानव के सामने रक्खे। ये सत्य हैं:—

१. इस संसार में जीवन दु:खों से परिपूर्ण है।
२. इन दु:खों का कारण विद्यमान है।
३. इन दु:खों से छुटकारा मिल सकता है।
४. दु:खों से छुटकारे के लिए उचित उपाय या मार्ग है।

इन चार सत्यों का विवेचन करें। (१) यह तो प्राय: निर्विवाद है कि संसार में दु:ख है। (२) इन दु:खों का कारण बुद्धकाल में एवं उससे पूर्व भी, हमारे पूर्व-कर्म का फल बताया जाता था। बुद्ध ने आत्मा नाम की नित्य वस्तु से साफ इन्कार किया, इसीलिए किसी एक व्यक्तित्व (जीव) के कर्मफल भोगने के लिये पुनर्जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु बुद्ध को दार्शनिक प्रश्नों की बहस में तो पड़ना नहीं था, अत: यदि सब कहते ही थे तो कुछ अंशों तक 'कर्मफलवाद' मानने में उन्होंने हठपूर्वक आनाकानी भी नहीं की। किन्तु इतना उन्होंने साफ कहा है कि यह सत्य नहीं कि मनुष्य के सब ही दु:ख सुख उसके पूर्व कर्मों के कारण हैं। बुद्ध ने पुरबले कर्मों को इस जन्म की समस्याओं में महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया है—उनका मुख्य अभिप्राय अदृष्ट जगत की बातें न सोचकर दृष्ट जगत के प्रति चिन्तनशील होना है। कर्मफलवाद को इस लोक में गौण ठहराकर बुद्ध ने बतलाया है कि हमारे दु:खों का मूल कारण हमारी इसी जन्म (भव) की तृष्णायें हैं। तृष्णायें जैसे:—इन्द्रिय जन्य इच्छायें पूरी हों अर्थात् विषय लोलुपता; यह इच्छा कि मैं हमेशा बना रहूं, मैं अमर होऊं; यह इच्छा कि मैं संसार में खूब धनी और समृद्धवान बनूं इत्यादि (३) इन तृष्णा-जन्य दुखों से हम बच निकल सकते हैं; (४) और इस बच निकलने का उपाय है:—जीवन में सरल मध्यम मार्ग को अपनाते हुए (न तो घोर तपस्या एवं व्रत इत्यादि ही हो और न काम और इन्द्रिय विषयों में फंस जाना हो), बुद्धिपूर्वक (वहमी विश्वासों के आधार पर नहीं) सच्चाई

और ईमानदारी के भाव से कर्म करते हुए (कर्म त्याग कर नहीं) हमें अपना जीवन यापन करना चाहिये और निःस्वार्थ भावना की मनःस्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार सरलता से, सहजभाव से जीवन यापन करते हुए निःस्वार्थ भावना की स्थिति प्राप्त होने पर हम निर्वाण की (अर्थात् दुःखों से निवृत्ति की) अनुभूति कर सकते हैं। निर्वाण का अर्थ इस लोक में या किसी परलोक में 'अमरत्व' या किसी परमात्म तत्व में विलीन हो जाना या जन्म मरण के बन्धन से मुक्ति नहीं है। बुद्ध की दृष्टि से निर्वाण का अर्थ है—इस जीवन में, इस भव में दुख से निवृत्ति एवं पूर्ण शांति की अनुभूति—यह मानव मात्र को सरल शुचिमय जीवन से प्राप्त हो सकती है।

बुद्ध की शिक्षाओं का धर्म सम्प्रदाय रूप में संगठन

बुद्ध धर्म आदि रूप से सरल आचार मार्ग का धर्म था किन्तु जैसा सभी धर्मों के साथ प्रायः होता है, इस धर्म में भी कालान्तर में अनेक प्रपंच और आडम्बर आकर जुड़ गये और इसकी मूल सरलता और इसका मूल रूप विलुप्त हो गया। यदि आज स्वयं बुद्ध भगवान आ उपस्थित हों तो उनके नाम से प्रचलित धर्म को वे स्वयं नहीं समझ पायेंगे—वे आश्चर्य करने लगेंगे कि मनुष्य ने आखिर उनकी सरल सीधी शिक्षाओं में क्या अनर्थ पैदा कर दिया।

ई० पू० चौथी शताब्दी में वैशाली में बौद्ध भिक्षुओं की जो दूसरी सभा हुई थी उसी में आचार तथा अध्यात्म-विषयक कुछ प्रश्नों को लेकर भिक्षुओं में परस्पर मतभेद उपस्थित हो गया। कुछ ऐसे थे जो प्राचीन "विनयों" में कुछ संशोधन, नहीं चाहते थे। कालान्तर में ऐसी ही बातों को लेकर अनेक सम्प्रदाय खड़े हो गये। आजकल विशेपतया तीन सम्प्रदाय प्रचलित हैं:—

१. **महायान सम्प्रदाय**—जो बुद्ध के ईश्वरत्व में विश्वास करता है। इस प्रकार मानव बुद्ध की जगह लोकोत्तर बुद्ध की स्थापना हुई। अतः बुद्धमूर्तियों की पूजा का प्रचलन हुआ। इसमें ईश्वर-वादिता, पाठ-पूजा, भक्ति, आचार्य एवं पुजारी पूजा का अधिक महत्व है। आजकल इसका प्रचार तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया और जापान में विशेपतया पाया जाता है।

२. **हीनयान सम्प्रदाय**—जो बुद्ध की मूल शिक्षाओं के अधिक निकट है। जीव को परमुखोपेक्षी (ईश्वर, देवपूजा इत्यादि की ओर मुखापेक्षी) होने की आवश्यकता नहीं—यदि वह स्वयं सरल मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है तो उसका कल्याण हो सकता है। आजकल इसका प्रचार लंका, बरमा, स्याम, जावा आदि देशों में है।

३. **वज्रयान सम्प्रदाय**—महायान तो बुद्ध को संसार के उद्धारक रूप में देखता था। वज्रयान ने उसे वज्रगुरु बना दिया। वज्रगुरु वे उस आदर्श

पुरुष को कहते थे जिसे अलौकिक सिद्धियां प्राप्त हो । इसमें मंत्र, हठयोग, तांत्रिक आचारों का बहुत प्रचार है, क्योंकि सब सिद्धियां मंत्र, तंत्र योगिक क्रियाओं आदि से ही प्राप्त होती हैं। अनुमान है कि इस सम्प्रदाय का जन्म ईसा के बाद छठी शताब्दी में हुआ । ऐसे माना जाता है कि ८ वीं से ११ वीं तक वज्रयान के ८४ सिद्ध हुए । प्रसिद्ध गोरखनाथ उन्हीं ८४ में से एक थे । इन्हीं के प्रभाव से ८वीं-९वीं सदी में भारत में हठयोग सम्प्रदाय, वाममार्ग सम्प्रदाय, नाथपंथ आदि का प्रचलन हुआ ।

(२) जैन धर्म

जैन मान्यता के अनुसार जैन धर्म उतना ही प्राचीन है जितना वैदिक धर्म । ऋग्वेद में ऋषभदेव तथा अरिष्टनेमि मुनियों के नाम आये हैं जो जैन धर्म के पहले और २२वें तीर्थंकर माने गये हैं । प्रायः ई. पू. ९वीं शताब्दी में बनारस के राजा अश्वसेन के पुत्र पार्श्वनाथ २३वें तीर्थंकर हुए । पार्श्वनाथ के लगभग २५० वर्ष बाद जैनियों के २४वें तीर्थंकर महावीर स्वामी हुये जिनके काल से जैन धर्म का स्पष्ट संगठित रूप मिलता है ।

महावीर स्वामी (५९९–५२७ ई० पू०)

क्षत्रियों में लिच्छव वंश के प्रधान सिद्धार्थ और वैशाली के लिच्छवि राजा चेटक की बहिन त्रिशला के पुत्र वर्धमान महावीर का जन्म ५९९ ई०पू० में वैशाली के समीप कुन्डिनपुर (बिहार के वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले) में हुआ । उनका जीवन काल ५२७ ई० पू० तक रहा । उक्त सिद्ध पुरुष पार्श्वनाथ के पदचिन्हों पर ये चले और आगे जाकर महावीर स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए । बड़े होने पर यशोदा नामक देवी से उनका विवाह हुआ, जिससे एक लड़की हुई । तीस वर्ष की आयु में उन्होंने घर छोड़ा । १२ वर्ष के भ्रमण और तप के बाद उन्होंने "कैवल्य" (ज्ञान) पाया तब से वह अर्हंत् (पूज्य), जिन (विजेता), निर्ग्रन्थ (बन्धन हीन) और महावीर कहलाने लगे । उनके अनुयायी जैन कहलाये । कैवल्य प्राप्ति के बाद मिथिला, कोसल आदि प्रदेशों में भ्रमण करते रहे और अपने ज्ञान का प्रचार भी । बुद्ध निर्वाण के एक वर्ष पहिले पावांपुरी (राजग्रह या गोरखपुर के आसपास) में उनका निर्वाण हुआ ।

जैन धर्म साहित्य और सिद्धांत

जैन धर्म के मूल ग्रन्थ छठी शताब्दी के उपलब्ध हैं, इसके पहिले वे लिखे कभी भी गये हों । ये प्राचीन ग्रन्थ ४५ हैं । इनकी भाषा अर्धमागधी है । जैनचार्यों द्वारा जैन धर्म और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ बराबर लिखे जाते हैं, जिनमें से अनेक प्रमाणिक माने जाते रहे हैं । प्रथम शताब्दी के आचार्य कुन्द-कुन्द के ४ ग्रन्थ-नियम-सार, पंचास्तिकाय सार, समयसार, प्रवचनसार जैन धर्म साहित्य के सर्वस्व माने जाते हैं ।

जैन धर्म जाति-पांति के भेदभाव से ऊपर उठकर, मोक्ष प्राप्ति में यज्ञादि एवं ब्राह्मण पुरोहितों को अनावश्यक मानकर, जीवन में सत्य, निस्वार्थ

आचार की प्रधानता मानकर ही चला था किन्तु कालान्तर में क्रमबद्ध दर्शन का रूप उसने भी ग्रहण कर लिया, यद्यपि मोक्ष प्राप्ति के लिये आचार की प्रधानता भी उनमें बनी रही।

जैन धर्म की दार्शनिक पृष्ठभूमि इस प्रकार है-सृष्टि अनादि काल से चल रही है, इसका नियंता कोई ईश्वर या भगवान् नहीं—यह अपने ही आदि तत्वों के आधार पर स्वतः चल रही है। ये आदि तत्व जिनकी यह सृष्टि बनी है, छः हैं। यथा-जीव (आत्मायें–Souls), पुद्गल (भूत पदार्थ–Matter) धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इस प्रकार जैन दर्शन आध्यात्मिक अद्वैतवादी या भौतिक अद्वैतवादी की तरह सृष्टि का मूलतत्व एक नहीं मानता, किन्तु अनेक। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि के ६ मूलतत्वों का विवरण इस प्रकार है:—

जीव चेतन द्रव्य है। जीव ही वस्तुओं को जानता है, कर्म करता है, सुख दुःख का भोक्ता है, अपने को स्वयं प्रकाशित करता है। प्रत्येक जीव (आत्मा) की अनादि काल से ही पृथक पृथक स्थिति है—ऐसा भी नहीं की जीवों अर्थात् आत्माओं का विलिनीकरण किसी "परम-आत्मा" में हो जाता हो। जीव अनादि काल से कर्म से संबद्ध है। ऐसा नहीं कि किसी समय यह जीव सर्वथा शुद्ध था और बाद में उसके साथ कर्मों का बन्धन हुआ। कर्म एक प्रकार का पुद्गल (भूत-पदार्थ) है—पृथ्वी, जल आदि के समान एक भौतिक पदार्थ, जो जीव के साथ बंधा रहता है। कर्म के साथ संबद्ध जीव ही बद्ध पुरुष (मनुष्य जो मुक्त नहीं है) के रूप में दिखता है। उत्तम कर्म जीवों को उत्तम जन्म प्राप्त कराता है, अधम कर्म अधम जीवन, जैसे जानवर, वनस्पति का जीवन, यहां तक कि अधम कर्म जीव को अजीव प्रतीत होने वाले पत्थर, धातु इत्यादि भूत पदार्थों में भी जन्म प्राप्त कराता है। वास्तव में जैन दर्शन इस जगत के समस्त प्रदेशों जीवों की सत्ता स्वीकार करता है और इसलिए इसमें अहिंसा की सर्वाधिक महत्ता मानी गई है। जीव का मूल गुण है—अनंत-ज्ञान, अनंत वीर्य, अनंत दर्शन एवं अनंत सुख। किन्तु जीव के ये मूल शुद्ध गुण कर्मों के परदे में छिपे हुये रहते हैं, अननुभूत रहते हैं,—अनादि काल से यह ऐसा है।

मनुष्य (कर्म के साथ सम्बद्ध जीव) आनन्द, शांति चाहता है। यह तभी सम्भव है जब जीव कर्म का आवरण हटाकर अपने शुद्ध गुण को प्राप्त कर ले। कर्म का क्षय होने पर, कर्म का आवरण हटने पर, जीव उस स्थिति को प्राप्त होता है जिसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष प्राप्त करते ही जीव में अनन्त सुख, ज्ञान, दर्शन, वीर्य सद्यः उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा मुक्त जीव जिन (ईश्वर) कहलाता है, जो अनन्त सुख ज्ञानादि की स्थिति में जिन लोक (सिद्ध लोक) में अनन्त काल तक वास करता रहता है।

अतएव जीवन का ध्येय हुआ—मोक्ष प्राप्ति और उसका मार्ग है कर्मक्षय। कर्मक्षय के साधन तीन हैं—(१) सम्यक् दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा, (२) सम्यक् ज्ञान अर्थात् सच्चा ज्ञान, (३) सम्यक् चारित्र्य अर्थात् सच्चा आचार। इनकी प्राप्ति अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह अर्थात् सच्चा वैराग्य पालन करने से होती है। इन साधनों से मनुष्य शनैः

शनैः पूर्ण वैराग्य और तप की स्थिति और अन्त में कर्मक्षय की स्थिति को प्राप्त होता है, जब उसे मोक्ष की उपलब्धि होती है। जीव-बन्धन में अनादिकर्म की और जीव मुक्ति में अहिंसा की महत्ता होने से जैनाचार्यों ने कर्म और अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन किया है, जो अति तक पहुंच गया है।

जैनाचार्यों ने कर्मफल और अहिंसा के सिद्धान्तों का इतना विश्लेषणात्मक अध्ययन कर डाला कि विश्लेषण करते-करते कर्म सिद्धान्त एवं हिंसा-अहिंसा के उन्होंने इतने भेद, बन्धन के इतने रूप एवं दशायें गिना डालीं, एवं उनको परिभाषाओं के इतने जटिल बन्धन में बांध दिया कि वे सहज सरल व्यावहारिक जीवन से कुछ दूर पड़ गयीं। जैन धर्म में भी अन्य धर्मों की तरह कई सम्प्रदाय चल पड़े। दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो सम्प्रदाय तो बहुत पहले से ही हो गये थे। इन दोनों सम्प्रदायों में तात्विक मतभेद कोई नहीं है—केवल इसी एक बात पर कि कुछ लोग तो अपरिग्रह का पूर्ण आदर्श मानकर जैन मुनियों के लिए दिगम्बर (नग्न) रहना आवश्यक समझते थे, और कुछ लोग इन आचार विषयक बातों में ढील देने को तैयार थे एवं जैन मुनियों के लिए सफेद वस्त्र (श्वेताम्बर) धारण करना आवश्यक समझते थे—ये दो भेद हो गये। जिन मन्दिरों, देवों और पुरोहितों के आडम्बर से ऊपर उठकर जैन धर्म के प्रवर्त्तक चले थे, उन प्रवर्त्तक तीर्थङ्करों की ही मूर्तियों को मन्दिरों में स्थापित किया गया और वे ही मन्दिर, पूजा आदि इस धर्म के अंग बन गये, यहां तक कि आज भारत के मन्दिरों में जैन मन्दिरों की संख्या बहुत अधिक है।

किन्तु फिर भी जैन दर्शन का अपना एक स्थान है। उन दार्शनिक बातों के अलावा जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, जैन दर्शन की एक विशेषता है उनका अनेकान्तवाद और स्याद्वाद। अनेकान्तवाद का आशय है कि वस्तु का ज्ञान अनेकाङ्गी, अनेक रूपात्मक है। किसी भी पदार्थ का सत्य ज्ञान समस्त पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध पर बिना ध्यान दिये प्राप्त नहीं किया जा सकता। अर्थात् वस्तु की उसकी निर्विशेष स्थिति में परीक्षा नहीं की जा सकती, उसकी परीक्षा अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध की स्थिति में होनी चाहिये—उसका सापेक्ष निरूपण होना चाहिए। प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं और अनन्त सम्बन्ध। बद्ध (छद्मस्थ) मानव में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह अनन्त धर्मात्मक वस्तुओं का पूर्ण निरूपण कर सके, अतएव वस्तु के विषय में उनका ज्ञान अपूर्ण होता है। एतदर्थ किसी वस्तु के विषय में जब वह किसी तथ्य का निरूपण करता है तो वह कहता है कि वस्तु का यह रूप तो है ही किन्तु यदि कोई अन्य व्यक्ति कोई दूसरा तथ्य उस वस्तु के विषय में बताता है तो वह भी सत्य हो सकता है। इस विचार पद्धति को जैन दर्शन का स्याद्वाद कहते हैं। स्यादवाद की भावना से जैन दर्शन एवं धर्म की श्रेष्ठ सहिष्णुता का परिचय मिलता है। वस्तु का पूर्ण ज्ञान, तथ्य का पूर्ण परिचय तो 'सिद्ध पुरुष' को ही हो सकता है जिसका गुण ही अनन्तज्ञान और अनन्त दर्शन है।

(३) भारतीय धार्मिक-मानस का विकास

धर्म की धारा वैदिक युग की वैदिक ऋचाओं और मन्त्रों में प्रकृति

और विज्ञान, आत्मा और परमात्मा के रहस्यों को उद्घाटन करती हुई, यज्ञयागादि में कर्मकाण्ड की दुरूहता प्राप्त करती हुई और उपनिषदों में दार्शनिक अनुभूतियां करती हुई बहती चली जा रही थी। पुरोहितों यज्ञयागादि के दुरूह कर्मकाण्ड से जब यह धारा अवरुद्ध होने लगी तो बुद्ध और महावीर आये, जिन्होंने इस अवरुद्ध होती हुई धारा की प्रशस्त भूमि पर प्रवाहित किया। इन धर्मों का अध्ययन हमने किया है।

वैदिक हिन्दू, जैन बौद्ध धर्मों के वाह्यांतरों को छोड़कर उनके सैद्धान्तिक आधारों की तुलना करें तो हम कह सकते हैं कि हिन्दू धर्म आत्म, ब्रह्म (ईश्वर), कर्मवाद और मोक्ष के विचारों पर आधारित है, सृष्टि ब्रह्म का प्रस्फुटन है। जैन धर्म आत्म कर्मवाद और मोक्ष के विचारों पर आधारित है, सृष्टि अनादिकाल से स्वतः ६ मूल तत्वों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, और आकाश) में स्थित है, बौद्ध धर्म न किसी आत्मा को मानता, न किसी ब्रह्म को और कह सकते हैं कि कर्मवाद की भी इस धर्म में स्थिति नहीं है। यह धर्म तो सृष्टि को एक सतत परिवर्तनशील प्रक्रिया मात्र मानता है। यह विचार आधुनिक भौतिकवाद से मिलता-जुलता है। शुद्धाचार द्वारा मोक्ष प्राप्ति का विचार इसको अवश्य मान्य है।

हिन्दू धर्म में मोक्ष का अर्थ है जीवात्मा का परब्रह्म में विलीनीकरण। जैन धर्म में मोक्ष का अर्थ है जीव को अनन्त सुख, ज्ञानादि की उपलब्धि और अमरत्वपद की प्राप्ति—सुखमय, ज्ञानमय अमरत्वपद प्राप्त करके जीव जिनलोक (अर्हत्लोक—सिद्धलोक) में अनन्तकाल तक विचरण करता रहे। बुद्ध धर्म में मोक्ष का अर्थ है जीवन में दुःख से पूर्ण निवृत्ति और सम्पूर्ण सुख शान्ति की प्राप्ति।

हिन्दूओं का सृष्टि के अंतिम सत्य के सम्बन्ध में मूल मन्त्र है—सद्चिदानन्द—१ सत्, २. चित् ३. आनन्द। इसके ठीक विपरीत बौद्धों की स्थापना है—सत् की जगह असत् (कुछ भी चीज अपनी स्थिति में ठहरने वाली नहीं—सतत परिवर्तनशील है, अतः कैसे किसी भी चीज की सत्ता मानी जा सकती है); चित् की जगह अचित् अर्थात् अनात्मवाद—अर्थात् सर्वव्यापी, सर्वकालीन, अमर, कोई आत्मा नहीं; चेतना तो शरीर का एक गुण है-जो शरीर के साथ सतत परिवर्तनशील है और जिसका अन्त भी शरीर के विघटन के साथ-साथ हो जाता है। ३. आनन्द की जगह दुःखवाद अर्थात् सृष्टि के गहनतम तल में सुख नहीं किन्तु दुःख व्याप्त है। किन्तु इन धर्मों का रूप इन सूक्ष्म सिद्धान्तों में सीमित नहीं था, जैसा उल्लेख भी हो चुका है। जन साधारण में इन धर्मों के स्थूल रूप ने प्रशस्ति पाई। वेदों में उषा, वरुण, सूर्य, इन्द्र आदि देवताओं के अतिरिक्त "विष्णु" नाम के एक साधारण देवता का भी नाम आता है। धीरे-धीरे इस देवता के रूप और इसके प्रति भावना में परिवर्द्धन होता रहा। रामायण काल तक इस देवता का कोई महत्व नहीं था। महाभारत में इस देवता का महत्व बढ़ता है, और फिर पुराणों में इनको सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त होता है, और यह ब्रह्म के ही रूप माने जाते हैं। इस रूप में इनके प्रति पूजा की भावना का उद्भव ईसा पूर्व पांचवीं छठी

शताब्दी में हो चुका था। इसके बाद इनके अवतार रूप में इनकी प्रतिष्ठा होती है। सम्भवत: ईसा की प्रथम शताब्दी में या इससे भी कुछ पूर्व श्रीकृष्ण की भावना का इसमें सम्मिलन हो जाता है, अर्थात् ईसा की प्रथम शताब्दी में कुछ लोग यह मानने लग गये कि श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार थे। विष्णु की अवतार रूप में पूजा का भाव भागवत धर्म के नाम से धीरे-धीरे प्राय: समस्त हिन्दुओं में प्रचलित हो जाता है। ईसा की ११वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर १६वीं शताब्दी तक अनेक भागवत धर्माचार्यों द्वारा विष्णु रूप में कृष्ण, राम, विट्ठल या विठोवा मूल रूप से प्रतिष्ठित हो जाते हैं। जन साधारण के लिये अब राम, कृष्ण, विट्ठल ही परमात्मा हैं, सृष्टि के नियंता हैं, मानव के भाग्यविधाता है। ११वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य रामानुज, फिर १४वीं शताब्दी में उनके चेले रामानन्द और फिर १७वीं शताब्दी में महाकवि तुलसीदास के अद्भुत काव्य 'रामायण" ने राम और राम-भक्ति को जनजन के हृदय की एक अपूर्व संवेदनात्मक अनुभूति दी। राम और राम-भक्ति से जनजन का मानस प्लावित हो उठा। इसी प्रकार श्री भागवत पुराण, एवं १२वीं शताब्दी के श्री निम्बार्क स्वामी, फिर चंडीदास और विद्यापति कवि, फिर १६वीं शताब्दी के श्री चैतन्य महाप्रभु, फिर १७वीं शताब्दी के वल्लभाचार्य और भक्त महाकवि सूरदास के "सूरसागर" ने जनजन के हृदय को श्रीकृष्ण के प्रति अद्भुत प्रेम के माधुर्य से प्लावित कर दिया। इस प्रकार आज हम हिन्दू मात्र में राम और कृष्ण की भावना प्रतिष्ठित पाते हैं।

एक व्यक्तिरूप ईश्वर में विश्वास–वही ईश्वर सृष्टि का नियंता है, वही मानव का भाग्यविधाता–ऐसी मान्यता, ऐसी स्थिति आज भी संसार के बहुजन समाज की बनी हुई है। ईसाई धर्म का, जो प्राय: यूरोप, अमेरीका महाद्वीपों में प्रचलित है, ईसाई भी ईश्वर के फैसले में भरोसा करता है; मुसलमान धर्म का, जो प्राय: अरब, पश्चिमी एशिया और उत्तर अफ्रीका में प्रचलित है, मुसलमान भी खुदा की मर्जी और तकदीर में एतबार करता है। चीन, तिब्बत, हिन्दचीन, जापान इत्यादि देशों में भी करोड़ों बौद्ध हैं जो बुद्ध के ईश्वरीय रूप में विश्वास करते हैं और अपने सुख समृद्धि और कल्याण की स्थिति बुद्ध की कृपा पर आश्रित मानते हैं; नास्तिकवादी रूस में भी आज ऐसे अनेक साधारण जन हैं जिनके लिए गिरजा और ईश्वर एक सत्य तथ्य है और यही मानते हैं कि यह 'सब' ईश्वर की ही करनी है।

यहूदी, ईसाई, मुसलमान धर्म तो अपने प्रारम्भ से ही एक व्यक्तिगत ईश्वर रूप पर आश्रित हैं; भारत में अपने प्राचीन इतिहास के युग पुरुषों यथा राम और कृष्ण में व्यक्तिगत ईश्वर की प्रतिष्ठा की ! बौद्ध और जैन धर्मों ने अपने धर्म-प्रवर्तकों में यथा बुद्ध और महावीर में व्यक्तिगत ईश्वर की कल्पना की।

मानो व्यक्तिगत ईश्वर की कल्पना किए बिना मनुष्य का काम ही नहीं चला। भगवान के प्रति अनुराग, भक्ति, मानव मन की स्यात् एक भावमूलक, संवेदनात्मक आवश्यकता थी।

८

प्राचीन चीन की संस्कृति

(THE ANCIENT CHINESE CIVILIZATION)

(प्रारम्भ काल से लेकर ९६० ई० तक)

भूमिका

मिस्र, मेसोपोटेमिया (सुमेर, वेबीलोन, असीरिया), भारत और चीन की सभ्यतायें संसार की चार सबसे प्राचीन सभ्यतायें मानी जाती हैं। मिस्र और मेसोपोटेमिया की सभ्यतायें आज लुप्त हैं—वे केवल ऐतिहासिक स्मृतियां मात्र रह गई हैं। भारत और चीन की सभ्यतायें अभी तक जीवित हैं और इनमें पुरातन हजारों वर्षों की परम्परायें एवं ज्ञान विज्ञान की धारा अब भी प्रवाहमान है। चीनी सभ्यता के विषय में, चीन भारती शान्तिनिकेतन के प्रसिद्ध प्रो० तानयुनशान का मत है कि "पाश्चात्य विद्वान मिस्र और वेबीलोन की सभ्यता को काल के हिसाब से सबसे पुरानी मान लेने में गलती करते हैं। उनकी यह गलती इसीलिये होती है कि उन लोगों का चीन के इतिहास का ज्ञान प्राय: नहीं के बराबर है एवं चीनी संस्कृति को वे हृदयंगम नहीं कर पाये हैं।" प्रो० तानयुनशान की राय में चीनी सभ्यता मिस्र और वेबीलोन की सभ्यताओं से भी पुरानी है। चीन के प्राचीन महात्माओं की शिक्षाओं एवं कथित वाणी के आधार पर चीनी लोगों का ऐसा विश्वास है कि चीनी सभ्यता का उद्‌भव करने वाला "पान-कू" देवता था। उसी ने सृष्टि को रचा था और वही इस संसार का शासनकर्त्ता था। उसके सात हाथ और आठ पैर थे। "पान-कू" के बाद तीन पौराणिक सम्राटों का उद्‌भव था। १. टीन हुआंग—स्वर्ग का सम्राट २. टी हुआंग—पृथ्वी का सम्राट ३. जैन हुआंग—मनुष्य का सम्राट। इन तीनों पौराणिक सम्राटों के बाद "शोह-चो" अर्थात् दस युगों का काल आता है। प्रत्येक युग का पृथक पृथक वर्णन करती हुई पृथक पृथक पुस्तकें हैं, जिनमें प्रत्येक युग का विशद वर्णन हैं; किन्तु ये सब पौराणिक, सम्भवत: कल्पित गाथायें हैं।

चीनी विद्वान प्रो० तानयुनशान ने चीनी सभ्यता के काल को—आदि प्रारम्भ से लेकर आधुनिक काल तक के विकास-क्रम को ७ काल विभागों में

विभक्त किया है—

प्राचीन युग—

१. प्रारंभिक एवं अन्वेषण काल —अनिश्चित पुरातन काल से २६६७ ई० पू० तक।

२. स्थापना —ह्वांगटी-"पीत सम्राट" से तांगयाओ और यू शून तक २६९७-२२०६ ई० पू०

३. विकास एवं विस्तार —सुई, शांग और चाऊ, तीन काल खंड २२०६-२५५ ई० पू०

४. भारत से संपर्क —चिन वंश, हान वंश, तांग वंश ई०पू० २५५ से ९६० ई० सन्

मध्य युग—

५. उत्थान —सुंग वंश, युआंग वंश, मिग वंश ९६०-१६४३ ई०

आधुनिक युग—

६. यूरोप से सम्पर्क —चिन (मंचू) वंश १६४४-१९११ ई०

७. नव-उत्थान —१९११ में प्रजातंत्र की स्थापना से १९४९ ई० तक

अब एक आठवां काल विभाग हो सकता है। सन् १९४९ ई० में कोम्यूनिस्ट व्यवस्था की स्थापना से आज तक।

१. प्रारम्भिक एवं अन्वेषण काल

चीन में अति प्राचीन अनिश्चित पुरातन काल से सभ्यता का विकास हुआ। पुरातन चीनी ऐतिहासिक अभिलेखों के अनुसार चीनी विद्वान यूसाओं ने गृह-निर्माण कला का आविष्कार किया; स्वीजेन ने अग्नि का आविष्कार किया; फूसी ने मछली के शिकार एवं जाल बनाने की कला का आविष्कार किया; एवं उसी ने मनुष्यों को सितार पर गायन विद्या सिखाई। फूसी ने ही विवाह के नियम बनाये, एवं आठ चित्रों का आविष्कार किया जिनके बाद लेखन कला का विकास हुआ; उसी ने काल गणना का हिसाब लोगों को सिखाया। फिर शेननुङ्ग आये जिन्होंने लोगों को कृषि विद्या सिखाई, एवं व्यापार विनिमय और औषधि विज्ञान का प्रारम्भ किया। उन्होंने काल गणना विज्ञान में सुधार किया। ये सब अन्वेषण अथवा आविष्कार आज से प्रायः १० हजार वर्ष पूर्व हो चुके थे और इस प्रकार सभ्यता की नींव डल चुकी थी।

चीन की कहानी की यहां तक तो बात हुई चीनी पुरातन साहित्य एवं चीन परम्परागत विश्वासों के आधार पर। अब हम आलोचनात्मक

ऐतिहासिक दृष्टि से चीन की सभ्यता का इतिहास जानने का प्रयत्न करेंगे। कुछ वर्ष पूर्व तक तो पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि चीन का इतिहास जानने की ओर गई ही नहीं थी। किन्तु शनैः शनैः यह बात महसूस की गई कि मानव जाति एवं मानव सभ्यता के विकास में चीनी लोगों का भी एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है, चीन सभ्यता में मानव अनुभव का एक विशिष्ट अंश समाहित है एवं इस संस्कृति में मानवीय दृष्टि से अनेक आकर्षक एवं स्थायी तत्व विद्यमान हैं। शनैः शनैः चीन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक खोज होने लगी एवं पुरातत्ववेत्ताओं एवं आधुनिक इतिहासकारों ने प्राचीन चीन के इतिहास का एक ढांचा बनाया। चीन में इस सम्बन्ध में बहुत सामग्री उपलब्ध है—वहां का प्राचीन साहित्य, लोक कथाएं, गीत, चित्र इत्यादि।

चीनी लोगों की उत्पत्ति

चीनी लोगों की परम्परागत मान्यता तो यह है कि उनका उदभव चीन में ही हुआ और उनकी सभ्यता अनादिकाल से चली आती है; उसकी प्राचीनता के विषय में अनेक लोक गाथायें जिनका कुछ उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, बनी हुई हैं। किन्तु इन विश्वासों और गाथाओं को वैज्ञानिक इतिहास का आधार नहीं माना जा सकता। आधुनिक अनुसंधानात्मक ढङ्ग से प्राचीन चीन का इतिहास जानने एवं लिखने के प्रयास किये गये हैं—जो कि अभी वे सबके सब पूर्ण एवं सिद्ध नहीं माने जा सकते। उनके अनुसार चीनी लोगों की उत्पत्ति के विषय में अभी तक कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। एक मत तो इस प्रकार है—नव-पाषाण युग के आरम्भ काल में ही, अर्थात् आज से १०–१२ हजार वर्ष पूर्व हम मानव जाति को कई प्रजातियों में, खासकर ४ प्रजातियों में विभक्त हुआ पाते हैं और साथ ही साथ उनको दुनियां के अलग अलग चार विशेष भागों में बसा हुआ पाते हैं। उन प्रमुख चार प्रजातियों यथा नोर्डिक, आस्ट्रेलोइड, नीग्रो, मंगोल में से, ये चीनी लोग मंगोल प्रजाति के हैं जिसका वर्ण पीला, उभरी हुई गाल की हड्डियां एवं चपटी नाक होती है, और जो उस काल में उन प्रदेशों में बसी हुई थी जो आधुनिक चीन, मंगोलिया इत्यादि हैं। दूसरा मत है कि ये लोग मंगोल उपजाति के नहीं हैं, इनकी स्वतन्त्र ही अपनी उप-जाति है। या तो आदि में ही इनका उद्भव चीन में हुआ या संभव है प्राचीन पाषाण युग के उत्तरार्ध में (आज से लगभग १५-२० हजार वर्ष पूर्व) मध्य एशिया से जाकर कुछ लोग चीन के उत्तरी भाग ह्वांगहो नदी की तरेटी में, तथा दक्षिणी भाग यांगटीसिक्यांग नदी की तरेटी में बसे, और वहां की प्राकृतिक परिस्थितियों एवं जलवायु के अनुरूप उन लोगों का, उनकी भाषा और सभ्यता का विकास हुआ। इस बात का अनुमान कि ये लोग मंगोल प्रजाति के नहीं हों इससे भी लगाया जाता है कि उनकी चीनी भाषा यूराल आल्टिक परिवार से (जिसकी एक प्रमुख भाषा मंगोल है) सर्वथा भिन्न है। जो कुछ हो, इतना निश्चित माना जाने लगा है कि ये चीनी लोग उसी काल में जब से इनके संगठित जीवन का पता लगा है, गांवों में रहते थे, एवं खेती करते थे। पश्चिम से वर्बर लोगों के आक्रमण होते थे और ये सताये जाते रहते थे, किन्तु

फिर भी एक केन्द्रीय व्यवस्था की ओर इनके सामाजिक संगठन का विकास हो रहा था। धीरे धीरे छोटी छोटी ग्राम कम्यूनीटीज से छोटे छोटे सरदारों के राज्य बने, इन राज्यों से सामन्तशाही प्रान्त स्थापित हुए ये सामन्तशाही प्रान्त धीरे धीरे एक केन्द्रीय शासन के अधीनस्थ होकर एक साम्राज्य बने। इन चीनी लोगों को परस्पर मिला देने में कोई आर्थिक अथवा राजनैतिक शक्ति या भावना काम नहीं कर रही थी; वह केवल एक ही तत्व था जिससे परिचालित होकर जाने या अनजाने ये समस्त चीनवासी एक सूत्र में बंध रहे थे। वह तत्व था—"सांस्कृतिक एकता की भावना"। उनको यह भान होने लगा था कि प्राचीन वे लोग हैं और प्राचीन एवं गौरवमय उनकी सभ्यता; एक उनकी भाषा है, एक संस्कृति और एक आदर्श, समस्त चीन को एवं वहां के रहने वालों को एक केन्द्रीय साम्राज्य में मिला देने का अभूतपूर्व काम किया चीन के सर्वप्रथम सम्राट ह्वांगटी (Huang Ti) ने जो कि विश्व इतिहास में 'पीत सम्राट" के नाम से प्रसिद्ध है। यह साम्राज्य २६९७ ई० पू० में स्थापित हुआ, अर्थात् आज से लगभग साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व। उसी समय से चीन का तारीखवार इतिहास प्रारम्भ होता है। इस काल में मिस्र में बड़े बड़े फेरो और सुमेर में बड़े बड़े राजा राज्य करते थे। इन दोनों देशों में बड़े बड़े नगर बसे हुए थे, मन्दिर और पुजारी थे, व्यापार होता था और सभ्यता का विकास हो रहा था। भारत में सिन्धु सभ्यता (मोहेंजोदाड़ो और हरप्पा) विकासमान थी और एशियामाइनर, क्रीटद्वीप और सीरिया आदि प्रदेशों में मिस्र और मेसोपोटेमिया की सभ्यता का प्रसार होने लगा था। भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार "सप्त सिंधव" में वैदिक सभ्यता का विकास हो चुका था और स्यात् उसका सम्पर्क ईरान, दक्षिण भारत में द्रविड़ सभ्यता, तथा सिंधु सभ्यता तथा अन्य उपरोक्त सभ्यताओं से होने लगा था। यहूदी, ग्रीक, और रोमन लोगों का तो इतिहास में अभी तक नाम भी नहीं था। उपरोक्त चीन, भारत, मिश्र, मेसोपोटेमिया एवं भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों को छोड़कर, बाकी की दुनिया यथा—यूरोप, उत्तरी एशिया दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका इत्यादि—अज्ञातावस्था में या तो सर्वथा असभ्य या अर्द्धसभ्य अवस्था में पड़ी थी। उपरोक्त "पीत सम्राट" द्वारा २६९७ ई० पू० में चीनी साम्राज्य स्थापित होने के काल से प्रो० तानयुनशान के अनुसार चीनी सभ्यता के इतिहास का दूसरा चरण प्रारम्भ होता है।

२. स्थापना काल (२६९७–२२०६ ई० पू०)

जैसा ऊपर कह आये हैं चीन के सर्वप्रथम सम्राट ह्वांगटी—"पीत सम्राट" ने २६९७ ई० पू० से चीन में राज्य करना प्रारम्भ किया और वहां एक साम्राज्य की स्थापना की। इस सम्राट ने लगभग पूरे १०० वर्षों तक चीन में राज्य किया। इसी सम्राट को चीन राष्ट्र का निर्माता माना जाता है और चीनी लोग सभी अपने आपको इस पीत सम्राट वंशज मानते हैं। यह सम्राट महापंडित, विद्वान एवं आविष्कर्त्ता था। इसी ने निम्न चीजों का आविष्कार किया—(१) टोपी और पहनावा (२) गाड़ी और नाव

(३) चूना और रंग (४) तीन कमान (५) कुतुवनुमा (६) मुद्रायें (७) कफन। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल से चली आती हुई अनेक अन्य वस्तुओं में इसने सुधार किये। अपनी अपार अभिधा शक्ति से इसने ऋतु-निर्देशक-विद्या, सौर मंडल के ज्ञान आदि में अभूतपूर्व सुधार किये। लेखन-कला भी अपनी पूर्ण विकसित स्थिति में इसी सम्राट के प्रयत्नों से इसी के काल में पहुंची। सम्राट के दो मन्त्री थे, जिनका काम केवल इतिहास लिखना था। इसी काल से चीन का लिखित इतिहास मिलता है एवं साहित्य तथा अन्य कलाओं की अनेक पुस्तकें भी। किन्तु दुर्भाग्यवश ये रिकार्ड्स बहुत से अब उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि चीन-सी-ह्वांग (२४६–२०७ ई० पू०) के जमाने में बहुत से पुरातन ग्रन्थ सम्राट के आदेश से जला दिये गये थे। फिर भी अनेक ग्रन्थ छिपाकर रख लिये गये थे और जलने से बचा लिये गये थे। चीन के प्राचीन ग्रन्थों में दो प्रमुख हैं– "यी-चीन" (Yi-Chin) अर्थात् 'परिवर्तन के नियम" एवं "शी-चीन" (Shi-Chin) अर्थात् "गीतों के नियम।"

पीत सम्राट ह्वांगटी के बाद दो और प्रसिद्ध सम्राट हुए, तांगयाओ (२३५६–२२५५ ई० पू०) और यू-शुन (२२५५–२२०६ ई० पू०)। इन दोनों सम्राटों ने अपनी अपूर्व आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से बहुत सुन्दर ढंग से चीन में राज्य किया। चीनी धर्म-गुरु एवं विद्वान कनफ्यूसियस इन सम्राटों को आदर्श सम्राट मानता था और उनकी राज्य व्यवस्था को आदर्श राज्य-व्यवस्था।

३. विकास एवं विस्तार (२२०६ से २५५ ई० पू०)

इस काल में तीन प्रमुख राजवंशों ने राज्य किया। (१) सुई, (२) शांग और (३) चाऊ। इस प्रारम्भिक काल में चीनी सभ्यता अपनी चरम उत्कर्ष की स्थिति में थी।

सुई काल (२२०५–१७६६ ई० पू०)—इस वंश में १७ सम्राट हुए। प्रथम सम्राट यू-महान् ने देश को नदियों की आफत से बचाया। चीन की नदियों में बार बार भयंकर बाढ़ें आया करती थीं, घर खेत सब बह जाया करते थे। लाखों आदमी बे घर-बार हो जाते थे, यह एक राष्ट्र व्यापी आफत हुआ करती थी, यू-महान् ने बहुत ही बुद्धिमानी और इन्जीनियरिंग कुशलता से चीन की ६ बड़ी नदियों का रास्ता खोल कर उनका प्रवाह समुद्र की ओर मोड़ा, जिससे वे नदियां समुद्र में गिरने लगीं। इसी सम्राट के विषय में एक चीनी कहावत है "यदि यू-न होता तो हम सब मछली हो जाते।" इसी काल में ठेठ दूसरी दुनिया में, मिस्र और उधर मसोपोटेमिया में लोग नील नदी और यू-फ्रीटीस और टाईग्रीस नदियों के प्रवाह से खेतों की सिंचाई की कला का विकास कर रहे थे। समस्त देश को सम्राट ने ६ भागों में विभक्त किया, समस्त देश से धातुएं एकत्र कीं एवं प्रत्येक भाग में इन धातुओं के बने बड़े बड़े महान् कढाव रक्खे।

शांग काल (१७६६–११२३ ई० पू०)—इस वंश में १८ सम्राट हुए। शांग काल के धातुओं के बने वर्तन तथा अन्य कला-कौशल के काम अब भी

आश्चर्य की वस्तु बने हुए हैं। इसी काल के सम्राटों का बनाया हुआ जेड महल प्रसिद्ध है।

चाऊ काल (११२२–२५५ ई० पू०)—इस वंश में ३७ सम्राट हुए। चाऊ काल चीन के इतिहास का स्वर्ण युग माना जाता है। इस काल में सभ्यता एवं संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में उत्थान एवं प्रगति हुई। चीन के प्रसिद्ध धर्म गुरु, विद्वान और महात्मा–कन्फ्यूसियस, लाओत्से तथा अन्य जैसे मैन-सियस, मोटजू, चुवांग-जू, यांग-जू एवं सुन-जू इसी काल में हुए। इन महात्माओं की शिक्षा का प्रभाव अब भी समस्त चीनी राष्ट्र मानस पर अंकित है। इस काल में भिन्न भिन्न १० दार्शनिक विचारधारायें चीन में प्रचलित थीं। इन लोगों के दर्शन एवं विचारों का अध्ययन आगे करेंगे।

इसके अतिरिक्त दो महान् सामाजिक आन्दोलनों ने इस युग में प्रगति की। पहिला राज्य सम्बन्धी प्रबन्ध का विकास। समस्त देश को भिन्न भिन्न प्रान्तों में विभक्त किया गया एवं भिन्न भिन्न प्रान्तों को छोटी छोटी इकाइयों में। इन इकाइयों के शासकों को प्रतिवर्ष सम्राट के पास अपनी इकाइयों के शासन प्रबन्ध की रिपोर्ट भेजनी पड़ती थी। सम्राट की केन्द्रीय सरकार भिन्न-भिन्न इकाइयों का निरीक्षण भी करती थी। दूसरा आन्दोलन "चिंगटीन" (Ching Tien) प्रणाली कहलाता है। वह भूमि-विषयक प्रबन्ध की एक विशेष प्रणाली थी। इसके अनुसार यह मान्यता थी कि समस्त भूमि का स्वामित्व राष्ट्र के हाथों में है। सब भूमि सब देशों के लोगों में बराबर विभक्त थी, और प्रत्येक को अपनी भूमि के नवें हिस्से की उपज राज्य को देनी पड़ती थी जिससे शासन प्रबन्ध का खर्चा चल सके।

इसी चाऊ काल में कुतुबनुमा, कागज, छपाई एवं बारूद का आविष्कार हुआ। स्थापत्य, धातु-विद्या, बढ़ई की विद्या, युद्ध कला, शासन कला, लेखन, संगीत, गणित आदि विद्याओं का खूब अध्ययन और विकास हुआ।

४. भारत से सम्पर्क (२५५ ई० पू० से ६६० ई० सन्)

इस काल का विशेष ऐतिहासिक महत्व इसी में है कि चीन भारत के सम्पर्क में आया। यह सम्पर्क एक दूसरे को पराजित या त्रसित करने के लिए या लूटने के लिए नहीं था। चीन और भारत उस प्राचीन काल में ऐसे मिले थे जैसे कोई दो सद्भावी जन मिल रहे हों। इस मिलन से दोनों का भावगत और सांस्कृतिक उत्कर्ष हुआ। इस काल में तीन प्रमुख राज्यवंशों का राज्य रहा–चिन, हान और तांग वंश।

चिनवंश (२५५–२०७ ई० पू०)—उपर्युक्त चाऊ वंश के राज्यकाल के अन्तिम दिनों में केन्द्रीय शासन ढीला पड़ गया था। समस्त देश की छोटी-छोटी शासन इकाइयों के शासक स्वतन्त्र बन गये थे। एक संघीय शासन की भावना लुप्त हो चुकी थी। राज्यों में परस्पर युद्ध होते रहते थे, साधारण मानव अपने पुरातन के प्रेम और अन्ध-विश्वास में डूबा हुआ था। विद्वान और दार्शनिक पुरातनवाद की दुहाई देकर अकर्मण्य बने हुए थे। ऐसी परिस्थितियों

में चिन प्रान्त का एक प्रबल शासक उठा, चाऊ राज्यवंश को उसने उखाड़ फेंका, स्वयं चीन का सम्राट बना और चिन राज्यवंश की नींव डाली। यह वही काल था जब प्रियदर्शी सम्राट अशोक भारत में राज्य कर रहा था। चिन राजवंश के सबसे प्रसिद्ध सम्राट का नाम वांग-चेंग था। उसने अपना यह नाम छोड़ कर "शी हुवांग टी" (शी = प्रथम; हुवांग टी = सम्राट; प्रथम सम्राट) नाम धारण किया। इसी नाम से वह इतिहास में प्रसिद्ध हुआ। इसने २३०-२११ ई० पू० तक राज्य किया। अनेक छोटे-छोटे राजा कहते हैं उस समय छोटे-बड़े राज्यों की संख्या लगभग ६ हजार थी। शासक और सामन्त लोग जिनका जाल देश में फैला हुआ था, उन सबको दबा कर और परास्त करके इस सम्राट शी-हुवांग टी ने सबको अपने अधीन कर लिया और समस्त देश को एक सुदृढ़ केन्द्रीय राज्य के सूत्र में बांध दिया। इतने बड़े साम्राज्य को अपने अधीन रखने के लिए एवं सेना के आवागमन के लिए देश में सड़कों और नहरों का एक जाल सा बिछवा दिया। चीन का यह एक प्रबल सम्राट था। एक अद्‌भुत अहंभाव इसमें था, वह चाहता था कि उसी के नाम से चीन के सम्राटों की वंशावली चले और उसी के काल से चीन के इतिहास की गणना हो। कुछ ऐसी किवदन्ती भी है कि चिन राज्यवंश के नाम से इस देश का नाम चीन पड़ा। इस उद्देश्य से कि वही चीन का प्रथम सम्राट माना जाय। उसने आदेश दिया कि चीन की सभी प्राचीन ऐतिहासिक पुस्तकें, वह इतिहास जो प्रायः २००० वर्ष पुराना हो चुका था, जला दी जायं, समस्त दार्शनिक ग्रन्थ जला दिये जायं एवं उन सभी विद्वानों को मौत के घाट उतार दिया जाय जो प्राचीन दर्शन और इतिहास की बातें करते थे। २१३ ई० पू० में इस प्रकार हजारों प्राचीन पुस्तकें जला दी गईं और लगभग ४०० विद्वान दार्शनिक और विचारक कत्ल कर दिये गये। केवल वे ही पुस्तकें रखी गई जो वैद्यक और विज्ञान से सम्बन्धित थीं। यह भयानक बर्बरता है किन्तु वास्तव में एक बात और भी थी। चाऊवंश के राज्य काल में चीन के उपदेशकों की संख्या बढ़ चली थी, इनमें से अधिकतर तो अकर्मण्य, केवल शब्द सुवाचाल थे, जिनका अतीत की दुहाई के बिना काम नहीं चलता था। उनकी निगाह में प्राचीन वर्तमान की अपेक्षा सब प्रकार से सुन्दर और महान् था, सर्वदा प्रत्येक अवसर पर ये केवल अतीत का उदाहरण देते थे और वर्तमान जीवन और समाज को तुच्छ मानते थे। एक दृष्टि से देश को इनसे हानि ही हो रही थी।

चीनी दीवार—ज्यों ही हुवांग-टी का साम्राज्य अच्छी तरह से चलने लगा उसने बर्बर हूण लोगों का सवाल हाथ में लिया जो उत्तर-पश्चिम में देश में लगातार हमले करते रहते थे, लूटमार मचाते रहते थे और चीनी प्रजा को त्रस्त करते रहते थे। पूर्ववर्ती छोटे-छोटे शासकों ने एवं प्रजाजन ने इन बर्बर लोगों के हमले से बचने के लिए जगह-जगह कई छोटे-मोटे किले और कई स्थलों पर दीवारें बना रखी थीं। चिन-वंश के इन सम्राट ने बर्बर घुड़सवार, घुमक्कड़ लोगों के हमले से स्थायी रूप से बचने के लिये उस तमाम लम्बी दूरी में जिधर से हमले होते थे एक मजबूत दीवार बनाने का दृढ़ संकल्प किया। अतुल धन राशि, जन और शक्ति लगाकर इन दीवारों

के टुकड़ों को और किलों को जो पहले ही से बने हुए थे जोड़ते हुए उसने एक विशाल लम्बी दीवार बनवाई। यह दीवार देश के उत्तर में एक अलंघ्य परकोटा के समान खड़ी हो गई। यह दीवार लगभग २२५० मील लम्बी है, १५ से २० फीट तक ऊंची, १० से १५ फीट तक चौड़ी। इस दीवार में जुड़े हुए लगभग २० हजार गुम्बज हैं जिनमें प्रत्येक में लगभग १०० सिपाही रह सकते हैं। इतने मील लम्बी, इतनी ऊंची और चौड़ी, जिनमें लगभग २० हजार गुम्बज हों, और इसके अतिरिक्त १० हजार अन्य छोटे-मोटे निगरानी के लिए स्तम्भ हों, सचमुच एक चमत्कारिक वस्तु है। दुनिया के प्राचीन युग की ७ आश्चर्यजनक वस्तु में से यह एक वस्तु है। २२८ से २१० ई० पू० में यह दीवार बनी। इस प्रकार लगभग सवा दो हजार वर्ष इसको बने पूरे हुए। यद्यपि बीच-बीच में कई स्थानों पर आज यह दीवार ध्वस्त हो गई है किन्तु फिर भी लगभग सवा दो हजार मील लम्बी यह दीवार आज भी खड़ी है। मिस्र के अद्भुत पिरामिड भी इस विशालता के सामने चींटियों के घर के समान दिखते हैं। मनुष्य के हाथों से बनाई हुई इस संसार में और कोई दूसरी चीज इतनी बड़ी नहीं है।

शी-हुवांग-टी की मृत्यु के बाद चिन वंश में कोई शक्तिशाली सम्राट नहीं हुआ। उसकी मृत्यु के कुछ वर्ष बाद हान वश की स्थापना हुई।

हान वंश (२०७ ई० पू० से २२० ई० सन् तक)—लगभग ४०० वर्ष के हान वंश के राज्यकाल मे चीनी साम्राज्य का विस्तार दक्षिण में ठेठ आधुनिक अन्नाम प्रान्त से लेकर पच्चिम में हिन्दूकुश पर्वत के उत्तर में मध्य एशिया तक था। इस विस्तृत साम्राज्य में केन्द्रीय शासनाधिकार इसी एक तरकीब से कायम रखा जा सका कि दूर-दूर प्रान्तों में केन्द्रीय राजधानी से ही शासन चलाने के लिए कर्मचारी नियुक्त होते थे। इसी काल में सम्राट ने चांग-ची नामक एक व्यक्ति को पच्छिमी देशों में भ्रमण करने के लिए भेजा। चांग-ची की यात्रा के वर्णन के फलस्वरूप चीन को अपने इतिहास में प्रथम वार इस बात का भान हुआ कि इस दुनियां में दूसरे लोग और दूसरी सभ्यतायें भी थीं। ईरान, मिस्र, मेसोपोटेमिया और रोमन साम्राज्य का इनको पता लगा। तभी से चीन की मुख्य दस्तकारी की चीजों के व्यापार की शुरूआत और वृद्धि उपरोक्त पच्छिमी देशों से हुई। रेशम की गांठें लेकर ऊटों, खच्चरों और गधों के लम्बे-लम्बे काफिले पच्छिमी चीन और मध्य एशिया के पठारी और रेगिस्तानी मार्गों को पार करते हुए ईरान तक पहुंचते थे और वहां से मिस्र और सीरिया के व्यापारी रेशम खरीद कर रोम तक पहुंचाते थे। चीन में रेशम का उद्योग प्राचीन काल से ही घर-घर में प्रचलित था। आज भी यह गृह उद्योग चीनी जनता का मुख्य उद्योग है।

इसी काल में प्राचीन सामाजिक संगठन में परिवर्तन हो रहे थे। देश में एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन था, अन्य देशों के साथ रेशम का व्यापार खुल जाने से लोगों के आर्थिक जीवन में परिवर्तन आ रहा था, चीन का पण्डित, दार्शनिक और विद्वान वर्ग जो चिन राज्य-वंश काल में दबा

दिया गया था फिर से उत्थित हो रहा था और यह विद्वतवर्ग फिर से प्राचीन साहित्य और दर्शन की पुस्तकों को ढूंढ-ढूंढ कर निकाल रहा था और उन पुस्तकों का उचित अन्वेषण करके उनका सम्पादन कर रहा था। इसी काल में चीन के प्रसिद्ध इतिहासकार शूमा-चीन (जन्म १४५ ई० पू०) का उदय हुआ जिसने भिन्न-भिन्न शासकों के राज्य घरानों में से प्राचीन पुस्तकें ढ़ूंढ कर, उनका अध्ययन करके, चीन का अति प्राचीन काल से लेकर ई० पू० पहली शताब्दी तक का एक विषद इतिहास तैयार किया। ग्रीस के प्रथम इतिहासकार हीरोडोटस (४८४-२२५ ई० पू०) की तरह शूमा-चीन चीन का प्रथम इतिहासकार माना जाता है। हान राज्य वंश के ही काल में राज्य-कर्मचारी चुनने के लिए परीक्षा प्रणाली का प्रचलन हुआ। जिस प्रकार वर्तमान काल के कई देशों ने राज्य के ऊंचे- प्रबन्धक और कर्मचारी चुनने के लिए सरकार की ओर से प्रतियोगिता परीक्षायें होती हैं, आज से २००० वर्ष पूर्व चीन में कुछ-कुछ ऐसी ही प्रणाली स्थापित हुई। परीक्षार्थियों को विशेषतः चीन के महात्मा कनफ्यूसियस प्रणीत पुस्तकों के ज्ञान में उत्तीर्ण होना पड़ता था। परीक्षा की यह प्रणाली आधुनिक काल तक चलती रही; कुछ ही वर्ष पूर्व यह खत्म हुई है।

चाय का आविष्कार—ई० पू० २-३ शताब्दियों में प्राचीन काल के जादू-टोना करने वालों में लोगों का कुछ अधिक विश्वास बढ़ा। हान वंश के अशिक्षित शासकों में कुछ जादूगर लोगों ने यह विश्वास जमाया कि उनके पास चिरायु होने के लिए एक अद्‌भुत दवाई रहती है जिसको पहाड़ और जंगलों की जड़ी-बूटियों से बनाया जाता है। इतिहासकारों ने ऐसा अनुमान लगाया है कि हान राज-वंश के ही काल में जीवन-दायिनी बूटी की खोज करते करते लोगों को चाय का पता लगा। इसकी सुगन्ध और स्वाद से चीनी लोगों का यह एक प्रिय पेय बन गया। धीरे-धीरे चाय उनके सामाजिक जीवन का एक मुख्य अंग बन गई। यूरोपियन लोगों को तो चाय का पता कहीं १८वीं शती में जाकर लगा।

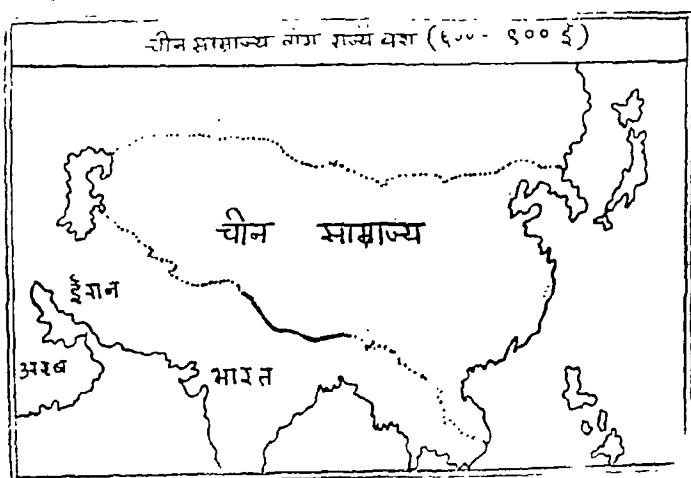
हान राज-वंश काल में ही चीन भारत के सम्पर्क में आया और चीनी सभ्यता और संस्कृति पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति का अमिट प्रभाव पड़ा। यों तो ऐसा माना जाता है कि "चिन" राज-वंश के पहिले ही भारत का चीन से सम्बन्ध हो गया था किन्तु निश्चित ऐतिहासिक काल जब स्वयं चीनी सम्राट ने बुद्ध धर्म का स्वागत किया वह है ई० सन् ६७। इसके बाद तो अनेक चीनी विद्वान भारत आये एवं भारतीय विद्वान चीन में गये और इस प्रकार दोनों देशों का सम्पर्क बढ़ा। यह सम्पर्क राजनैतिक अथवा आर्थिक नहीं था, यह सम्पर्क धार्मिक एवं आध्यात्मिक था। ऐसे प्रसिद्ध चीनी विद्वान जो कई भारतीय भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित थे, जिन्होंने भारत का भ्रमण किया एवं जो भारत से बौद्ध साहित्य के हजारों ग्रन्थ एवं प्रतिलिपियां चीन में ले गए एवं उनमें से अनेकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, मुख्यतया तीन हैं—फाइयान, ह्वांसांन, एवं आइसिंग। वे भारतीय विद्वान भी जिन्होंने चीन में जाकर वहां बौद्ध धर्म का प्रचलन किया एवं अनेक बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया मुख्यतया ३ हैं,—कश्यपमतूंग, कुमारजीव, गुण-

रत्न । ये वे विद्वान थे जिन्होंने दो महान संस्कृतियों का परस्पर मेल बढ़ाया। भारत में उत्पन्न बौद्ध धर्म का प्रभाव चीन पर इतना पड़ा कि मानो वह वहां का राष्ट्रीय धर्म ही बन गया। जन साधारण में अपने प्राचीन दार्शनिक विद्वानों एवं महात्माओं कनफ्यूसियस और लाओत्से का नाम इतना प्रचलित नहीं रहा जितना स्वयं बुद्ध भगवान का। स्थान-स्थान पर बुद्ध भगवान की सुन्दर-सुन्दर मूर्तियों का, विशाल बौद्ध मन्दिरों, स्तूपों एवं पेगोड़ाओं का निर्माण हुआ। कनफ्यूसियस और लाओत्से के मन्दिर तो केवल बड़े-बड़े शहरों तक ही सीमित रह गये, बुद्ध भगवान के मन्दिर छोटे-छोटे गांवों तक बन गये। इसके अतिरिक्त चीन के दर्शन, कला, साहित्य, नृत्य एवं संगीत पर भी भारतीय संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। फ्रेस्कोपेन्टिंग (दीवार की चित्रकारी) का प्रचलन भी भारत से ही चीन में आया। इस युग में चीन का साहित्य चित्र-कला एवं स्थापत्य कला अपनी चरम उत्कर्ष सीमा तक पहुंचे। जिन राज्य वंश के "आफैंग-महल" एवं हान राज्य-वंश के ",वांई-याग महल" कल्पनातीत सौन्दर्य के हैं।

तांग राज्य वंश (६१८-९०६ ई०)—सन् २२० ई० में हान-वंश के समाप्त होने के बाद देश फिर कई टुकड़ों में विभक्त हो गया। देश में अराज-कता का प्रसार हो गया, साधारण जन नियम, शांति और स्थायित्व के राज्य को भूल गया। चार सौ वर्षों तक ऐसी स्थिति बनी रही। गड़बड़ के इन चार सौ वर्षों तक, यथा २२० से ६१७ ई० तक छोटे मोटे राज्यवंश के राजाओं का राज्य किसी प्रकार चलता रहा। फिर उत्तर पच्छिम के तांग प्रान्त से एक शक्तिशाली बुद्धिमान नवयुवक शासक का उदय हुआ। चीनी राजाओं की तरह उसने सम्पूर्ण देश को फिर एक सशक्त केन्द्रीय शासन के आधीन किया और तांग राज्य-वंश की नींव डाली। इतिहास में यह वीर योद्ध और कुशल शासक तांग तांई-शुंग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। शासन की नींव इसने इतनी दृढ़ जमाई के तांग-वंश का राज्य ३०० वर्ष तक बहुत आराम से चलता रहा। इस वंश का राज्य काल केवल शासन व्यवस्था की कुशलता से ही प्रसिद्ध नहीं, किन्तु इसके राज्य काल में काव्य और चित्रकला के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। इसका राज्य काल कविता का स्वर्ण युग कहलाता है।

जिस काल में अर्थात् ८ वीं, ९ वीं और १० वीं शताब्दी में चीन में तांग-वंश का राज्य था, प्रायः समस्त यूरोप पर एक अंधकारमय युग छाया हुआ था निकट पूर्वीय देशों (अरब, ईराक, एशिया-माईनर, ईरान) पर इस्लामी आंतक छाया हुआ था और भारत को छोड़ संसार में कोई भी ऐसा देश नहीं था जहां की सभ्यता और संस्कृति चीन की सभ्यता और संस्कृति के समान समृद्ध हो। उस काल में चीनी सम्राटों की राजधानी में विदेशी लोगों का स्वागत होता था और अनेक धर्मों के लोग वहा पर बसे हुए थे, कुछ ईसाई, कुछ मुसलमान, कुछ फारसी। उस काल की एक मसजिद केण्टन नगर में आज भी मिलती है। इस्लाम धर्म के उदय होने के पूर्व भी अरब लोगों का चीन से सम्बन्ध रहा था और यह अनुमान लगाया जाता है कि अरब लोगों ने कई कलाओं का ज्ञान, विशेषकर कागज बनाने की कला का ज्ञान चीनियों से सीखा और फिर अरब लोगों से यूरोप ने इस कला को सीखा। इसी काल में अरब

और चीन के जहाजों में सामुद्रिक व्यापार भी होता था। ऐसा भी कहा जाता है कि सन् १५६ ई० में चीन के सम्राट ने मनुष्य गणना भी करवाई थी और उस गणना के अनुसार उस समय चीन की जन संख्या लगभग ५ करोड़ थी, आज सन् १९५० में ५० करोड़ है। मनुष्य गणना का विचार इतिहास में सर्व प्रथम स्यात् चीन में ही पढ़ने को मिलता है। वास्तव में धर्म के प्रति कट्टरता का भाव चीनी लोगों में कभी भी नहीं रहा। भारत से बौद्ध भिक्षु आते रहते थे और उन बौद्ध भिक्षुओं के साथ साथ नई कला, नये विचार और नया साहित्य। ऐसा अनुमान है कि उस समय ३ हजार भारतीय बौद्ध भिक्षुक और १० हजार भारतीय कुटुम्ब चीन के अकेले एक लाओ-यांग प्रान्त में रह रहे थे। दूसरे प्रान्तों में भी अनेक भारतीय बसे हुए होंगे। यह बात नहीं कि नई कला और नया साहित्य और नये विचार यों के यों चीन में अपना लिये जाते थे। वास्तव में चीन की स्वयं अपनी प्राचीन विचार-धारा, स्वयं अपनी कला और साहित्य था। भारत से आई हुई वस्तु नए वायु-मण्डल के अनुरूप परिवर्तित होकर ही चीन की कला साहित्य और विचारों में घुल मिल पाती थी। यहां तक कि जिस बौद्ध धर्म का चीन अथवा जापान या कोरिया में विकास हुआ वह कई बातों में उस बौद्ध धर्म से भिन्न था जो भारत में आया।



चीन साम्राज्य तांग राज्य वंश (६०० - ९०० ई)

तांग राज्य-वंश काल के काव्य और चित्रकला संसार के इतिहास में अद्वितीय हैं। इस राज्य-वंश के संत कलाकार वू-ताओ-ज़ू (जन्म ७०० ई०), कवि-चित्रकार वांगवी (६९९-७५९ ई०) एवं लिन सी युआंग (६५१-७१६ ई०) प्रसिद्ध हैं। इनके चित्र विश्व में अपना ही एक स्थान रखते हैं। प्रसिद्ध कवि ली पो (७०५-७६२ ई०), प्रसिद्ध संत कवि थु-फु (७१२-७७० ई०), एवं निबन्धकार हान-यू (७६८-८२४ ई०) इसी काल में हुए। इसी काल में ७२० ई० में एक तांग सम्राट ने अपने ही महल के उद्यान में एक विशाल संगीत विद्यालय की स्थापना की जहां संगीत के कई सौ विद्यार्थी पढ़ते थे। इसका प्रभाव चीन के नाटक-स्टेज पर पड़ा। चीन का स्टेज अधिक संगीत-प्रधान बना। चीनी लोगों का मुख्य वाद्य-यन्त्र बांस की बनी बांसुरी रहा है।

मंगोल लोगों से उन्होंने भारतीय सारंगी की तरह के एक वाद्य यन्त्र का भी प्रयोग सीखा।

आधुनिक काल में, सन् १७०७ ई० में, चीन के एक सम्राट ने प्राचीन तांग राज्य-वंश के समस्त काव्यों का संग्रह करवाया था और उन्हें छपवाया था। इन समस्त काव्यों की कुल ९०० जिल्दें बनी थीं।

चीन की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति

चीन की सभ्यता प्राचीन काल से (अनुमानतः ४-५ हजार वर्ष ई० पू० से) आधुनिक काल तक एक अजस्र धारा के समान प्रवाहित रही है। उस सभ्यता की प्रायः एक ही प्रकार की धीमी गति रही है, और वहां का साधारण जन मानों आज भी वैसा ही है, वैसी ही उसकी गति विधि है, वैसा ही उसका परिवार है, जैसा प्राचीन काल में था।

परिवार

चीन की सभ्यता, चीन के समस्त समाज, राष्ट्र और स्वयं व्यक्ति के संगठन का आधार "परिवार" रहा है। सभ्यता और समाज का दूसरा आधार रहा है "पूर्वजों की पूजा की भावना।" चीन के महात्मा कनफ्यूसियस की शिक्षा है कि जीवन एक सतत बहने वाली धारा है और यह धारा तभी तक बहती रह सकती है जब तक समाज और राष्ट्र में परिवार की प्रतिष्ठा है, क्योंकि परिवार में ही नया जीवन उद्भूत होता है, वहीं उसका उचित पालन-पोषण और विकास सम्भव है। परिवार में ही मनुष्य की जन्म-जात स्वाभाविक भावनाओं और वृत्तियों की अभिव्यक्ति और पूर्ति संभव है। इन वृत्तियों की पूर्ति होना जीवन के लिए आवश्यक है। इस परिवार में पति-पत्नी का सम्बन्ध प्रमुख है, और इसी एक सम्बन्ध पर अन्य पारिवारिक सम्बन्ध आधारित हैं। कनफ्यूसियस के इन्हीं विचारों के अनुसार, परिवार में किसी भी लड़के के विवाह के समय यह बात मुख्यतया देखी जाती है कि लड़की जो पत्नी बनकर आ रही है क्षमतावान और गुणवती है या नहीं, क्योंकि उसी के गुण और क्षमता पर पुत्रों में क्षमता और उचित गुणों का होना आधारित है—वे पुत्र जिनसे परिवार की वंश परम्परा भविष्य में आगे बढ़ती रहेगी। चीन में जीवन की इकाई परिवार से मानी जाती है न कि व्यक्ति से। व्यक्ति राजा और समाज से बड़ा और अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है, किन्तु परिवार से अधिक बड़ा और महत्वपूर्ण नहीं; क्योंकि परिवार से परे उसकी कोई पृथक् स्थिति नहीं मानी जाती। पूर्वजों की पूजा चीन के सामाजिक और धार्मिक जीवन का एक अङ्ग है। वर्ष में एक दिन निश्चित होता है जिस दिन बड़े समारोह और उत्साह के साथ राष्ट्र भर के परिवारों में कुछ सुन्दर बनी हुई पट्टियों (Tablets) की पूजा होती है, जिन पर पूर्वजों के नाम सुन्दर ढंग से अंकित होते हैं और जो पूर्वजों के नाम की स्मारक मानी जाती हैं, चाहे कोई बौद्ध धर्म का पालन करने वाला हो, चाहे ताओ, कनफ्यूसियस, ईसाई या मुसलमान धर्म का, पूर्वजों की पूजा का यह धार्मिक समारोह तो राष्ट्र भर में चलता ही रहता है।

सामाजिक और आर्थिक संगठन

चीन के लोगों का, अन्य प्राचीन सभ्यताओं की भांति, प्रकृति और

प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में वास करने वाले अनेक देवी-देवताओं में विश्वास रहा है और चीनी लोग अपनी सुख समृद्धि के लिए इन देवताओं के सामने बलि चढ़ाते रहे हैं। इनके सर्वप्रमुख देवता "स्वर्ग पिता" हैं। चीन का सम्राट "स्वर्ग पिता" का पुत्र माना जाता है और मुख्य पुरोहित भी। चीन के प्रसिद्ध नगर पेकिंग में "स्वर्ग की देवी" नामक एक विशाल मन्दिर है जहां प्रतिवर्ष चीन के सम्राट शीतकाल में पूजा और प्रार्थना करते रहे हैं और बलि चढ़ाते रहे हैं, इस उद्देश्य से कि आगन्तुक वर्ष धन धान्य से पूर्ण हो। यही चीन का सम्राट और धर्म पुरोहित चीन के समाज का सर्व प्रथम व्यक्ति माना जाता रहा है। सम्राट के नीचे चार वर्ग के लोग प्रायः मान्य थे:—

१. मण्डारिन—यह चीनी समाज का एक विशेष वर्ग था। ये उच्च शिक्षा प्राप्त लोग होते थे जो प्राचीन साहित्य, दर्शन, संगीत, इतिहास, गणित इत्यादि का अध्ययन करते रहते थे। चीन के समस्त ज्ञान-विज्ञान की स्थिति और परम्परा इन्हीं मण्डारिन लोगों में निहित थी। इसी वर्ग में से सरकार के सब उच्च-पदाधिकारी एवं कर्मचारी चुने जाते थे, और इसी वर्ग के लोग पूजा और अन्य धार्मिक कार्य भी करवाते थे। एक प्रकार से ये लोग भारत के ब्राह्मणों की तरह और पश्चिम के राज-पदाधिकारी एवं पादरी लोगों की तरह थे। मण्डारिन भारत के चार निश्चित वर्णों की तरह कोई एक निश्चित वर्ग या जाति नहीं। भारत में तो जातियां जन्म से मानी जाती हैं किन्तु चीन में किसी भी वर्ग या कक्ष या परिवार का व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करके मण्डारिन वर्ग में गिना जा सकता था। चीन में जन्म से या धन के आधार पर कोई वर्ग भेद नहीं है।

२. भूमि जोतने वाले किसान

३. दस्तकारी करने वाले लोग

४. व्यापारी वर्ग

उपर्युक्त चार वर्गों में यह बात ध्यान में आई होगी कि इनमें कोई भी वर्ग सैनिक नहीं है। वास्तव में बहुत अंशों तक चीनी सभ्यता एक शान्तिप्रिय सभ्यता रही है और वहां के राष्ट्रीय जीवन और मानस की रचना कुछ इस प्रकार की हुई है कि उस जीवन और मानस में युद्ध की बर्बरता या शौर के प्रति कुछ भी आकर्षण नहीं रहा है। हां, जङ्गली तातार या हूण लोगों से, जिनके हमले लूटमार के लिये बराबर चीन पर होते रहते थे, अपने धनजन और संस्कृति की रक्षा के लिये चीन के सम्राटों को सैनिक संगठन करने ही पड़े और उन सम्राटों में से कुछ एक दो ऐसे भी निकले जिन्होंने स्वदेश की सीमा पार करके पड़ोसी देशों पर भी (जैसे मध्यएशिया, हिन्द-चीन, तिब्बत इत्यादि पर) अपना आधिपत्य जमाने का प्रयास किया; अन्यथा वहां का जन और जीवन शांति-प्रिय ही रहा है—केवल शांति-प्रिय ही नहीं, किन्तु कलाप्रिय और विद्याप्रिय भी। चीन में सदा सर्वदा विद्वानों के

आदर और कला और साहित्य रचना की परम्परा रही है। विद्वानों के आदर की तो इतनी ठोस परम्परा जितनी विश्व के अन्य किसी देश या जाति में नहीं मिलती।

समाज का बहुसंख्यक वर्ग किसानों का रहा है। चीन भारत की तरह एक खेती प्रधान देश ही रहा है। वहां के किसान मुख्यत: चाय, गेहूँ, चावल, बाजरा, प्याज, सरसों और कपास की खेती हजारों वर्षों से करते आ रहे हैं। घरों में रेशम पैदा करना वहां का मुख्य गृह-उद्योग रहा है। पुरुष खेतों में काम करते हैं और स्त्रियां घरों में कपड़े की बुनाई का एवं अन्य सब घरेलू काम। कृषि-भूमि पर प्राचीन काल से ही किसानों का स्वामित्व रहा है और वे उचित भूमि-कर सरकार को देते रहे हैं। परिवार के स्वामी, पिता की मृत्यु पर भूमि का बंटवारा बराबर-बराबर भाईयों में होता है, इस प्रकार वहां अनेक छोटे-छोटे खेत हैं। राज्य और किसानों के बीच प्राय: कोई बड़ा जमीदारी वर्ग नहीं है, कुछ थोड़े से ऐसे जमीदार अवश्य हैं जिनके पास कुछ विशेष भूमि हो और उसको जोतने के लिये वे किसानों को किराये पर देते हों।

हर काल में हजारों लोग ऐसे रहे हैं जो भाइयों में बंटवारा होते-होते खेतों के छोटा हो जाने पर अपने खेतों को बेच देते थे; ऐसे ही लोगों की सम्राटों की सेना बनती थी और ऐसे ही लोग चीन की "महान दीवार" बनाने में लगे थे और सामूहिक मजदूरी का काम करते थे। प्राचीन मिस्र में बेबीलोन, ग्रीस और रोम की तरह चीन में कोई गुलाम वर्ग नहीं रहा है।

समाज में स्त्रियों का स्थान

प्राचीन चीनी समाज में स्त्री का स्थान बहुत गौरवपूर्ण नहीं मालूम होता। स्त्रियों को चल और अचल सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं था। कन्फ्यूसियस के समय तक तो यह दशा थी कि पिता अपनी पुत्री तथा पत्नी को बेच भी सकता था। स्त्री को घर के अलग कमरे में रहना पड़ता था और सामाजिक जीवन में उसका कोई स्थान नहीं था। कन्याओं को अपने कौमार्य की सजगतापूर्वक रक्षा करनी पड़ती थी, किन्तु कुमार पर ब्रह्मचर्य पालन करने का कोई विशेष आग्रह नहीं था। पुरुष तो कई विवाह कर सकते थे, एक ही विवाह की स्थिति में उपपत्नियां भी रख सकते थे, अपनी स्त्री को किसी भी कारण पर तलाक दे सकते थे किन्तु स्त्री को यह सब स्वतन्त्रता नहीं थी, मानो स्त्री तो पुरुष के केवल उपभोग का साधन हो। किन्तु स्त्री की एक नैसर्गिक महत्ता चीनी सभ्यता में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सर्वमान्य थी, वह यह कि केवल स्त्री ही परिवार का पालन करती थी—और परिवार की वृद्धि।

प्राचीन चीन में ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल की उन्नति

ई० पू० २५६ में चिन वंश के सम्राट शी ह्वांगटी "प्रथम सम्राट" के काल से लेकर सन् १६४४ में मिगवंश के राज्य काल तक, लगभग दो हजार वर्षों में,

चीन में साहित्य, कला, विज्ञान की खूब उन्नति हुई। इन दो हजार वर्षों के लम्बे काल में चाहे राज्यवंशों ने पलटा खाया हो, देश कई बार, छोटे-छोटे टुकड़ों और राज्यों में विभक्त हुआ हो, किन्तु ज्ञान और विज्ञान, साहित्य और दर्शन की उन्नति बराबर होती रही। इस काल में समस्त यूरोप, ग्रीक और रोमन सभ्यता काल के कुछ वर्षों को छोड़कर १५वीं शती में रिनेसां आने के पहिले तक प्रायः असभ्य और अन्धकारमय ही रहा। चीनी परम्परा को मानें तो कह सकते हैं कि गणित, ज्योतिष, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, जीव-शास्त्र एवं भूगर्भशास्त्र के प्रारम्भिक मूलतत्वों का ज्ञान चीनियों को हो चुका था। ये बातें तो ऐतिहासिक तथ्य है कि ई० पू० छठी शताब्दी तक वे सूर्य और चन्द्र ग्रहणों की सही-सही गणना करने लग गये थे एवं चन्द्रमा की गति पर आधारित पंचांग बनाने लग गये थे। चीन में बहुत प्राचीन काल में ही लेखन कला का आविष्कार हो चुका था। ई० पू० तीसरी शताब्दी में लेखन के लिये सुन्दर ब्रुश का; ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी में छपाई का; एवं ई० सन् की दूसरी शताब्दी में कागज का आविष्कार हो चुका था। अतएव पुस्तकें खूब छपती थीं। पांचवीं शताब्दी में दिगसूचक यन्त्र एवं छठी शताब्दी में बारूद का आविष्कार भी हुआ। चीनी कारीगर बड़े-बड़े विलक्षण पुल बनाते थे; वे चीज गरम करने के लिये एवं खाना पकाने के लिये कोयले और गैस का प्रयोग भी करने लग गये। जल शक्ति से अनेक भारी काम जैसे आटे की चक्की चलाना इत्यादि काम करने लग गये थे। प्राचीन काल से ही उनकी बड़ी-बड़ी सामुद्रिक जहाजें भी प्रचलित थीं एवं प्राचीन बेबीलोन, मिस्र और भारत से व्यापार होता था। इनेमल, लाख और हाथी दांत की खुदाई का बहुत सुन्दर काम करते थे। चमकदार रंगों के रेशमी कपड़े बुने जाते थे।

चीन की एक हस्तकला विशेष उल्लेखनीय है। वह है चीनी-मिट्टी के बर्तनों के निर्माण की कला। प्रत्येक युग में चीन के कुशल कलाकार पक्की चीनी की मिट्टी के सुन्दर सुन्दर बर्तनों की रचना करते रहे हैं। वहां की यह कला अति प्राचीन है, उसकी यह प्राचीनता पूर्व–प्रस्तर युग तक जाती है। वहां के बर्तनों की कलापूर्ण आकृतियों, सुखद शीतल रंगों और उन पर चित्रित चित्रों ने देश विदेश के लोगों को हमेशा मोहित किया है। इस कला में चीन शायद अपना कोई सानी नहीं रखता।

चीनी लोग कांसे तथा हाथी दांत की सुन्दर मूर्तियां भी बनाते थे। शान तथा चाऊ युग की अनेकों सुन्दर मूर्तियां प्राप्त हुई है। यहां के निवासी स्त्री पुरुषों की मूर्तियों का निर्माण करना उचित नहीं समझते थे, यद्यपि पशुओं की आकृतियों का अंकन बड़ी ही सजीवता के साथ किया जाता था। बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद चीन में मूर्ति-कला की असाधारण उन्नति हुई। तांग युग में बोधिसत्व अवलोकि–तेश्वर की सैकड़ों सुन्दर मूर्तियां बनी जो अब भी सुरक्षित हैं।

चीन की भवन निर्माण कला की विशेषता विशालता नहीं थी। भवन बनाने में चीनी लोग लकड़ी का अधिक उपयोग करते थे। बौद्ध धर्म के प्रचार

के बाद अनेक बौद्ध मन्दिर जिनको पगोड़ा कहते हैं, बनवाए गये। पेकिंग के निकट शयन करते हुए बुद्ध का एक मन्दिर है, जिसे फरगूसन नामक कला समालोचक ने चीन की सर्वोत्तम वास्तु कलाकृति कहा है।

काव्य और कला

चीन की चित्रकला में एक अनुपम अपनापन है जो विश्व के सभी अन्य देशों की कलाओं से सर्वथा भिन्न है। रेशम के कपड़ों या कागज पर अंकित चित्र—जिनमें न रंगों की कोई विशेष छटा है, न आकारों की विशेषता, न मानव या पशु आकृतियों की वास्तविकता—सहसा हृदय पर एक सौम्य शांत भाव अंकित कर जाते हैं,—मानो प्रत्येक चित्र एक कविता हो। कलाकार ब्रुश उठाता है, चित्रपट पर हल्के हाथ से इधर उधर कुछ ब्रुश लगाता है और एक स्थायी भाव का चित्र प्रस्तुत कर देता है। उसके चित्र में पर्सपैक्टिव —वस्तु की दूसरी या निकटता का, आकार या रूप की वास्तविकता का, लाईट, शेड या रंग का महत्व नहीं, चित्रकार तो बस कुछ रेखाओं से किसी भाव का, मन के किसी मूड का संकेत सा दे जाता है—ऐसा संकेत जो हृदय में अंकित हुए बिना नहीं रह पाता। चित्र के आकार [Form] में वह एक ऐसी मधुर लय उत्पन्न कर देता है जो मानो क्षणिक आभास दे जाती है उस एकरस शांति का जो सृष्टि के अन्तराल में छिपी है। चीनी चित्र इसी शांति या लय की अभिव्यक्ति है। जिस-जिस चित्रकार ने सचमुच इस भाव का अनुभव किया है और ईमानदारी से, आडम्बर रहित होकर सरल रीति से उसे अपने चित्र में उतारने का प्रयत्न किया है वही अपनी कला में महानता को प्राप्त हुआ। ऐसी कला में चित्र का विषय कुछ भी हो सकता है, किन्तु अधिकतर चित्रों का विषय प्रकृति ही है। चित्रों में फूल, पशु-पक्षी, कीड़े एवं एकान्त झरने खूब मिलते हैं। सबसे यही आभास मिलता है कि मानो प्रकृति और जीव, जगत की गति में एकरस होकर, चले जा रहे हों।

जो भाव चीन की चित्रकला में अंकित हैं वे ही भाव वहां की कविता में भी अंकित हैं, दोनों की आत्मा एक ही है। जैसे प्रत्येक चित्र मानो एक कविता है वैसे ही प्रत्येक कविता मानो एक चित्र है। चीन में अनेक चित्रकार कवि थे, और अनेक कवि चित्रकार। वहां महाकाव्यों का विकास नहीं हुआ और न लम्बी कविताओं का। काव्य की दुनियां में वहां छोटे-छोटे गीत हैं या छोटी-छोटी कवितायें, और वे भी शब्द, तुक और अलंकार के आडम्बर से बिल्कुल रहित—सीधे सादे छोटे-छोटे चित्रशब्द जो किसी भाव का आभासमात्र करा जाते हैं, और बस इतना हो गया तो कवि सफल। कविता का विषय कभी भी गम्भीर दार्शनिक नहीं; मानवीय मन की प्रतिदिन की सुख दुख की बातें, जगत की प्रत्येक वस्तु के प्रति आसक्ति का भाव, और फिर प्रकृति में शान्ति पा लेने की प्रच्छन्न इच्छा—बस यही कविता और गीतों के विषय हैं। कवि थु-फू की एक कविता का अंश लीजिये—

जब कोई जगह इतनी सुन्दर हो तो
मैं धीरे चलता हूं। चाहता हूं सौंदर्य मेरी आत्मा में उतर आय।

पक्षी के पंखों को छूना मुझे भाता है,
गहरी फूंक मैं उनमें देता हूं नीचे मुलायम बाल पाने को।
पंखड़ियों को गिनना भी मैं चाहता हूं
और तौलना उनके सौरभ को।
घास पर बैठना भी एक आनन्द है।
सुरा की यहां जरूरत नहीं फूल जो मुझे दे रहे हैं इतनी मस्ती।
खूब प्यार करता हूं मैं पुराने वृक्षों को—
और नीलम जैसी नीली समुद्र की लहरों को।[1]

प्राचीन चीन के तीन महान चित्रकारों [वू-ताओ-जू, वांगवी, लिनशी युआंग] का एवं दो महान् कवियों [ली-पो एवं थु फू] का उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है।

भाषा और साहित्य

ऐसा अनुमान है कि चीनियों ने लेखन कला [लिपि] का आविष्कार २००० ई० पू० से भी पहले कर लिया था। उनकी लिपि एक प्रकार की चित्रलिपि है, जिसमें प्रत्येक भाव, विचार, और वस्तु को प्रगट करने के लिए चित्र के समान अलग-अलग चिन्ह हैं, जो ऊपर से नीचे की ओर लिखे जाते हैं। ऐसे चित्रों की संख्या लगभग ४० हजार है। लोगों के लिये यह भाषा लिखना सीखना कितना कठिन होता होगा। आधुनिक युग में तो इसमें अनेक सुधार और परिवर्तन किये गये हैं और इसको सरल बनाया जा रहा है। खैर, उक्त कठिन चित्रलिपि में ही प्राचीन चीन के सभी ग्रन्थ लिखे गये। चीन का प्राचीन साहित्य विशाल है। केवल कुछ प्रमुख ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

चीन के प्राचीन ग्रन्थ तो दो माने जाते हैं—(१) यी-चिन, अर्थात् "परिवर्तन के नियम" (Book of Changes); (२) शी-चिन, अर्थात् "गीतों के नियम" (Book of Songs)। अनुमान है कि इनका संकलन २३५७ से २२०६ ई० पू० तक के काल में हो चुका था।

यी-चिन

इस ग्रन्थ में विश्व के रहस्य को समझाने का प्रयास करने वाले प्राचीन तात्विक विचार और अनुभूतियां संगृहीत हैं। विचारों की अभिव्यक्ति रहस्यात्मक है। चीन के प्राचीन महात्माओं ने जगत की परिवर्तनशीलता और गति को देखा। उन्होंने सोचा विश्व की प्रत्येक वस्तु, विश्व की प्रत्येक गति में दो आधारभूत तत्व समाहित रहते हैं। वे तत्व हैं "यांग" (पुरुष-प्राण, चेतन तत्व), और "यिन" (स्त्री, शक्ति,-जड़, भूततत्व)। इन दो तत्वों के परस्पर मिलन-विछोह में ही असंख्य रूप-रंग-गति वाली

1. Will Durant : "Our Oriental Heritage" में उद्धृत अंग्रेजी के अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर।

सृष्टि प्रक्रिया चलती रहती है, उसी मिलन विछोह में प्रकृति के समस्त नियम, इतिहास की समस्त गति समाई रहती है। जगत की इस समस्त गतिशीलता और परिवर्तनशीलता के पीछे चीनी महात्माओं ने एक मधुर समरसता की अनुभूति की। यी–चिन का चीनी साहित्य में वही महत्व है जो भारतीय साहित्य में वेद का है। छटी शताब्दी ई० पू० में चीन के महात्मा कनफ्यूसियस ने यी–चिन पर एक वृहद् भाष्य लिखा। उसके जीवन की एक जबरदस्त चाह यही थी कि यी–चिन का अध्ययन करते-करते वह अपना जीवनयापन कर दे।

शी–चिन

यह ग्रन्थ प्राचीन काल के छोटे–छोटे गीतों एवं कविताओं का संग्रह है। ये गीत छोटे-छोटे भाषा चित्र हैं उन प्राकृतिक दृश्यों के जो चीनी मानस को भाते थे। इन गीतों में सीधी, सरल अभिव्यक्ति है उस सहज आसक्ति की जो चीनी मानस में बनी रहती है सृष्टि के प्रत्येक साधारण वस्तु के प्रति—चावल और बाजरा के प्रति; ककड़ी, बेर, आड़ू और प्याज के प्रति; झील, पेड़, पर्वत–कगार और पक्षी के प्रति। प्रेम के गीत भी हैं। इन गीतों में उस प्राचीन युग के लोगों के दैनिक जीवन की झांकी मिलती है। शी–चिन अपने पूर्व प्राचीन रूप में उपलब्ध नहीं है। अवशिष्ट गीतों का कनफ्यूसियस द्वारा किया गया संग्रह मात्र प्राप्य है।

ताओ ते चिन (पथ की पुस्तक)

तत्व दर्शन का एक प्राचीन चीनी ग्रन्थ है–ताओ दर्शन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण संहिता। चीन के महान् दार्शनिक लाओत्से (६०४–५१७ ई० पू०) को इसका प्रणेता माना जाता है, किन्तु अधिकतर चीनी विद्वानों का मत है कि इस पुस्तक का अस्तित्व लाओत्से के बहुत अधिक पहले से है। ताओ का अर्थ है पंथ–ताओ एक रहस्यवादी दर्शन है जिसका सार है कि जगत में अपने पथ पर सहज भाव से चलते रहो। प्रकृति की गति में अपनी गति मिला दो, उसका विरोध न करो। दृश्य हलचल के पीछे अचल शांति है–अपने अन्तस्तल मे उसका आभास पालो।

महात्मा कनफ्यूशियस (५५१–४७८ ई० पू०) द्वारा प्रणीत या संपादित ५ ग्रन्थ जो पंच 'चिन' कहलाते हैं, एवं कुछ अन्य दार्शनिकों द्वारा प्रणीत ४ अन्य ग्रन्थ जो चार 'शू' कहलाते हैं, इस प्रकार कुल ६ ग्रन्थ, प्राचीन चीनी साहित्य में नव रत्न की तरह प्रसिद्ध हैं। कनफ्यूशियस के ५ ग्रन्थ ये हैं—

(१) ली ची—आचार के प्राचीन नियम, (२) प्राचीन ग्रन्थ यी-चिन (परिवर्तन के नियम) का भाष्य, (३) प्राचीन ग्रन्थ शी-चिन (गीतों के नियम) का संकलन, (४) चुन चिऊ–कनफ्यूसियस के प्रदेश लू का इतिहास, (५) शू चिन (इतिहास के नियम)–जिसमें प्राचीन चीन के इतिहास की शिक्षाप्रद एवं प्रेरणास्पद घटनायें संकलित हैं।

विचारों की क्षमता के दर्शन होते हैं। जैसा एक जगह ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थ वेद के समान चीनी लोगों का भी एक प्राचीन ग्रन्थ है—'यी-चिन' अर्थात् 'परिवर्तन के नियम'। इस ग्रन्थ में विश्व के रहस्य को समझने-समझाने के लिए चिन्तनशील और अनुभूत्यात्मक प्रयास है। चीन के प्राचीन महात्माओं ने विश्व और प्रकृति में एक अपूर्व सामंजस्य और समरसता की अनुभूति की और उन्हें यह भान हुआ कि जीवन की कला इसी में है कि विश्व और प्रकृति की इस समरस गति में मनुष्य भी अपनी लय मिला दे; अतः मनुष्य को आनन्द की अनुभूति तभी हो सकती है जब वह प्रकृति की गति के साथ अपने जीवन का सामंजस्य स्थापित कर ले। विश्व में, प्रकृति में परिवर्तन होते ही रहेंगे, मनुष्य को चाहिये कि वह अवश्यंभावी परिवर्तनों के साथ प्रवाहित होता रहे। वह विश्व और प्रकृति की गति को रोकने का व्यर्थ प्रयास न करे। समाज के जीवन में, राष्ट्र के जीवन में, व्यक्ति के जीवन में उत्थान होगा, पतन होगा, परिवर्तन होते रहेंगे और अन्त में मृत्यु भी होगी। इन सब बातों को प्रकृति की एक स्वाभाविक गति मान लेनी चाहिए और इन सब दशाओं की भवितव्यता को स्वीकार करते हुये जीवन को सहज गति से इनमें प्रवाहित होने देना चाहिये। यह भाव चीनी राष्ट्र के मानस में, व्यक्ति के मानस में संस्कार रूप से व्याप्त रहा है।

कनफ्यूसियस और लाओत्से

चीन के राजनैतिक और सामाजिक जीवन में अनेक परिवर्तन होते रहे, युग-युग में अनेक विचारक और महात्मा भी प्रगट हुये, जिनकी बाद में देवताओं के समान पूजा भी होने लगी और उनके मन्दिर भी बने, किन्तु प्रकृति की गति में शरणागति का भाव हर युग और हर काल में बना रहा। वे दो महात्मा जो चीन के सर्व प्रसिद्ध प्रतिनिधि दार्शनिक विचारक माने जाते हैं ईसा पूर्व छठी शताब्दी में चीन में प्रगट हुये। यह वही काल था जिस समय बुद्ध भगवान भारत में प्रगट हुये थे एवं ग्रीक दार्शनिक ग्रीस में सृष्टि की समस्याओं पर विचार कर रहे थे। ये दो महात्मा थे कनफ्यूसियस और लाओत्से। इन दोनों में भी कनफ्यूसियस को ही अधिक महत्वशाली माना जाता है, वैसे इन दोनों के ही विचारों का प्रभाव चीनी जीवन और चरित्र पर पड़ा। कनफ्यूसियस का जन्म ५५१ ई. पू. में एक उच्च राजकर्मचारी घराने में हुआ। अद्भुत उसका मानसिक विकास हुआ। चीन के प्राचीन ग्रन्थों का उसने अध्ययन किया, विशेषत. सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'यी-चिन' और 'शी-चिन' (अर्थात् 'परिवर्तन के नियम', 'गीतों के नियम') का। उसने एक विद्यालय की स्थापना की जिसमें लगभग तीन हजार विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। उपरोक्त प्राचीन ग्रन्थों के उसने भाष्य लिखे और ये ही प्राचीन ग्रंथ मुख्यतः उनके विद्यालय में शिक्षण के आधार रहे। कनफ्यूसियस ने जीवन में एक सामंजस्यात्मक और समरस गति लाने के लिए जीवन का व्यवहार कैसा होना चाहिए इस बात की शिक्षा दी। ऐसा जीवन कनफ्यूसियस के पहले प्राचीन काल में था, अतएव उसने अपनी शिक्षाओं का आधार चीन के उपरोक्त प्राचीन ग्रन्थ बनाये। व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन और राज-

नैतिक जीवन मे किस प्रकार का व्यवहार होना चाहिये, इसके उसने नियम निर्देश किये। उसने शिक्षा दी कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'अति' का परित्याग करते हुए, साधारण 'मध्यम' रास्ते में चलना चाहिए; न तो ज्यादा अच्छाई अच्छी और न ज्यादा बुराई अच्छी। इस प्रकार 'मध्यम' रास्ते पर चलते हुये जीवन के कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये और प्राचीन शास्त्रों में विश्वास रखना चाहिये। उसने पारिवारिक जीवन को नियमित करने का विशेष प्रयत्न किया; माता-पिता की सेवा पर विशेष जोर दिया और राजा और प्रजा के बीच पिता पुत्र के भाव को पुष्ट किया। समाज का नियमन करने के लिए उसने शील और सौजन्य को चरित्र का प्रमुख अंग माना। गौतम बुद्ध अहंभाव को भूलकर शान्ति प्राप्त करने पर तथा यूनानी दार्शनिक वाह्य ज्ञान पर और यहूदी एकेश्वरादिता पर जोर देते थे; कनफ्यूसियस ने व्यक्तिगत आचरण पर विशेष जोर दिया। कनफ्यूसियस महान बुद्धिवादी एवं व्यवहारिक था। यह तो उसका विश्वास था कि अखिल सृष्टि में एक केन्द्रीय शक्ति है जिसे वह 'स्वर्ग' ('ईश्वर') कहता था, किन्तु किसी व्यक्तिगत साकार ईश्वर में उसका विश्वास नहीं था और न वह मृत्यु के उपरान्त आत्मा जैसे किसी अमर 'तत्व' या पुनर्जन्म में विश्वास करता था।

सामाजिक जीवन में किसी प्रकार का विप्लव न हो उसके लिए उसने परम्परा की रक्षा करने का उपदेश दिया और यह वतलाया कि परम्परा के भाव की रक्षा परिवार भावना में होती है। उसके उपदेशों का चिर-स्थायी प्रभाव चीन और जापान की सभ्यता पर पड़ा। कनफ्यूसियस की शिक्षायें सरकारी रूप से मान्य हुईं; उनकी तमाम पुस्तकें विद्यालयों में और परीक्षाओं में पाठ्य पुस्तकें मानी गईं। कनफ्यूसियस की शिक्षाओं में इस बात पर विशेष आग्रह है कि अति का विसर्जन हो, व्यवहार और आचार में सौजन्यता हो; इसका यह प्रभाव पड़ा कि जीवन में एक विशेष माधुर्य बना रहा, उसमें कोई कटुता और भद्दापन न आ पाया और निकृष्ट भौतिकता से वह ऊपर उठा रहा। कनफ्यूसियस का ही समकालीन चीन का दूसरा महात्मा लाओत्से था। लाओत्से (६०४–५१७ ई. पू०) ने भी चीन के प्राचीन ग्रन्थों को अपनी शिक्षा का आधार बनाया, किन्तु जबकि कनफ्यूसियस तो लोगों को यह कहता हुआ प्रतीत होता था कि उठो अपने आचरण, आचार और व्यवहार को प्राचीन आदर्शों के अनुसार बनाओ, तब लाओत्से लोगों को यह कहता हुआ प्रतीत होता था कि छोड़ो, जीवन में खटपट की क्या आवश्यकता है, परेशानी की क्या आवश्यकता है, सृष्टि 'पथ' की तरह चलती रहती है, हजारों प्राणी इस पथ पर चलते हैं, किन्तु पथ उनको पकड़कर नहीं रखता। पथ के इस नियम को सृष्टि के इस गुण को जो समझ गया वही ठीक है। इस सबका आशय यही है कि मनुष्य अपनी शक्ति पर विश्वास करके, प्रयत्न करके ही असफल होता है। सफलता तो सृष्टि के प्रवाह में अपने आपको छोड़ देने से प्राप्त होती है; अपनी सफलता के लिए यदि तुमने दूसरों को परेशान किया, उन पर हिंसा का प्रयोग किया तो इसका कोई स्थायी परिणाम नहीं निकलने वाला है। हिंसा (Aggressiveness) पथ की प्रकृति के विरुद्ध है, सृष्टि के नियम के विरुद्ध है। हिंसा की स्थापना कभी नहीं हो सकती। इन

शिक्षाओं से चीन के मानस पर कुछ-कुछ वैराग्यमूलक और अकर्मण्यतापरक प्रभाव पड़ा।

इन दो महात्माओं के बाद भी अनेक दूसरे महात्मा, विचारक, कवि और कलाकार चीन में पैदा हुए और चीन की संस्कृति को बनाने में उन्होंने योग दिया। प्राचीन ग्रन्थ 'यीचिन' और 'शी चिन' (जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है) के व्याख्याकार महात्मा कनफ्यूसियस और लाओत्से की शिक्षाओं के राष्ट्रव्यापी प्रभाव के फलस्वरूप जीवन के प्रति चीनी दृष्टिकोण और चीनी 'मानस' जैसा बना, उसका अपना ही एक व्यक्तित्व है। चीन में बुद्ध-धर्म भी आया, चीनवासियों ने उसे अपनाया भी, किन्तु उसको अपने रंग में रंग कर। बुद्ध धर्म का एक रूप है जो इच्छाओं के दमन की शिक्षा देता है और इस जीवन और संसार को महादुःख मूलक बतलाता है, किन्तु बुद्ध-धर्म का यह अंग चीनी जीवन और मानस में नहीं घुल पाया। बुद्ध-धर्म की एक दूसरी आधारभूत मान्यता यह है कि सृष्टि में जो कुछ है वह क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। बुद्ध धर्म की यह बात तो चीनी मानस में घुल गई—चीनी मानस पहिले से ही अपने प्राचीन ग्रन्थ 'यीचिन' (Book of changes) की भावना के अनुसार जिसकी मान्यता यह थी कि परिवर्तन ही सृष्टि का नियम है, ऐसा बना हुआ था। फिर चीनी महात्मा कनफ्यूसियस के मतानुसार मनुष्य स्वभावतः ही अच्छा है और उसमें अच्छे गुण हैं, शिक्षा और अनुशासन द्वारा इन गुणों को उभारने की आवश्यकता है। लगभग यही बात बुद्धधर्म में एक अन्य प्रकार से मान्य है. वह यह है कि प्रत्येक मानव में 'बुद्ध' बनने के तत्व विद्यमान हैं, उन तत्वों का विकास होना चाहिये और 'बुद्ध' स्थिति को प्राप्त होना चाहिए; अर्थात् साधारण बुद्धधर्म के इस विचार का कनफ्यूसियस की शिक्षाओं की तरह यही प्रभाव पड़ा कि मनुष्यों में उचित नैतिक गुणों का विकास हो, अतः यह बात भी चीनी मानस द्वारा अपना ली गई।

इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म का चीन के साधारणजन पर दो और विशेष रूपों में प्रभाव पड़ा। जन-साधारण में एक तो यह विश्वास फैला कि ऊपर आकाश में एक दिव्यलोक होता है जहां पर 'अमिताभ' (बुद्ध) रहते हैं, दूसरा यह कि उस 'अमिताभ' की पूजा होनी चाहिए जिससे मनुष्य भी उस दिव्यलोक की प्राप्ति कर सके। बौद्ध धर्म के इस रूप का प्रचलन चीन में होना वहां की परम्परा के अनुसार स्वाभाविक था, क्योंकि चीनी मानस आदिकाल से ही 'स्वर्ग पिता' की कल्पना करता आया था। इस प्रभाव से चीन में बौद्ध मंदिरों का, व्यक्तिगत पूजा का एवं बौद्ध मठों का जिनमें बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियां रहती थीं, बहुत प्रचलन हुआ। कनफ्यूसियस, लाओत्से और बुद्ध—इनकी शिक्षायें चीनी निवासियों के लिए 'उपदेश त्रय' बन गई। इन सबके समन्वय से चीन में एक विशेष जीवन-दृष्टिकोण बना है।

चीनी जीवन-दृष्टिकोण

विश्व के अधिकतर लोगों की यह मान्यता रही है कि कोई परोक्ष चेतन सत्ता सृष्टि का परिचालन और नियन्त्रण करती रहती है कि ईश्वर सृष्टि का

कर्त्ता है और वही देश, राष्ट्रों और व्यक्तियों का भाग्य विधाता। भारत में, पश्चिमी और मध्य एशिया के समस्त देशों में, प्रायः समस्त यूरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया में जहां हिन्दू, यहूदी ईसाई और इस्लाम जैसे आस्तिक धर्मों का प्रचार रहा है उपरोक्त मान्यता प्रधान रूप से रही है। किन्तु चीन के मानव में, वहां के दर्शन में, सामान्यतया इन विचारों और मान्यताओं की प्रधानता कभी नहीं हो पाई, ये बातें वहां की जीवन दृष्टि में कभी गहराई से समा नहीं पाई। उन्होंने तो इस जीवन की ओर इसी दुनिया की प्रकृत या स्वाभाविक वास्तविकताओं को पहिचाना और उन्हीं के आधार पर परोक्ष सत्ता के भाव से निरपेक्ष उनका जीवन दृष्टिकोण बना। इस दृष्टिकोण में मानवीयता का भाव है, परोक्षत्व का नहीं; लौकत्व का भाव है, परलोकत्व का नहीं। कनफ्यूसियस ने जन्म के पूर्व और जन्म के बाद की बातों को कभी सोचा ही नहीं और न यह सोचा कि जीवनोत्तर आत्मा जैसी कोई वस्तु होती है या लोकोत्तर परमात्मा जैसी कोई सत्ता। चीन की यही विशेषता रही है। सहज भाव से उसने जीवन को स्वीकार किया है।

चीनी दृष्टिकोण सृष्टि को जैसी वह है वैसे ही स्वीकार कर लेता है; मानव-प्रकृति को भी जैसी वह है वैसी ही स्वीकार कर लेता है। प्राकृत मानव-वृत्तियों का दमन न करते हुए, प्रकृति की प्राकृत चाल का विरोध न करते हुए, चलते ही रहना जीवन का काम है। मानव-जीवन में इच्छायें हैं, आकांक्षायें हैं, प्रेम और भय है, सुख दुख और मृत्यु है। ये सब स्वाभाविक है, स्वाभाविक प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य को चलने की आवश्यकता नहीं। यदि उसने ऐसा किया तो वह जीवन के प्रवाह को और सृष्टि के प्रवाह को रोकेगा जो सम्भव ही नहीं, अतएव मनुष्य खाये भी, पीये भी, प्रेम भी करे, इच्छायें भी रक्खे और इस प्रकार मानव प्रकृति के साथ एक रस होकर रहे। यह सृष्टि है इसमें न तो बहुत ऊंचे की आशा हो सकती है न बहुत नीचे की, एक तरफ स्वाभाविक मृत्यु है और दूसरी तरफ कोई अमरता नहीं। न पूर्ण शांति और न पूर्ण आनन्द। इसलिए पथ के बीच में से होकर चलते रहो, जो कुछ सामने आये उसके साथ ठीक ठीक व्यवहार करते हुए। मनुष्य मानो आदर्श और यथार्थ के बीच मेल रखता हुआ चले, मानवता का सार इसी में है। जीवन में इस दृष्टिकोण में एक मन्थर गति है, न तो अकर्मण्यता की स्थिरता और न भीषण कर्म की परेशानी, न तो साधारण मानवीय भूलों और बुराइयों के प्रति रोष और न किन्हीं अति उच्च नैतिक आचारों और गुणों के प्रति कोई विशेष प्रशंसात्मक भाव। ऐसा होने से कटुता नहीं आ पाती, मानव मानव में सरल माधुर्य पुष्ट होता है, जीवन में सरल स्वाभाविकता बनी रहती है। चीनी मानव का जीवन ऐसा बना हुआ है जिसमें कोई विशेष झंझट नहीं। मानो चीनी मानव किसी दूसरे से कह रहा हो "भाई! कोई बात तुम पर लागू की जाय और तुम को यदि वह अच्छी न लगे तो वही बात तुम दूसरों पर लागू करने का प्रयत्न क्यों करते हो?...अरे सहज गति से जीवन को चलने दो।" इस बात की चिन्ता हुए बिना कि पूर्ण आनन्द मिलता है या नहीं, आदर्श नैतिकता तक उठा जाता है या नहीं, चीनी मानव का जीवन सुख दुःख, गुण-अवगुण की राह होता हुआ अपनी स्वाभाविक गति से चलता

रहता है। अकाल, भूख, महामारी की पीड़नायें आती रहती हैं, किन्तु इन सब पीड़ाओं को चीनी लोग प्रसन्न चित्त झेलते जाते हैं—जीवन से प्रेम करते जाते हैं और सन्तान वृद्धि बदस्तूर करते रहते हैं, नहीं तो सृष्टि खत्म नहीं हो जाय।

यह है सन् १९४९ के अन्त तक का चीनी मानव।

किन्तु,

सन् १९५० में चीन में एक नया मानव बुद्ध, स्वर्ग-देवता और अमिताभ के मन्दिरों को ध्वस्त करता हुआ, कनफ्यूसियस और लाओत्से के शास्त्रों को जलाता हुआ, आदिकाल से चली आती हुई आज तक की परम्पराओं को साफ करता हुआ उत्थित हुआ है।

६

प्राचीन ग्रीस और उसकी सभ्यता

[ANCIENT GREECE AND ITS CULTURE]

प्राचीन युग (ईसा पूर्व लगभग १००० वर्ष से ईसा पश्चात् मध्य युग तक) की दुनियां को हम दो भागों में बांट सकते हैं।

(१) पूर्वी दुनियां

इसमें भारत और चीन का समावेश कर सकते हैं। भारत में वैदिक एवं चीन में चीनी सभ्यता का विकास हुआ। इन सभ्यताओं की अपनी ही विशेषतायें थीं, इनके अपने ही आदर्श थे। कई पुरातत्त्ववादी इन सभ्यताओं को पश्चिमी दुनियां की समस्त प्राचीन सभ्यताओं से पुरानी मानते हैं।

(२) पश्चिमी दुनियां

इसमें सब भूमध्यसागरीय प्रदेश, अरब, एशियामाइनर, ईरान, मिस्र, अफ्रीका, यूरोप इत्यादि का समावेश कर सकते हैं। पश्चिमी दुनियां में मिस्र, मेसोपोटेमिया की प्राचीन सौर-पाषाणी सभ्यताओं का उदय और विकास हुआ। सौर-पाषाणी विशेषताओं वाली सभ्यता (कृषि, पशुपालन, विविध देव-देवी पूजा, मन्दिर, वेदी, भेंट, बलिदान, पुरोहित, पुजारी, मन्त्र, जादू-टोना, पुरोहित-राजा या देव-राजा) का ही प्रचलन समस्त भूमध्यसागरीय प्रदेशों में यथा एशिया-माइनर, सीरिया, इजराइल, उत्तरी अफ्रीका, ग्रीस एवं क्रीट के काष्र्णेय लोगों में हुआ।

पश्चिमी दुनियां में सभ्य मानव की यह प्रथम चहल पहल थी। ईसा पूर्व प्रायः ५–६ हजार वर्ष से प्रारम्भ होकर एक हजार वर्ष पूर्व तक यह चहल पहल होती रही। वहां का मानव देवी-देवताओं के भय से, पुरोहितों के जादू-टोने एवं पूजा की नानाविध विधियों से, कभी भी मुक्त नहीं हुआ। उसका मानस अज्ञान पूर्ण संस्कारों में जकड़ा रहा। अपने चारों ओर की प्रकृति का वह निर्भय, मुक्त चेतना से अवलोकन नहीं कर सका। वह यही समझता रहा कि राजा-पुरोहित, देवता–राजा ही इस दुनियां के सब कुछ थे। उसे यह कल्पना ही नहीं हो सकती थी कि जगत में मानव की एक स्वतन्त्र हस्ती है, और स्वयं मनचाहे समाज का निर्माण कर सकता है।

इस प्रकार की पश्चिमी दुनियां में अनुमानतः ई० पू० १००० में एक नितांत नई मानव-शक्ति का आगमन हुआ। इस मानव शक्ति ने मानव को मानस–मुक्ति, निर्भयता और सौन्दर्योपासना की अभूतपूर्व भावनायें दीं, और उस प्रसिद्ध ग्रीक सभ्यता का निर्माण किया जो कई अंशों में आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की आधार–शिला है। प्राचीन ग्रीक सभ्यता के दार्शनिक, वैज्ञानिक, गणितज्ञ, कवि, कलाकार, नाट्यकार आज भी संसार के पुरुषों को अनुप्राणित करते हैं। प्राचीन ग्रीस के मनुष्य के सुडौल, भव्य और सौन्दर्यमय शरीर को देखकर (जिनका आभास हमे प्राचीन ग्रीक चित्रों और मूर्तियों से होता है) हमारा हृदय आनन्द से भर जाता है,–और हम चाहने लग जाते हैं, काश! कि सब मनुष्यों का ऐसा ही सुडौल और सुन्दर शरीर होता; उन प्राचीन ग्रीक लोगों में सौन्दर्य और आनन्द की जो भावना थी वह हममें भी होती।

ये कौन लोग थे ?

वे कौन लोग थे जिन्होंने विज्ञान और मानवीय सौंदर्य की भावना से परिपूर्ण इस सभ्यता का विकास किया ? मध्य एशिया (प्रायः वह भू-भाग जो पश्चिम में यूराल पर्वत से पूर्व में अलटाई पर्वत तक फैला हुआ है) पृथ्वी का वह भू–भाग रहा है, जहां से प्रागैतिहासिक काल से लेकर इतिहास के मध्ययुग तक मनुष्यों के जत्थे के जत्थे भिन्न-भिन्न काल में पश्चिम में यूरोप की ओर, और दक्षिण में ईरान और भारत की ओर शक्तिशाली बाढ़ की तरह बढ़ते रहे हैं, और जिन जिन देशों में वे घुसे हैं वहां बसते गये हैं। इतिहास के प्रारम्भिक काल में इन भू-भागों से जो लोग पश्चिम की ओर गये वे उस गौर-वर्ण, भूरे बाल, नीली आंखों और लम्बे कद वाले मनुष्य थे, जिनको हमने नोर्डिक आर्य प्रजाति के लोग कहकर निर्देशित किया है। ये लोग वर्ण, स्वभाव और संस्कार में सेमेटिक, मंगोलियन एवं नीग्रो जाति के लोगों से बिल्कुल भिन्न थे। इन्हीं नोर्डिक आर्य उपजाति के लोगों ने लगातार एक के बाद दूसरे कई प्रवाहों में काला सागर के उत्तर से होते हुए ग्रीस में प्रवेश किया। इन लोगों की कई समूहगत जातियों के–जैसे आयोनियन, डोरिक, इओलिक, मैसेडोनियन, थ्रेसियन जातियों के झुण्ड के झुण्ड एक के बाद दूसरे, ग्रीस की तरफ आये और ग्रीस और उसके आसपास के द्वीपों में और देशों में बस गये। ग्रीस, मुख्य में एथेन्स; स्पार्टा, थीबीज, ओलिपिया, कोरीन्थ, डेल्फी इत्यादि नगर बसाये, क्रीट एवं अन्य सैकड़ों द्वीपों में अपने उपनिवेश बसाये। पश्चिम में, वे सिसली द्वीप एवं इटली के दक्षिण भाग में फैल गये, यहां तक कि फ्रांस के दक्षिणी तट पर आज जो मारसेल्ज नगर है, उसकी भी स्थापना प्राचीन काल में इन ग्रीक लोगों ने की। दक्षिण इटली और सिसली के ये भाग 'वृहद् ग्रीस' कहलाये। एशिया–माइनर में भी उन्होंने कई नगर और उपनिवेश बसाये जैसे–मिलेट्स, ऐफीसस इत्यादि।

इन देशों में आने और बसने के पूर्व ये जातियां घुमक्कड़ चरवाहा जातियां थीं, जो नये चरवाह और नई भूमि की तलाश में ग्रीस और समीपस्थ देशों की ओर बढ़ आई। बैलगाड़ियों में ये यात्रा करते थे और रास्ते में

कहीं भी कोई कृषि योग्य भूमि देखते थे, वहां कुछ दिन ठहर, खेती से अन्न संग्रह कर, आगे बढ़ते जाते थे। आर्यन परिवार की 'ग्रीक' भाषा ये बोलते थे, जो बहुत समुन्नत और मधुर थी और जिसमें इन जातियों के गायक-कवि प्राचीन गाथायें गाया करते थे। जिस प्रकार हिन्दुओं के दो प्राचीन महाकाव्य 'वाल्मीकि-रामायण' एवं 'महाभारत' हैं, इसी प्रकार ग्रीक लोगों के दो प्राचीन महाकाव्य थे, 'इलियड' एवं 'ओडेसियस'–जिनके रचयिता ग्रीस के एवं पश्चिमी दुनियां के सर्व-प्रथम ग्रन्थ महाकवि होमर माने जाते हैं। ऐसा अनुमान है, कि इन ग्रीक लोगों के ग्रीस क्रीट, इटली, एशिया-माइनर में बसने और उपनिवेश बनाने के पूर्व ही इन महाकाव्य की गाथायें प्रचलित थीं।

ग्रीस और समीपस्थ देशों में जब ये लोग आये, तब वहां के आदि निवासी माओनियन (एक प्रकार की सौर पाषाणी) सभ्यता वाले लोगों से उन्हें टक्कर लेनी पड़ी–उनके नगर, मन्दिर, महल नष्ट भ्रष्ट कर दिये गये; लगभग ई. पू. १००० में क्रीट में नोसस का विशाल भव्य महल और मन्दिर भी नष्ट कर दिया गया। विजित लोगों को गुलाम बना लिया गया और इन प्राचीन सभ्यताओं के अवशेषों पर एवं उनसे प्रभावित होकर इन नव-आगन्तुकों ने अपनी नई सभ्यता का निर्माण किया। ईसा के पूर्व प्राय: ७वीं शताब्दी तक यूरोप में (ग्रीस, इटली, क्रीट इत्यादि में) पूर्वस्थित और पाषाणी सभ्यता के चिन्ह सब समाप्त हो चुके थे और नव आगन्तुक ग्रीक आर्यनों द्वारा एक नई दुनिया बसाई जा चुकी थी।

पहले ये ग्रीक लोग गांव बसाकर रहने लगे। धीरे-धीरे इन्होंने, सभा-भवन, थियेटर, खेल मैदान इत्यादि बनाये। ग्रीस में बसने की इन प्रारम्भिक काल की गाथायें ग्रीक जातियों के गायक कवि कविता रूप में गाया करते थे; ये ही संगृहीत होकर उपरोक्त दो महाकाव्य बने, जिनमें ऐसा अनुमान है 'इलियड' का प्रारम्भिक रूप ई. पू. १००० में गाया जाता था।

ऐतिहासिक विवरण

विश्व में ग्रीक सभ्यता की हलचल लगभग १००० वर्ष तक रही–प्राय: १००० ई. पू. से ३० ई. पू. तक। सामाजिक-राजनैतिक विशेषताओं के आधार पर इस काल का ऐतिहासिक युगों में विभाजन करें तो वह निम्न प्रकार हो सकता है—

(१) नगर-राज्य काल–(अनुमानतः १००० ई. पू. में धीरे-धीरे नगर राज्यों की स्थापना से प्रारम्भ होकर ३३८ ई. पू. तक) इस काल में दो प्रमुख हलचल रही—

(i) ईरान के साथ युद्ध (४६०–४८० ई. पू.)

(ii) स्वतन्त्र अभ्युदय (४७६ से ३३८ ई. पू.) जिसमें भी सबसे अधिक गौरवपूर्ण काल रहा नगर-राज्य एथेन्स में पैरीक्लीज का काल (४६१–४३० ई. पू.)

(२) ग्रीक साम्राज्य काल (३३८-१४६ ई. पू.)

(३) टोलमी ग्रीक राजाओं के अधीन मिस्र में ग्रीक सभ्यता और संस्कृति की परम्परा (२२३-३० ई. पू.)

नगर–राज्य काल

(अनुमानतः १००० ई. पू. से ३३८ ई. पू. तक)

मिस्र और बेबीलोन के विषय में हम पढ़ चुके हैं—वहां पहले तो छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए, किन्तु कालान्तर में वे नगर राज्य किसी एक अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली नगर राज्य के आधीन होते गये—एवं इस प्रकार वहां साम्राज्यों की स्थापना हुई। मिस्र और बेबीलोन उन प्रारम्भिक युगों की दृष्टि से तो बड़े–बड़े साम्राज्य ही थे। इसी प्रकार बाद में ईरान में आर्यों का साम्राज्य स्थापित हुआ था। किन्तु ग्रीस में अनेक शताब्दियों तक ऐसा नहीं हो सका। उनकी बहुत विकसित स्थिति होते हुए भी वहां साम्राज्य स्थापित नहीं हो सके, इसके कई कारण हो सकते हैं;–पहला तो भौगोलिक कारण ही था–ग्रीस छोटे-छोटे टापुओं का बना देश है, मुख्य भूमि भी सामुद्रिक खाड़ियों से बहुत कटी फटी है, और स्थान–स्थान पर पहाड़ हैं जो मुख्य भूमि को कई स्वाभाविक छोटे–छोटे मार्गों में विभक्त किए हुए हैं। अतः जिस–जिस भाग में जो 'नगर राज्य' स्थापित हो गया उसके लिए दूसरे नगर राज्यों से पृथक रहना सरल था। दूसरा इन लोगों में अपनी ही समूह-गत जाति के प्रति और अपने ही नगर राज्य के प्रति आसक्ति का भाव इतना जबरदस्त था कि साधारणतया वे अपने नगर राज्य की स्वतन्त्र स्थिति बनाये रखने में ही गौरव अनुभव करते थे, उसकी स्वतन्त्रता के लिए लड़ने को हर समय उद्यत रहते थे। अपने नगर राज्य के प्रति देश–भक्ति का भाव बहुत प्रबल था।

इस प्रकार कई नगर राज्यों का विकास हुआ जैसे एथेन्स, स्पार्टा, कोरिंथ, ओलिम्पिया, डेल्फी इत्यादि; एवं अनेक छोटे–छोटे टापुओं पर बसे अनेक दूसरे नगर राज्य। इनमें सबसे बड़े नगर-राज्य एथेन्स और स्पार्टा थे। ओलिम्पिया नगर राज्य वही था, जहां ई. पू. ७७६ में प्रथम ओलिम्पियन खेल प्रारम्भ हुए, जिनकी प्रथा अब भी प्रचलित है। अनुमान लगाया जाता है कि एथेन्स की जनसंख्या प्रायः २॥-३ लाख होगी। अन्य नगर राज्यों की जन-संख्या ५० हजार या इससे कम ही रहती थी। सर्वप्रथम जब ये नगर राज्य बने, उस समय तो वहां का राज्य राजा के ही आधीन रहा। यह राजा, मिस्र और बेबीलोन के प्राचीन पुरोहित या 'देवता-राजाओं' की तरह नहीं था। राजा की पदवी में किसी भी प्रकार की धार्मिक भ वना नहीं होती थी। इन राजाओं की स्थिति, तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक विचारों पर आधारित थी। नोर्डिक आर्यों के विशिष्ट परिवार हुआ करते थे। इन विशिष्ट परिवारों का या किसी एक प्रमुख परिवार का नेता ही राजा होता था। राजा को सलाह देने वाली विशिष्ट परिवारों के प्रमुख आदमियों की एक सलाहकार समिति होती थी। धीरे धीरे राजतंत्रीय-शासन प्रणाली के बाद ग्रीक नगर राज्यों में कुलीनतन्त्रीय शासन-प्रणाली का विकास हुआ। इस प्रणाली के अनुसार उच्च वर्ग के विशिष्ट परिवारों के कुछ बड़े लोग ही शासन करते थे। इसके बाद

वहां के नगर-राज्यों में प्रायः निरंकुश एकतन्त्रीय राज्य प्रणाली का प्रयत्न हुआ। किसी एक विशिष्ट परिवार का शक्तिशाली पुरुष उच्च वर्ग के लोगों के विरुद्ध साधारण लोगों की सहायता से सब शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर लेता था किन्तु यह आवश्यक नहीं था कि वह क्रूरता और निरंकुशता से राज्य करे। निरंकुश एकतंत्र के बाद जनतंत्रीय शासन-प्रणाली का विकास हुआ। प्रायः ई. पू. पांचवीं छठी शताब्दियों में ग्रीस के नगर राज्यों में जनतन्त्रात्मक प्रणाली का प्रसार था।

ये जनतन्त्रात्मक राज्य छोटे-छोटे होते थे। आज की तरह बड़े-बड़े जनतन्त्रात्मक राज्य नहीं जिनका शासन सब लोग नहीं, किन्तु कुछ प्रतिनिधि लोग चलाते हैं। उन दिनों गुलाम और नौकर वर्ग को छोड़कर राज्य के सभी लोग राज कार्य में एवं कानून इत्यादि बनाने में सीधा भाग लेते थे। यहां तक कि राज्य के बड़े बड़े कर्मचारियों की नियुक्ति भी चुनाव द्वारा होती थी।

इन छोटे छोटे राज्यों में अपने अपने राज्य के प्रति इतनी संकीर्ण आसक्ति की भावना होती थी कि इन राज्यों में प्रायः हर समय-वैमनस्य बना रहता था और विध्वंसकारी गृह-युद्ध चलते रहते थे। कभी कभी छोटे छोटे नगर-राज्य अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कायम रखते हुए, किसी बड़े राज्य के साथ मित्रता का गठबन्धन कर लेते थे और सामूहिक रक्षा के लिए उस बड़े राज्य को या तो सैनिक और हथियार देते रहते थे, या कुछ धन। ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में एथेन्स के नगर राज्य के साथ कई अन्य छोटे छोटे नगर राज्य जुड़ गये थे और इस प्रकार एक दृष्टि से एथेन्स एक साम्राज्य सा बन गया था।

ईरान के साथ युद्ध (ई० पू० ४९०—४८०)

इसी काल में अर्थात् ई० पू० पांचवीं शताब्दी में ईरान में एक ही महा-साम्राज्य स्थापित था—और इस साम्राज्य का सम्राट था प्रसिद्ध दारा। सम्राट दारा का साम्राज्य पच्छिम में एशिया-माइनर से पूर्व में भारत की सीमा सिन्ध नदी तक प्रसारित था। इस साम्राज्य में, एशिया-माइनर, मेसो-पोटेमिया, सीरिया, ईरान, आधुनिक अफगानिस्तान एवं प्राचीन मिस्र समाहित थे। दारा ने एशिया-माइनर मे स्थित ग्रीक नगरों और उपनिवेशों को तो जीत लिया था, अब उसकी महत्वाकांक्षा ग्रीक को जीतने की थी। फल-स्वरूप कई इतिहास प्रसिद्ध युद्ध हुए। ग्रीस में तो छोटे-छोटे नगर राज्य थे, किन्तु वे सब अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ते थे और लड़ाई में बिना किसी भेद भाव के बूढ़ों और स्त्रियों को छोड़कर सभी नागरिक भाग लेते थे। सैनिक शिक्षा सब नवयुवकों के लिए अनिवार्य थी। दूसरी तरफ ईरान एक बहु-विशाल साम्राज्य था। ग्रीक राज्यों की अपेक्षा अनेक गुणा उसकी सैनिक शक्ति थी। किन्तु इस साम्राज्य की सेना के सभी सैनिक भिन्न भिन्न देशों से एकत्र किये हुए गुलाम थे, जो पैसे के बदले में लड़ते थे, लड़ाई से उनका कोई रागात्मक सम्बन्ध नहीं था।

पहिला प्रसिद्ध युद्ध ई० पू० ४९० में एथेन्स के निकट मेराथन नामक

स्थान पर हुआ। एथेन्स-वासी ईरानी साम्राज्य की विशालता से डरे हुए थे। उन्होंने ग्रीक शक्तिशाली राज्य स्पार्टा से सहायता मांगी किन्तु उनकी सहायता आने के पूर्व ही ईरान की सेना परास्त हुई। उसके कुछ ही वर्ष बाद सम्राट दारा की मृत्यु हो गई। दारा के बाद उसका पुत्र क्षीरीज सम्राट बना। उसने ग्रीस विजय करने की ठानी। एक विशाल स्थल और जल सेना लेकर वह ग्रीस पर चढ़ आया। उसका सामना करने के लिए सब ग्रीक राज्य एक हो गये। ईरानी सेना जल थल दोनों रास्ते से आगे बढ़ रही थी। थल पर ग्रीक लोगों को पीछे हटना पड़ रहा था। आखिर थर्मोपली नामक स्थान पर उन्होंने मोर्चा डाला। थर्मोपली एक बहुत ही सकड़ी जगह है, यहां पर एक तरफ तो समुद्र है, और दूसरी ओर ऊंचे पहाड़। इस सकड़े रास्ते पर से होकर दुश्मन को आगे बढना पड़ता था। इस मोर्चे की रक्षा ग्रीक वीर लीओनीडास कर रहा था। उसके साथ केवल ३०० स्पार्टन सैनिक और ११०० अन्य ग्रीक सनिक तैनात थे—बढ़ती हुई ईरानी फौजों को जहां तक हो सके रोकने के लिए। थर्मोपली के संकड़े द्वार पर एक ग्रीक सैनिक लड़ता लड़ता मरता जाता था—उसके मरते ही दूसरा ग्रीक सैनिक उसका स्थान ग्रहण कर लेता था। इस प्रकार एक एक करके लीओनीडास सहित सभी १४०० ग्रीक सैनिक काम आये—वे अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ते लड़ते मर गए, किन्तु थर्मोपली और अपना नाम इतिहास में प्रसिद्ध कर गये। ई० पू० ४८० की यह घटना है। ईरानी थर्मोपली से आगे एथेन्स की ओर बढ़े, ग्रीक लोग एथेन्स खाली करके जहाजी बेड़ों से ग्रीक द्वीपों में चले गये। ईरानी सेनायें बढ़ती रही। उन्होंने एथेन्स को जला दिया और वे दूसरे ग्रीक नगरों को परास्त करते हुए आगे बढ़े। थल पर तो इस प्रकार ग्रीक लोगों की पराजय हो रही थी किन्तु जल में उधर ग्रीक बेड़ा अभी डटा हुआ था। जब ईरानी जहाज ग्रीस की ओर बढ़कर आने लगे थे तो दुर्भाग्य से भयंकर तूफान के कारण बहुत से तो प्रारम्भ में ही विनष्ट हो गये थे। इधर ग्रीक बेड़े का भी वे मुकाबला नहीं कर सके। सलामिस नामक स्थान पर ईरानियों की भयंकर पराजय हुई। क्षीरीज इस पराजय से बहुत निराश हुआ। अपनी सेना को ग्रीस की मुख्य भूमि पर छोड़कर वह तो अपने देश ईरान को लौट गया। ई० पू० ४७६ में मुख्य भूमि पर भी प्लातीया के युद्ध में ईरानी सेनाओं की पराजय हुई और उन्हें लौट जाना पड़ा। ग्रीक के सब नगर राज्य स्वतन्त्र हुए और प्रत्येक क्षेत्र में ग्रीस की अद्भुत उन्नति का काल प्रारम्भ हुआ।

स्वतन्त्र अभ्युदय का युग (ई० पू० ४७६ से ३३८ तक; प्राय: १५० वर्ष)

थर्मोपली के युद्ध के बाद एथेन्स नगर ईरानी सैनिकों द्वारा जला दिया गया था। सलामिस और प्लातिया के युद्धों में ईरान के सम्राट की पराजय के बाद फिर से यह नगर बसाया गया। लोगों की भावना के अनुसार यहां का शासन जनतंत्रवादी था। जनतन्त्रीय राष्ट्रसभा का सबसे प्रमुख पेरीक्लीज था। पेरीक्लीज (४६१-४३० ई० पू०) महान् संगठनकर्त्ता और कुशल शासक था। उसका मस्तिष्क और हृदय उदार था। कला और जीवन में सौन्दर्य देखने वाली उसकी दृष्टि थी। एशिया माइनर में ग्रीक उपनिवेश मिलेरस में एक रमणी थी, जिसका नाम ऐसपेसिया था। यही स्त्री पेरीक्लीज

के जीवन की प्रेरक बनी। उसकी प्रेरणा से पेरीक्लीज के लगभग ३० वर्ष के नेतृत्व काल में एथेन्स की अभूतपूर्व उन्नति हुई;—प्रत्येक दिशा में और प्रत्येक क्षेत्र में—क्या कला, क्या साहित्य, क्या दर्शन, क्या विज्ञान और क्या व्यापार। अनेक साहित्यकार, इतिहासकार, दार्शनिक, मूर्तिकार और कलाकार एथेन्स में एकत्र हुए। एथेन्स को सचमुच उन्होंने सुन्दर नगर बना दिया और उस कला साहित्य और दर्शन की रचना की जो ढाई हजार वर्ष के बाद आज भी मानव को आनन्द की अनुभूति करवा रहे हैं और उसकी प्रेरणा का स्रोत बने हुए हैं। नगर राज्यों का पुराना वैमनस्य जो ईरान के आक्रमणों के सामने भुला दिया गया था, फिर से उभरने लगा। विशेषतः स्पार्टा और एथेन्स के बीच गृह युद्ध होने लगे। एथेन्स और स्पार्टा के बीच अनेक युद्ध हुए—जिन्हें पेलीपोशियन युद्ध कहते हैं और जिनने समस्त ग्रीस को छिन्न भिन्न, क्षीण और उत्पीड़ित कर दिया। अनेक वर्षों तक ये युद्ध होते रहे, किन्तु आश्चर्य यह है कि इन युद्धों के होते हुए भी ग्रीस की आत्मा की अभिव्यक्ति—कला, साहित्य और दर्शन की सुन्दर रचनाओं मे होती रही। कल्पना की जाती है-यदि ग्रीस के उन सुन्दर स्वतन्त्र लोगों में परस्पर ये गृह युद्ध नहीं होते तो और भी कितने अधिक साहित्य, दर्शन और कला का उत्तराधिकारी आज का मानव समाज होता।

खैर ! इन युद्धों से ग्रीस के समस्त राज्य क्षीण हो ही रहे थे, कि इसी अर्से में उत्तर में मेसीडोनिया प्रान्त में किसी एक अन्य ग्रीक जाति के लोगों की शक्ति का विकास हो रहा था। ई० पू० ३५९ में फिलिप नाम का व्यक्ति ग्रीस में मेसीडोनिया प्रदेश का राजा बना। फिलिप वस्तुतः एक महान् राजा था-बहुत कुशल, बुद्धिशाली, योजनाओं का रचयिता और उनको पूरा करने वाला एक वीर योद्धा, और युद्ध क्षेत्र में एक कुशल नेता। ग्रीक इतिहासकार हिरोडोटस और आईसोक्रेट्स से, जिन्होंने समृद्धशाली ईरान साम्राज्य पर और उस समय की परिचित समस्त दुनिया पर ग्रीक आधिपत्य के स्वप्न देखे थे, फिलिप परिचित था। उसने उक्त इतिहासकारों की रचनाओं से प्रेरणा ली। उस काल के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू को उसने अपना मित्र और अपने पुत्र अलक्षेन्द्र (सिकन्दर महान)का गुरु नियुक्त किया। युद्ध कला में सुशिक्षित एक विशाल सेना का निर्माण किया गया। इतिहास में सर्व प्रथम "घुड़सवार फौज" की रचना की गई; इसके पूर्व या तो पैदल फौजें थीं, या घोड़ों से परिचालित रथों में युद्ध होता था, या कुछ हाथियों पर सवार होकर। अलक्षेन्द्र को इन सब युद्ध विद्याओं में निपुण किया गया और इस योग्य बनाया गया कि वह किसी भी साम्राज्य का भार कुशलतापूर्वक संभाल सके।

यह तैयारी करके फिलिप अपनी योजनाओं के अनुसार अपने विश्व-विजय के स्वप्न को पूरा करने के लिये आगे बढ़ा। सबसे पहला तो यही काम था कि समस्त ग्रीस एक शासन के आधीन हो। इतिहासकार आइसोक्रेटस एवं अन्य कुछ ग्रीक लोग यह चाहते भी थे कि समस्त ग्रीस के नगर-राज्य मिलकर एक विशाल और शक्तिशाली राज्य बने। एथेन्स और एथेन्स के मित्र

नगर-राज्य इसके विरोध में थे। कई वर्षों तक झगड़ा चलता रहा किन्तु फिलिप की सैन्य शक्ति के सामने सबको झुकना पड़ा और अन्त में केरोनिया के युद्ध में एथेन्स की पराजय के बाद ई० पू० ३३८ में सब राज्यों ने फिलिप की आधीनता स्वीकार की; और समस्त ग्रीस एक राज्य बना। उसने विश्व-विजय यात्रा प्रारम्भ ही की थी कि ई० पू० ३३६ में उसकी प्रथम स्त्री ओलीमपीयास के षड्यन्त्र से उसका कत्ल हुआ। एक आकांक्षा भरे जीवन का अन्त हुआ। मानव इतिहास का रचना में मानव हृदय की ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध एवं अन्य भावनाओं का कम महत्व नहीं। फिलिप की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अलक्षेन्द्र मेसीडोनिया का राजा बना। उस समय उसकी आयु केवल २० वर्ष की थी।

ग्रीक साम्राज्य काल
(ई० पू० ३३८ से लगभग १५० ई० पू०)

पिता का अधूरा काम पुत्र अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) ने पूरा करने की ठानी। इसके लिए उसको शिक्षा द्वारा तैयार भी किया गया था। विश्व-विजय करने को वह निकला। एक शिक्षित शस्त्र-पूर्ण सेना उसके साथ थी और एक तीव्र विजय लिप्सा। सामने पड़ा था विशाल फारस का साम्राज्य जो मिस्र, एशिया-माइनर, सीरिया, फारस और अफगानिस्तान तक फैला हुआ था। मानव इतिहास में इतने विशाल क्षेत्र में युद्ध, विजय और पराजय की यह पहली घटना थी।

अलक्षेन्द्र एक साहसपूर्ण हृदय और विजय-आकांक्षा की दूर तक लगी एक दृष्टि लेकर निकला। विशाल साम्राज्य फारस का शक्तिशाली मुकाबला हुआ। किन्तु उसकी "घुड़सवार फौज" के सामने, सब कुछ पदाक्रान्त होता गया—एशिया-माइनर, सीरिया, मिस्र, ईरान-पार्थीया, बेक्ट्रिया और भारत में सिन्धु तट प्रदेश जहां वीर पोरुष से उसका मुकाबला हुआ। ई० पू० ३४४ में यह विजय यात्रा प्रारम्भ हुई और ई० पू० ३३४ तक ग्रीस से लेकर पूर्व में अफगानिस्तान तक और दक्षिण में मिस्र तक एक विशाल साम्राज्य अलक्षेंद्र के अधीन हो गया। इस विजय यात्रा में अनेक नगर उसने अपने नाम से बसायेः—मिस्र में अलक्षन्द्रिया नगर, बन्दरगाह अलक्षन्द्रिया और मध्य एशिया में कंधार। इतना विशाल साम्राज्य अलक्षेन्द्र के अधीन हुआ, किन्तु वह इस साम्राज्य को एक बनाये रखने के लिए, एक सूत्र में बांधे रखने के लिए, कोई योजना नहीं घड़ रहा था, कुछ सङ्गठन नहीं बना रहा था। मानो वह अपने व्यक्तिगत गौरव से फूला ही नहीं समाता हो। इतिहासकारों का मत है कि वास्तव में उसमें घमण्ड की भावना आ गई थी। वह तो सिन्धु के भी पार समस्त भारत को पदाक्रान्त करने की सोचता होगा। किन्तु उसके सिपाहियों ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया था, और बेबस उसे वापिस लौटना पड़ा था। अपनी वापिसी यात्रा में वह मेसोपोटेमिया के प्राचीन नगर बेबीलोन में ठहरा हुआ था, जहां ई० पू० ३२३ में जब उसकी आयु केवल ३२ वर्ष की थी, उसकी मृत्यु हो गई। उस प्राचीन दुनियां में इन अभूतपूर्व विजयों के कारण ही इतिहासकारों ने अलक्षेन्द्र को 'महान्' कहा है। मानव इतिहास

में यह पहला अवसर था जब किसी पाश्चात्य यूरोपीय शक्ति ने पूर्वीय देशों को जीतकर वहां अपना साम्राज्य स्थापित किया। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वी एवं पश्चिमी देशों में यथा, भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेश, सीरिया, ईरान, अरब, भारत, मिस्र और मेसोपोटेमिया में सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध पहिले से ही स्थापित थे; किन्तु उपर्युक्त ग्रीक विजय से यह सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो गया था यहां तक कि कई इतिहासकारों ने इसे "पूर्व और पश्चिम का विवाह बन्धन" कहा है।

अलक्षेन्द्र की मृत्यु के तुरन्त बाद ही, वह विशाल साम्राज्य जिसका उसने अपनी विजयों से निर्माण किया था, एक खिलौने की तरह गिर कर टूट गया। साम्राज्य के तीन प्रमुख खण्ड हुए—

(१) ईरान और अफगानिस्तान का भाग जिसमें अलक्षेन्द्र के एक प्रसिद्ध जनरल सेल्यूकस ने आधिपत्य जमाया; (२) मिस्र, जिसमें एक दूसरे जनरल टोलमी ने; और (३) ग्रीस और मेसीडोनिया, जिसमें एक तीसरे जनरल ऐण्टीगोरस ने आधिपत्य स्थापित किया। इन भागों में ग्रीक राज्य की परम्परा कुछ शताब्दियों तक चलकर समाप्त हो गई।

(१) अफगानिस्तान और ईरान प्रदेशों में ई० पू० प्रथम शताब्दी तक ग्रीक लोगों का शासन रहा। इस काल में ग्रीक लोगों का भारत से बहुत निकट सांस्कृतिक सम्पर्क रहा। कला, साहित्य, जीवन-विचारधारा का परस्पर खूब आदान-प्रदान हुआ। ई० पू० प्रथम शताब्दी के बाद मध्य-एशिया से पार्थियान लोग आये; फिर आदि ईरानी जिन्होंने सन् ६३७ ई० तक राज्य किया; फिर अरबी मुसलमान आये; फिर ११वीं सदी में तुर्क, फिर मंगोल, फिर शिया मुसलमान शाह जिनके अधीन आज ईरान है। अफगानिस्तान पृथक अफगानी राज्य बना।

(२) मिस्र में ३२३ से ३० ई० पू० तक ग्रीक टोलमी राजाओं का राज्य रहा और वहीं से ग्रीक संस्कृति का प्रकाश तीन शताब्दियों तक चारों ओर विकीर्ण होता रहा। इन ग्रीक टोलमी राजाओं के राज्य काल में अलक्षेन्द्रिया नगर में जो मिस्र की राजधानी रहा, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन और व्यापार की खूब उन्नति हुई। वैज्ञानिक अध्ययन, अन्वेषण की जो परम्परा एथेन्स में अरस्तू ने प्रारम्भ की थी, वह अलक्षेन्द्रिया में खूब बढ़ी। सभ्य समाज की, राज दरबार की, शासन की भाषा पुरानी मिस्री की जगह ग्रीक बनी, यहां तक कि इन ई० पू० दूसरी तीसरी शताब्दियों में जो यहूदी लोग मिस्र में बसे हुए थे उन्हें भी अपनी बाइबल का अनुवाद ग्रीक भाषा में करना पड़ा। ग्रीक राजा टोलमी प्रथम (३२३-२८३ ई० पू०) ने अलक्षेन्द्रिया में एक महान् म्यूजियम (अजायबघर) की स्थापना की। यह म्यूजियम एक तरह से विद्वान लोगों का विद्यालय या जहां अनेक वैज्ञानिक, डाक्टर, इतिहासकार आकर ठहरते थे, अध्ययन करते थे और मानव ज्ञान में वृद्धि करते थे। गणितज्ञ यूक्लीड (लगभग ३०० ई० पू०) जिसकी ज्योमेट्री हम पाठशालाओं में पढ़ते हैं; हिप्पारकस (जन्म १९० ई० पू०) जिसने आकाश के नक्षत्रों का नक्शा बनाया था; वैज्ञानिक आर्शमीडीस (२८७-२१२ ई० पू०) जिसका

आर्शमीडीस सिद्धान्त प्रचलित है; डा० हिरोफिलस (चौथी से तीसरी शताब्दी ई० पू०) जिसने वैद्यक ज्ञानवर्धन के लिए अनेक आदमियों के शरीरों की चीराफाड़ी की, इत्यादि विद्वान इसी अलक्षेन्द्रिया में ही पनपे थे। म्यूजियम के साथ-साथ एक महान पुस्तकालय की भी स्थापना की गई थी। यहां अनेक हस्तलिखित पुस्तकों का विशाल संग्रह था और साथ ही साथ हस्तलिखित पुस्तकों की नकल करने के लिए, जिससे उनका प्रचार हो, अनेक नकल करने वाले काम पर लगे हुए थे। पुस्तकालय में ७ लाख पुस्तकों का संग्रह था। उस प्राचीन युग के दो महान पण्डित एरिस्टोफेन्स एव एरिस्टारकस हुए जिसके ग्रीक कवि होमर और अन्य कवियों की कृतियों पर विषद् भाष्य उपलब्ध है। ई. पू. दूसरी शताब्दी में उक्त पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। अधिकतर पुस्तकें पेपीरस पर काली स्याही से लिखी हुई थीं। ई० पू० २६० में टोलमी द्वितीय ने अलक्षेन्द्रिया में एक प्रकाश स्तम्भ बनवाया था जो जहाजों का पथ प्रदर्शन करता था। यह इतना भव्य और विशाल था कि "प्राचीन युगों" के "सप्त आश्चर्यों" में इसकी भी गणना की जाती थी।

इस प्रकार ग्रीक लोगों के राज्यकाल में मिस्र देश के अलक्षेन्द्रिया में ज्ञान और विद्या की उन्नति कई शताब्दियों तक होती रही, किन्तु प्राचीन मिस्र के देवी-देवताओं, पूजा, पुजारी और रहस्यमय जादूटोनों का प्रभाव ग्रीक लोगों के मुक्त मानस और बुद्धि पर हो रहा था, यहां तक कि ग्रीक और मिस्र के देवी-देवताओं को मिलाकर कुछ नये देवताओं की कल्पना भी कर ली गई थी। धीरे-धीरे ग्रीक परम्परा समाप्त होती जा रही थी। ग्रीक दुनियां का अन्तिम क्षण वह था जब ३० ई. पू. में ग्रीक-मिस्र की सर्वसुन्दरी रानी क्लीओपेट्रा ने रोमन विजेता के हाथों में पड़ने के पहले ही एक विषैले सर्प से अपने आपको कटवाकर अपने प्राणों का अन्त कर लिया था। फिर तो विजयी रोमन आये, जो ६५६ ई. तक वहां राज्य करते रहे; फिर अरबी मुसलमान आये जो आज तक वहां रहते हुए और शासन करते हुए चले आ रहे हैं।

(३) अलक्षेन्द्र के बाद ग्रीस में प्राय: दूसरी शताब्दी के मध्य तक ग्रीक शासकों की परम्परा चलती रही; १४६ ई. पू. में रोमन लोग आ गये। सन् १४५३ तक ग्रीस पूर्वी रोमन साम्राज्य का एक अङ्ग बना रहा। किन्तु जब से रोमन आये तभी से उस सभ्यता का, जो एक स्वतन्त्र, निर्भय सौंदर्य की भावना लेकर उदय होने लगी थी, अन्त हो गया। ग्रीक भाषा चलती रही। ग्रीक कला, साहित्य और दर्शन जिनका विकास ई. पू. ५–६ शताब्दी से प्राय: ई. पू. २ री शताब्दी तक हो पाया था, समय-समय पर यूरोप के मानस को प्रभावित करते रहे और आज भी प्रभावित कर रहे हैं, किन्तु वह प्राचीन ग्रीक मानव और उसकी परम्परा विनिष्ट हो गई। मध्य युग में ग्रीक-वासी ईसाई हो चुके थे। १४५३ ई. में तुर्क लोगों ने ग्रीस पर विजय प्राप्त की और तब से १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक वहां तुर्क लोगों का राज्य रहा। फिर सन् १८२१ मे ग्रीस में स्वतन्त्रता के लिए क्रांति हुई। इस स्वतन्त्रता युद्ध में ग्रेट-ब्रिटेन के प्रसिद्ध कवि बायरन लड़े थे। अनेक वर्षों तक

युद्ध होते रहे। सन् १८३२ ई. में ग्रीस एक स्वतन्त्र राज्य घोषित किया गया और उसके पश्चात् उसकी आधुनिक स्थिति बनी। आज वहां की भाषा प्राचीन ग्रीक भाषा से मिलती-जुलती सी आधुनिक डोरिक ग्रीक भाषा है।

ग्रीक सामाजिक जीवन

ये नोर्डिक आर्य लोग जब उन प्रदेशों में रहते थे, (यथा मध्य एशिया, यूराल पर्वत के दक्षिणी-प्रदेश) जहां से धीरे धीरे बढ़ते हुए अनेक वर्षों में बाल्कन प्रायद्वीप में होते हुए ग्रीस में आये, तभी इनके समूहों में प्रायः दो वर्गों के लोग थे। एक उच्च वर्ग और दूसरा साधारण वर्ग। दोनों वर्गों में कोई विशेष भेद नहीं था। यह वर्ग भेद भारत की तरह जाति भेद नहीं था, किन्तु परम्परा से ही कुछ परिवारों के लोग इन लोगों के समूहगत जीवन में कुछ विशेष प्रतिष्ठित होंगे। किसी विशेष प्रतिष्ठित परिवार का नेता ही इन लोगों के सम्पूर्ण समूह का नेतृत्व करता था। दूसरी जातियों से युद्ध के समय युद्ध करने में और शांति के समय शान्ति स्थापना किये रखने में इस प्रकार का नेता ही राजा कहा जाने लगा था। बैलगाड़ियों में यात्रा करते हुए राह में जहां उपजाऊ भूमि मिली, वहां ठहर कर एक फसल तक खेती करके और फिर आगे बढ़ते हुए, राह में अपने जातीय गायक–कवियों के गीतों को सुनते हुए, ये ग्रीस में बढ़े चले आये। ग्रीस में वहां के आदि निवासियों से (काष्र्णेय लोगों से) अनेक युद्ध हुए, उनको परास्त किया और अपना गुलाम बनाया। इन गुलामों को खेती करने एव अन्य मजदूरी के कामों में जैसे भवन बनाना, घरेलू कामकाज करना इत्यादि में लगाया। इस प्रकार ग्रीस में बसने के बाद ग्रीस के मानव समाज में तीन वर्ग हो गये थे। धीरे धीरे गुलाम वर्ग में स्वयं ग्रीक जाति के वे लोग भी सम्मिलित किये जाने लगे जो ग्रीक जातियों या ग्रीक नगर राज्यों के बीच युद्धों में बन्दी बना लिये जाते थे।

राजनैतिक संगठन

पश्चिमी दुनिया के इतिहास में, ई. पू. अनुमानतः ७-८वीं शताब्दी में सर्वप्रथम हम मानव को धर्म और पौराणिक भावनाओं से मुक्त यह सोचता हुआ पाते हैं कि समाज में आखिर किस प्रकार का राजनैतिक संगठन होना चाहिये। ग्रीक सभ्यता के पूर्व तीन प्राचीन सभ्यताओं में यथा मिस्र, मेसोपोटेमिया और क्रीट में—अपने 'पुरोहित-राजाओं' अथवा 'देव-राजाओं' से भिन्न किसी भी प्रकार के राजनैतिक संगठन की कल्पना तक होना संभव नहीं था। सर्वप्रथम ग्रीक लोगों की मुक्त बुद्धि के लिए ही यह संभव हो सका। ईसा के लगभग एक सहस्राब्दि पूर्व जब ग्रीक जातियों ने ग्रीक में पदार्पण किया, उस समय तो वे समूहगत जातियां ऊपर वर्णित अपने नेता के ही नेतृत्व में संगठित होकर रहती होंगी। वही नेता फिर 'राजा' बना। ग्रीक में ग्रीक लोगों के आने के पूर्व जो नगर बसे हुए थे, वे ग्रीक लोगों ने प्रायः विध्वंस कर दिये थे। उन विध्वस्त नगरों के अवशेषों पर या उनके आस-पास, पहले गांव बसे और फिर धीरे धीरे नगरों का विकास हुआ। जातियों का नेता ही इन नगरों का राजा बना। फिर धीरे-धीरे अनुभव एवं ग्रीक बुद्धि के

फलस्वरूप राजनैतिक-संगठन में विकास होने लगा। पहले राजतन्त्र की जगह कुलीनतन्त्र आया, फिर कुलीनतन्त्र की जगह निरंकुश तन्त्र अर्थात् विशिष्ट या साधारण वर्ग में से ही कोई एक विशेष शक्तिशाली पुरुष सब अधिकार अपने हाथों में केन्द्रित कर लेता था और दूसरे लोगों की राय के बिना स्वेच्छा से राज्य करता था, चाहे वह राज्य लोगों की भलाई के लिए ही हो। फिर धीरे धीरे जनतन्त्रात्मक प्रणाली का विकास हुआ। समस्त ग्रीस में भिन्न भिन्न नगर-राज्य थे। यह आवश्यक नहीं कि इन सभी राज्यों में उपरोक्त क्रम से राजनैतिक संगठन का विकास हुआ, किन्तु सामान्यतया विकास का क्रम इसी प्रकार रहा। ऐसी भी स्थिति थी कि कई प्रणालियों के राज्य एक ही काल में उपस्थित हों-किसी राज्य में राजतन्त्र हो, किसी में कुलीनतन्त्र और किसी में जनतन्त्र। ग्रीस के दो प्रसिद्ध एवं विशाल नगर राज्यों में यथा एथेन्स और स्पार्टा में तो लगातार झगड़ा ही इस बात का चलता रहता था कि एथेन्स तो जनतन्त्र का प्रबल समर्थक था और स्पार्टा राजतन्त्र का, किन्तु अधिकतर राज्यों में जनतन्त्र का ही प्रचलन था। राजनीतिक और नागरिक शास्त्रों की रचना होने लगी थी—जिनमें प्लेटो का "रिपब्लिक" और अरस्तू का "पोलिटिक्स" ग्रन्थ प्रसिद्ध है; इनका अध्ययन आज भी होता है।

गुलामों को छोड़कर अन्य सब लोग 'राज्य' के नागरिक माने जाते थे सभी नागरिक शासन कार्य में भाग लेते थे। प्रत्येक राज्य में एक "सभाभवन" (आर्गो) होता था, जहां सभी नागरिक सार्वजनिक मामलों पर विचार करने के लिये, राज्य की विधियों (कानून) को बनाने के लिए एकत्र होते थे, उच्च कोटि के उच्चस्तर पर वाद विवाद होते थे। कई महान् प्रतिभाशाली वक्ताओं का उदय हुआ था जिनमें डेमोस्थनीज का नाम इतिहास प्रसिद्ध है। बड़े बड़े प्रश्नों और समस्याओं का सब लोगों की अनुमति से निर्णय होता था। प्रायः सभी नागरिक महान् नागरिकता की भावना से ओत-प्रोत होते थे और अपने 'नगर-राज्य' के लिये प्राण न्योछावर करने को उद्यत रहते थे। नागरिकता के अधिकारों से आभूषित होने के पूर्व सबको निम्न "नागरिकता की प्रतिज्ञा" लेनी पड़ती थी:—"हम किसी भी कायरतापूर्ण या दोषपूर्ण कार्य से अपने इस नगर पर लांछन नहीं आने देंगे, न कभी अपने सैनिक साथियों को युद्ध क्षेत्र में अकेला छोड़ेंगे। हम व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से आदर्शों के लिये और नगर की पवित्र वस्तुओं के लिये लड़ेंगे। नगर के नियम हमारे लिये आदरणीय होंगे और हम उनका पालन करेंगे; और इन नियमों के प्रति आदर का भाव प्रेरित करेंगे, उन लोगों में, जिनमें जरा भी झुकाव होगा इन नियमों की अव-हेलना करने की ओर या उनको भंग करने की ओर। लोगों में नागरिकता की भावना तीव्र करने के लिये हम निरन्तर प्रयत्न करते रहेंगे। इस प्रकार हम अपने नगर को जैसा यह हमें मिला था उसके समान ही नहीं वरन् उससे महानतर, उच्चतर और सुन्दरतर स्थिति में छोड़ जायेंगे।"

समाज में स्त्रियों की स्थिति

स्त्रियों का कार्यक्षेत्र गृह था, जहां वे गृहकार्य, ऊन की कताई, एवं कपड़े बुनने में व्यस्त रहती थीं। सार्वजनिक समारोहों में वे भाग नहीं लेती

थीं, किन्तु सब धार्मिक समारोहों में उपस्थित रहती थीं। उस युग में परदे का प्रचलन नहीं था। पुरुषों में बहु-विवाह का निषेध नहीं था; यद्यपि पुरुष प्रायः एक ही विवाह करते थे। विशेष प्रतिभाशाली स्त्रियों के लिये विकास की सुविधायें स्यात् अवश्य थीं। यह इससे मालुम होता है कि उन लोगों में सेफो नामक एक महान् कवयित्री थी जिसका समाज में बहुत आदर था। समाज में एक पति या पत्नित्व का भाव संस्कारित नहीं हो पाया था। पश्चिमी दुनिया में यह भाव ईसाई मत के साथ साथ आया। ग्रीक सामाजिक जीवन में प्रफुल्लता की भावना प्रधान थी; संकुचितता अनैसर्गिक अंकुश उनके स्वभाव में ही नहीं था—अतः विवाह के पूर्व स्त्री-पुरुष के मिलन में अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता थी।

काम धन्धा

लोगों का मुख्य धन्धा कृषि और पशु-पालन ही था। विशेष जन-समुदाय इसी काम में व्यस्त रहता था। कुछ लोग दस्तकारी के कामों में जैसे भवन निर्माण, मूर्ति निर्माण, शस्त्र बनाना, जहाज बनाना एवं जहाजरानी करना, इनमें व्यस्त रहते थे और कुछ व्यापार तथा दुकानदारी में। समाज के वयोवृद्ध विशिष्ट जन शिक्षा एव देव पूजा के काम में व्यस्त रहते थे। समाज में भारतीय आश्रम व्यवस्था से मिलती-जुलती भी एक व्यवस्था प्रचलित थी। सब नवयुवकों को सैनिक शिक्षा प्राप्त कर, युद्ध के अवसरों पर अनिवार्यतः युद्ध में लड़ना पड़ता था। प्रौढ़ हो जाने पर ये ही लोग शासन का काम करते थे जैसे राष्ट्र सभा में वाद-विवाद करना, नियम बनाना, न्यायालय चलाना इत्यादि। वृद्ध हो जाने पर शिक्षक या पुजारी का काम करते थे।

शिक्षा

आजकल जिस प्रकार जन साधारण के लिये जगह जगह विद्यालयों का प्रसार हो रहा है ऐसा उस युग में ग्रीस में भी जहां जनतन्त्रात्मक शासन था विद्यालयों का सामान्यतया प्रचलन नहीं था; बड़े बड़े दार्शनिक और विशिष्ट जन जिन्हें गुरु कह सकते हैं, अपने विद्यालय (Academies) खोल कर बैठ जाते थे, जहां प्रायः उच्च वर्ग के लोगों के बच्चे और युवक शिक्षा पाने के लिए आते थे। हां, प्रारम्भिक शिक्षा के लिए राज्य की ओर से अवश्य कुछ विद्यालय थे। शिक्षा का आदर्श उच्च था और शिक्षा में यह बात सर्वमान्य थी कि मानव का सर्वतोन्मुखी विकास होना चाहिये, मानसिक एवं शारीरिक भी। सुन्दर मन, सुन्दर शरीर में ही रह सकता है। इसलिये शरीर के सुन्दर और सामञ्जस्यपूर्ण विकास पर खूब जोर दिया जाता था। शारीरिक विकास के लिए अनेक खेल और व्यायाम प्रचलित थे। जैसे डिस्कस फेंकना, भाला फेंकना, जैवलिन फेंकना, घुड़सवारी करना, तीर चलाना इत्यादि। हर एक चौथे वर्ष के बाद प्रसिद्ध ओलम्पिया के पहाड़ पर खेल और व्यायाम की प्रतियोगिता होती थी, जिसमें सब नगर-राज्यों के युवक हिस्सा लेते थे और जिसके लिए युवक लोग बड़ी बड़ी तैयारी करके आते थे। यह याद होगा कि ओलम्पिया के खेलों का प्रचलन ई० पू० ७७६ में अर्थात्

आज से २।। हजार वर्ष से भी अधिक पहले हुआ था। यह एक विशाल राष्ट्रीय समारोह माना जाता था। वस्तुतः समस्त ग्रीक जीवन ही क्रीड़ामय था। इन समारोहों के अवसर पर सर्वदेशीय संधि घोषित कर दी जाती थी जिससे सब राज्यों के नागरिक निर्भय, निःसंकोच क्रीड़ाओं में सम्मिलित हो सकें। यद्यपि आधुनिक काल की तरह विद्यालयों और लिखित पुस्तकों के जरिये शिक्षा का प्रचार नहीं था किन्तु कुछ साधन अवश्य उपस्थित थे, जिनसे सर्व साधारण का, सब नागरिकों का. मानसिक विकास होता रहता था और समाज की उच्च से उच्च सांस्कृतिक हलचल में उनका सक्रिय और सुहृदयता-पूर्ण भाग रहता था। राष्ट्रीय थियेटरों एवं मंदिरों में धार्मिक समारोहों के अवसर पर नाटकों का अभिनय होता रहता था; नगर की 'ऐक्लेजिया' "राष्ट्र सभा" में बड़े बड़े विद्वानों और वक्ताओं के साथ सीधी बातचीत बहस और विचार विनिमय चलता रहता था। दार्शनिकों की ऐकेडेमीज (विद्यालयों) में सुकरात, प्लेटो, अरस्तू. एपीक्यूरस जैसे महान् विचारकों के साथ सृष्टि एवं जीवन सम्बन्धी प्रश्नों पर, दैनिक राजनैतिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं पर मुक्त बुद्धि और हृदय से प्रश्नोत्तर एवं वाद-विवाद होते थे। वे ही किसान, व्यापारी, शिल्पी जो दिन भर अपना काम करते थे, संध्या समय उपरोक्त महान् दार्शनिकों से बातचीत करते थे। ग्रीक जन के लिए केवल राजनैतिक डेमोक्रेसी ही नहीं किन्तु सांस्कृतिक डेमोक्रेसी भी थी। सारे समाज का मानस स्तर ऊंचा था।

कला कौशल

ग्रीक कला (स्थापत्य, मूर्ति, चित्र एवं संगीतकला) प्रागैतिहासिक काल में प्रारम्भ होकर, होमर काल (ई० पू० ८००) में एवं तदनन्तर कई शताब्दियों में विकसित और परिपुष्ट होती हुई, ईसा पूर्व पांचवीं शती में पेरीक्लीज के समय में अपनी चरमोत्कर्ष पर पहुंची और फिर कई शताब्दियों तक उसकी परम्परा चलती रही। ग्रीक कला में सौन्दर्य के अनन्त वैभव के दर्शन होते हैं, उसमें हमें ग्रीक कलाकार एवं ग्रीक जाति की आत्मा की झलक मिलती है और यह अनुभव होता है कि सचमुच वह आत्मा मुक्त, सुसंस्कारित और सौन्दर्यमयी थी।

स्थापत्य कला

प्रसिद्ध नगर एथेन्स के अभ्युदय काल में जब पेरीक्लीज वहां का शासक था—एक्रोपोलिस (एन्थेस की पहाड़ी) का अद्भुत शृङ्गार किया गया। "डायोनिसस" देव का मन्दिर, अन्य अनेक देवों के मन्दिर एवं भवन एक्रोपोलिस (पहाड़ी) पर निर्मित किये गये। इस सुखद सौंदर्य का निर्माता था महान् कलाकार फिडियास जन्म ५०० ई० पू०। तब तक संगमरमर का पता लग चुका था। मिट्टी, चूना, पत्थर के अतिरिक्त संगमरमर के महान् सुन्दर किले, द्वार और ऊंचे भवन बनाये गये। इनकी निर्माण कला बहुत विकसित थी। इसकी मुख्य विशेषता थी, स्तम्भों की एक निश्चित ढंग से सज्जित पंक्तियों पर भवन का निर्माण करना। इस

पद्धति से अनेक देशों की स्थापत्य कला प्रभावित हुई थी। ईसा पूर्व एवं उत्तर काल के भारत में गंधार प्रदेश में बौद्ध मन्दिरों के निर्माण में यह प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है। मध्ययुग में जर्मनी और फ्रांस में, एवं इङ्गलैंड में तो आधुनिक युग तक उक्त पद्धति का स्पष्ट प्रभाव है। इस कला में चित्रांकन और नक्काशी का इतना महत्व नहीं, जितना एक विशिष्ट समरसता एवं सुखद दृष्टव्यता का है। प्राचीन ग्रीस का कोई भी भवन या मन्दिर आज पूर्ण रूप में नहीं मिलता है। प्राप्य अवशेषों से, पुस्तकों के चित्रों से एवं रोमन प्रतिकृतियों से केवल उनकी कल्पना की जाती है। ये मन्दिर और भवन केवल एथेन्स में ही नहीं किन्तु ग्रीस के अन्य नगरों में स्थान-स्थान पर बिखरे हुए हैं। एशिया-माइनर के ग्रीक-नगर और बन्दरगाह एफीसीयस में अद्भुत एक भव्य मन्दिर बनाया गया था, चंद्रदेवी (डियाना) का ई० पू० ३०० में; प्राचीनकालीन दुनिया के "सप्त-आश्चर्यों" में इसकी गणना थी। दुर्भाग्यवश ३६२ ई० में गोथ लोगों ने इसको विध्वंस कर दिया। इसके अतिरिक्त कई मन्दिर थे जैसे—सिसली में देव नेपचून का प्राचीन मन्दिर, कोरिन्थ का विशाल मन्दिर इत्यादि। ऐपिडारस में यूनानी विशाल थियेटर के अवशेष, जिसमें हजारों दर्शकों के बैठने के लिए प्रशस्त गैलरी बनी हुई है, अब भी अच्छी हालत में मौजूद है। प्राचीन ग्रीस के प्रत्येक भवन या देवालय में वहां के मानव की सुरुचिपूर्णता और सौंदर्य-प्रियता बरबस अपने आप बोल देती है।

मूर्ति-कला

सौंदर्य एवं सजीवता—ये गुण वहां की मूर्ति-कला को अमरत्व प्रदान करते हैं। ग्रीक मूर्तियां ग्रीक देव या देवियों की एवं दार्शनिक, कवि या योद्धाओं की हैं। ये एक प्रकार के नरम प्रस्तर या संगमरमर या धातु की बनी हैं। धातु की मूर्तियां कम मिलती हैं। ग्रीक देवताओं के राजा ज्यूस (रोमन जूपीटर) की मूर्ति प्राचीन दुनिया की एक अद्भुत वस्तु मानी जाती थी। यह मूर्ति अब नहीं है। प्राचीन साहित्य से ही इसका पता लगा है। स्वर्ण और हाथीदांत की बनी ६० फीट ऊंची अति विशाल और प्रभाव-शाली यह मूर्ति थी; मानो अपने आदेशों से सृष्टि का संचालन कर रही हो। इसके अतिरिक्त अद्भुत सौंदर्यमयी ग्रीक देव 'एफोडाइटी' (रोमन वीनस) अर्थात् "सौंदर्य की देवी" की मूर्ति; एवं अन्य देवी देवताओं की मूर्तियों का वर्णन मिलता है। रोहड्स द्वीप में ई० पू० २८० में कांस्य धातु की एक विशाल "सूर्यदेव" की मूर्ति का निर्माण किया गया था। यह मूर्ति १०० फीट ऊंची थी। यह प्राचीन युग का एक "आश्चर्य" मानी जाती थी। ग्रीक देवी देवताओं के सम्बन्ध में कल्पना यही थी कि वे देवी देवता वस्तुतः मानव देह-धारी ही माने जाते थे प्राचीन मिस्र, मेसोपोटेमिया या भारत के अनेक देवी देवताओं की तरह उनकी सूरत अजीब ढंग की अमानवीय नहीं होती थी। जैसा सुडौल और सौन्दर्यपूर्ण ग्रीक मानव था, वैसा ही उसका देवता या देवी भी; और इन मानव देहधारी देवी देवताओं की मानवीय सूरत और शरीर वाली मूर्तियों में इतने पूर्ण और अद्भुत सौंदर्य के दर्शन होते हैं, जिनकी तुलना का सौंदर्य संसार में अन्यत्र नहीं मिलता, न चित्रों में न मूर्तियों में। ऐसा भी

उल्लेख आता है कि इन सफेद मूर्तियों में रंग की झाई भी दी जाती थी। यदि रंग की झांई वाली कोई मूर्ति मिल पाती तो सचमुच यह और भी एक सुखद आश्चर्य की वस्तु होती।

देवी देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त कालान्तर में वास्तविक जीवन की झांकियां भी मूर्तियों के रूप में अंकित होने लगी थीं जैसे एक रथवान रथ हांक रहा है, एक खिलाड़ी डिसकस फेंक रहा है। उस मूर्ति में जिसमें कि खिलाड़ी को डिसकस फेंकता हुआ दिखलाया गया है—स्वस्थ शरीर की पेशी-पेशी स्पष्ट दिखलाई देती है। वह स्वस्थ सौंदर्य का एक अद्‌भुत प्रतीक है।

ये प्राचीन ग्रीक मूर्तियां अपने मूल रूप में तो विरली ही मिलती हैं। अधिकतर उनकी रोमन प्रतिकृतियां ही मिलती हैं। अतएव प्राचीन ग्रीक और रोमन मूर्तिकला मिल-जुल सी गई है।

चित्र एवं संगीत-कला

उस समय के मिट्टी एवं संगमरमर के पत्थर के बर्तनों पर एवं भवनों की भित्तियों पर चित्रकला के कुछ नमूने मिलते हैं। चित्रकला के और भी आलेख उस युग के साहित्य में मिलते हैं—किन्तु उस युग का कोई वास्तविक चित्र उपलब्ध नहीं होता। धारणा है कि ग्रीस में संगीत-कला का भी उत्कर्ष हुआ था। उनकी पौराणिक कथाओं में महान् संगीतज्ञ आरफ्यूज का जिक्र आता है जो अपने लायर (एक वाद्य-यन्त्र) के माधुर्य से केवल मानव को ही नहीं, वरन् प्रकृति को आनन्द विभोर कर देता था।

यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि ग्रीक जीवन कलामय था और ग्रीक कला जीवनमय। एक अद्‌भुत उदात्तता एवं उल्लास, जीवन में एक मुक्त भाव और सौंदर्य के प्रति अभिरुचि—ये ग्रीक जीवन के तत्व थे—ग्रीक कला के तत्व भी।

धर्म

जिस कला की हम बात कर रहे हैं, मानो ईसा पूर्व ६ठी ७वीं शताब्दी, उसमें यह याद रखना चाहिए कि अभी तक ईसाई और इस्लाम धर्म का तो जन्म भी नहीं हुआ था, यहूदियों की हलचल इजराइल प्रदेश में होने लगी थी, किन्तु एकेश्वरवाद का रूप अभी स्तर नहीं हो पाया था। पूर्व में भारत में ई० पू० ६ठी शताब्दी मे बुद्ध का आगमन काल था और वहां धीरे-धीरे बौद्ध धर्म का प्रसार होने लगा था; चीन में स्वर्गवासी पूर्वजों और आदिकालीन देवी देवताओं की पूजा के साथ-साथ कनफ्यूसियस के नैतिकतापरक विचारों का प्रभाव फैलने लगा था।

प्राचीन ग्रीक लोगों के धर्म का रूप बहुदेववादी और मूर्ति-पूजक था, जैसा मानव की आदिकालीन जातियों में पाया जाता है। इन लोगों का सबसे बड़ा देवता ज्यूस था जिसका रोमन नाम जूपीटर हुआ। ज्यूस सब देवताओं

का राजा माना जाता था। अन्य कुछ देवता ये थे—ईरीस (युद्ध का देवता; रोमन नाम मार्स); ईरोस (प्रेम का देवता; रोमन नाम क्यूपिड), एपोलो (सूर्य देवता)। प्रमुख देवियां थीं—पेलास एथिनी (ज्ञान की देवी, रोमन नाम माइनरवा); एफ्रोडायटी (सौंदर्य की देवी; रोमन नाम वीनस); डीमीटर (अन्न की देवी; रोमन नाम सीरीज) इत्यादि। इन सभी देवताओं का स्थान ग्रीस में स्थित ओलोम्पिस पर्वत समझा जाता था। ग्रीक लोगों के नगरों में इन देवी देवताओं के भव्य देवालय होते थे, देवालय में मूर्ति के सामने एक वेदी बनी हुई होती थी, जिस पर भेंट चढ़ाई जाती थी। वर्ष में ऋतुओं के अनुसार विशेष पूजा और धार्मिक समारोह होते थे जिनमें सब स्त्री, पुरुष आनन्द से सम्मिलित होते थे।

किन्तु यह धर्म आरम्भिककालीन बहुदेववादी और मूर्तिपूजक होते हुए भी, मिस्र और मेसोपोटेमिया के इसी प्रकार के आदिकालीन धर्मों से मूलतः भिन्न था। मिस्र और मेसोपोटेमिया के मानव में अपने देवी देवताओं के प्रति भय और शंका का भाव था, वह उनसे डरता था कि कहीं देवता उसका अनिष्ट नहीं कर दें; और पुजारी, पुरोहित लोगों का इतना महत्व था मानो देवता द्वारा अनिष्ट करवाना न करवाना उन्हीं लोगों के हाथ में है। मिस्र में तो फेरो (राजा) ही देवता समझा जाता था और मेसोपोटेमिया में पुरोहित ही राजा होता था। किन्तु ये ग्रीक लोग एक भिन्न जलवायु, एक भिन्न युग, एक भिन्न मानस के लोग थे, मानो इस संसार में मानव का प्रथम दौर तो प्राचीन मिस्र, सुमेर इत्यादि प्रदेशों में हो चुका था और अब मानव का यह द्वितीय दौर प्रारम्भ हुआ था; प्राचीन सौर-पाषाणी सभ्यता के अवशेषों पर एक भिन्न सभ्यता का उद्भव हो रहा था। इनके धर्म के आधार कुछ नये तत्व थे; भय और शंका नहीं किन्तु निर्भयता, प्रेम और मैत्री; भय के मारे मानस का कुन्द और कुण्ठित हो जाना नहीं किन्तु दैनिक जीवन में मैत्री और सहयोग से मानस का खिल जाना और प्रसन्न होना। ग्रीक लोगों के देवता स्वयं ग्रीक मानवों से भिन्न नहीं थे, देवता भी वैसे ही खाते-पीते रहते थे, प्रेम और द्वेष करते थे, विवाह और युद्ध करते थे जैसे स्वयं ग्रीक लोग, देवता भी वैसे ही सुडौल और सुन्दर थे जैसे ग्रीक मानव स्वयं। ग्रीक लोग देवताओं के अस्तित्व के विषय में कोई बहुत निश्चित नहीं थे। ठीक है कि देवताओं के अस्तित्व में एक स्थूल सा विश्वास बना हुआ था, किन्तु ग्रीक साहित्य में देवता मानवीय भावों और वृत्तियों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीक रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं, मानो ग्रीक कवि ने किसी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता से प्रेरित होकर अपनी कल्पना से देवताओं की रचना कर ली हो।

ग्रीक धर्म हमेशा राज्य के आधीन था, अर्थात् सर्वोपरि धर्म नहीं किन्तु राज्य था; ग्रीक समाज धर्मरूढ़ (Theocratic) नहीं किन्तु लौकिक (Secular) था। ग्रीस में धार्मिक परम्परा ऐहिक उन्नति, नैतिक विकास एवं विज्ञान की प्रगति में बाधक नहीं थी, बल्कि स्वतन्त्र दार्शनिक विचार एवं कलात्मक रचना दैवी गुण ही समझे जाते थे। इसीलिए उन्होंने कला और संगीत के देवता एपोलो एवं सौंदर्य की देवी एफ्रोडाइटी की कल्पना की

थी और इस कल्पना को वे अपने जीवन और अपनी रचनाओं में साकार रूप भी दे पाये थे।

भाषा और साहित्य

जब ईसा से लगभग एक हजार वर्ष से भी पूर्व नोर्डिक आर्य लोग उत्तर पूर्व से ग्रीस में आये थे, तब उनमें केवल एक बोली जाने वाली (जिसका कोई लिखित रूप नहीं बना था) भाषा का प्रचलन था। यह भाषा आर्यन परिवार की ग्रीक भाषा थी। भाषा वास्तव में समुन्नत और मधुर थी। इसमें ग्रीक गायक कवि (बार्डस्) मधुर-मधुर एवं वीरतापूर्ण गीत गाया करते थे। जब ये लोग इधर आये और ग्रीस, एशिया-माइनर, दक्षिण इटली, क्रीट एवं अन्य द्वीपों में फैले तब वे फीनीसीयन लोगों में प्रचलित एक लिखित भाषा के सम्पर्क में आये। फीनीसीयन लोगों ने अपनी भाषा की लिपि प्राचीन मिस्र से सीखी थी। ग्रीक लोगों ने इसी फीनीसीयन लिपि का और भी अधिक विकास किया, उसमें व्यंजन अक्षर तो पहिले से ही थे किन्तु स्वर अक्षर नहीं थे। ग्रीक लोगों ने स्वर अक्षरों का स्वयं आविष्कार किया और इस प्रकार अपनी ही ग्रीक भाषा का एक लिखित रूप तैयार किया। अनुमानतः एक हजार वर्ष ईसा पूर्व तक ग्रीक लिपि तैयार हो चुकी होगी।

ग्रीस देश, ग्रीक भाषा का सर्वप्रथम महाकवि—केवल ग्रीस का ही नही किन्तु समस्त पश्चिमी दुनिया का आदि कवि-होमर माना जाता है। ग्रीक भाषा के दो प्राचीन महाकाव्य मिलते हैं, एक "इलियड" (Iliad) और दूसरा "ओडेसियस" (Odysseus)। इन दोनों महाकाव्यों में मानव भावनाओं, इच्छाओं, महत्वाकांक्षाओं, आन्तरिक प्रेरणाओं और अन्तर्द्वन्दों की एवं तत्कालीन सामाजिक जीवन और सामाजिक भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति है। "इलियड" की वस्तु कथा का सारांश इस प्रकार है—ग्रीक नगर स्पार्टा का राजा मेनीलास था। उसकी रानी थी हैलन जो उस युग की दुनिया में सर्वोपरि सौन्दर्यमयी रमणी समझी जाती थी। एशिया-माइनर में स्थित तत्कालीन ट्रॉय नगरी का राजा पेरिस किसी कार्यवश स्पार्टा आया। वहां उसने हैलन को देखा और उसे अपने राज्य में भगा ले गया। ग्रीक वीरों और ट्रॉय के ट्रोजन वीरों में युद्ध हुआ। हैलन को वापिस ग्रीस ले आया गया। कुछ-कुछ अंशों में यह गाथा हिन्दुओं के आदि कवि वाल्मीकि के आदि महाकाव्य "रामायण" की गाथा से मिलती है। दूसरे महाकाव्य "ओडेसियस" में ओडेसियस (यूलीसीस) नामक वीर योद्धा और महाप्राण मानव के आश्चर्यजनक और साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन है। इन महाकाव्यों के रचना काल के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की एक राय तो यह है कि महाकवि होमर द्वारा इनकी रचना ई० पू० ६५० के पहिले हो चुकी थी और उसी समय इनका लिखित रूप भी प्रचलित हो गया था। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि ये दो महाकाव्य किसी एक विशेष कवि की रचना नहीं हैं, वरन् कई कवियों की हैं। भिन्न-भिन्न समयों पर पदों की रचना होती रही, उनका पाठ कंठस्थ हो होकर कई पीढ़ियों तक चलता रहा, आखिर जब लिखने के साधन प्रस्तुत हुए तब ये कवितायें लिपिबद्ध की जाकर संगृहीत कर ली गईं, उसी रूप में जिसमें आज ये प्रचलित

हैं। होमर के पश्चात ई० पू० नवीं शताब्दी में एक दूसरा महाकवि हुआ जिसका नाम हिसिओड (Hesiod) था और जिसने नैतिक शिक्षा से परिपूर्ण प्रथम कवितायें लिखीं। इसके बाद तो एथेन्स के अभ्युदय काल में ईसा पूर्व चौथी पांचवीं शताब्दियों में ग्रीस में अनेक कवियों, नाट्यकारों, आलोचकों एवं गद्य साहित्यकारों का अभूतपूर्व आविर्भाव हुआ। अनेक दुखान्त नाटकों की एवं सुखांत नाटकों की एवं भावपूर्ण गीतिकाव्यों की रचनायें हुई। दुखान्त नाटककारों में सोफोक्लीज (४९६–४०६ ई० पू०), ऐश्चीलीज (५२५–४५६ ई० पू०), यूरोपीडीज (४८०–४०६ ई० पू०) के नाम और सुखान्त नाटककारों में एरीस्टोफेंस (४४८–३८० ई० पू०) का नाम उल्लेखनीय है। गीतिकाव्यों के लिए कवयित्री सेफो (लगभग ७ वीं शताब्दी ई० पू०) का नाम प्रसिद्ध है। इतिहासकारों में हिरोडोटस (४८०–४२५) ई० पू०) और थ्यूसीडाईडीज (४६०–४०० ई० पू०) प्रसिद्ध हैं। राजनीति और दर्शन शास्त्र में प्लेटो (४२७–३६० ई० पू०) और अरस्तू (३८४–३२२ ई० पू०) के ग्रन्थ महान और प्रसिद्ध हैं जो आज भी राजनीति, साहित्यालोचन और दर्शनशास्त्र विषयों के आधारभूत ग्रन्थ माने जाते हैं। इस प्रकार प्राचीन ग्रीस में शब्द और वाणी का अपूर्व अभ्युदय हुआ। उन आदि मनीषियों की वाणी का सौन्दर्य और माधुर्य हजारों वर्षों के बाद आज भी मानव हृदय को आलोड़ित कर देता है। ऐसी पूर्ण प्राणोत्तेजक और आनन्ददायिनी वाणी और साहित्य का कम से कम पश्चिमी दुनिया में पहले कभी भी संचार नहीं हुआ था। इसमें ग्रीक आत्मा की महानता प्रच्छन्न है।

दर्शन और विज्ञान

धार्मिक परम्परायें और विश्वास तो पहिले से ही सुनिश्चित से होते हैं। इन सुनिश्चितबद्ध परम्पराओं और विश्वासों से मानस विमुक्त होकर जब जीवन और सृष्टि के विषय में स्वतन्त्र चिन्तन करने लगता है तभी दर्शन का उदय होता है। प्राचीन मिस्र और मेसोपोटेमिया के कार्पण्य मानव अपनी चेतना को विमुक्त कर सृष्टि, प्रकृति और जीवन के विषय में निर्भय और स्वतन्त्र प्रायः कुछ अधिक नहीं सोच पाये थे, स्यात् उनमें अभी तक यह गहन चेतना जाग्रत ही नहीं हो पाई थी कि वे इन सब विषयों पर स्वतन्त्र चिन्तन और विवेचना करने लगते, स्यात् इन बातों ने अभी तक उनकी चेतना को परेशान भी नहीं किया था, किन्तु ये बातें ग्रीक लोगों को शुरू से ही परेशान करने लगी थीं। महानतम ग्रीक दार्शनिक अरस्तू का आगमन तो ई० पू० चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ था। किन्तु ग्रीक दर्शन की परम्परा इससे कई शताब्दियों पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी और तत्वज्ञान सम्बन्धी कई विचारधारायें प्रवाहित हो चुकी थीं। सृष्टि की अनन्त विभिन्नता में एकता ढूंढने की ओर चिन्तन होने लगा था, सृष्टि का आदि कारण जानने के प्रयत्न होने लगे थे। सबसे पहिले प्राय भूतवैज्ञानिक जो तत्व, जल के बाद वायु तत्व में ही सृष्टि का कारण ढूंढते थे, फिर प्राय गणितज्ञ-दार्शनिक जिनमें पाइथागोरस का नाम उल्लेखनीय है, जिन्हें सब वस्तुओं में यदि कोई एक सामान्य तत्व मिला तो वह "संख्या" थी, संख्या का आदि था "एक" ही (१), अतएव "एक" ही सृष्टि का आदि कारण और आदितत्व

है। फिर इलियाटिक्स आए जो उस "एक" को ही ईश्वर की संज्ञा देते थे और कहते थे यह "एक" चेतना बुद्धि तत्व है, जो स्वयं स्थित है, द्वन्द्वात्मक न्याय से वे इस "एक" की सत्ता सिद्ध करते थे। फिर अन्य दार्शनिक आये जो "सृष्टि की रचना" और "हमारे ज्ञान का आधार क्या है"—इन बातों की विवेचना करते थे। "सृष्टि रचना" के विषय में दार्शनिक अनाक्षागोरस कहता था, "एक अनन्त बुद्धि (चेतना) बहुरूप अनन्त भूतद्रव्य को सुव्यवस्थित किये हुए है।" दार्शनिक एम्पीडोक्लीज कहता था, "प्रेम ही एक सृजनकारी शक्ति है—सृष्टि की रचना प्रेम के आधार पर हुई है।" ज्ञान के आधार के विषय में हीराक्लीटस का मत भौतिकवादी था; वह इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान का आधार मानता था। इन्द्रियों के प्रवेशद्वार द्वारा ही सृष्टि का सही ज्ञान प्राप्त होता है। दार्शनिक परमीनाइडीज अध्यात्मवादी था, उसका मत यही था कि सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह इन्द्रियद्वार रुद्ध करके केवल सूक्ष्म भावनाओं अर्थात् आत्मचिंतन में अपना ध्यान केन्द्रित करे। कुछ दार्शनिक इन्द्रियों और अन्तरदृष्टि दोनों को ज्ञान का साधन मानते थे। फिर कुछ दार्शनिक आये जो अपने आपको सोफिस्ट कहते थे। उनकी यह धारणा थी कि अन्तिम तथ्य या तत्व की कोई पहिचान नहीं कर सकता, सत्य तो केवल सापेक्षिक है, एक बात भी ठीक हो सकती है दूसरी भी; अतएव वक्तृत्व शक्ति से, वाद–विवाद और तर्क से वह राय या बात मनवा लेनी चाहिये जो समाज में व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी हो। दृष्य प्रकृति और सृष्टि को समझने के लिए मानव के ये प्रथम प्रयास थे।

फिर ग्रीस के मानसिक क्षेत्र में पदार्पण होता है सुक्रात (४६९-३९९ ई० पू०) का जो एक पत्थर के कारीगर का पुत्र था, किन्तु जो बना महात्मा सुक्रात। उसने परस्पर विनिमय द्वारा और बातचीत द्वारा असत्य और अशुद्ध बात को खोल देने और सत्य और शुद्ध बात को ढूंढ़ निकालने का अपना ही एक ढंग निकाला। अधिक परिश्रम से बाह्य संसार, दृश्य प्रकृति को ढूंढ़ते–ढूंढ़ते उसे यह अनुभव होने लगा कि इस दृश्य संसार के वास्तविक तथ्य और अन्तिम सत्य को पा लेना असम्भव है, अतएव उसका ध्यान अन्तरसृष्टि, मन की दुनियां की ओर गया और वहां उसे नैतिक सत्यों की अनुभूति हुई और उसने यह घोषणा की कि बाहर की ओर देखने से नहीं किन्तु अन्तर की ओर झांकने से सत्य मिल सकता है। "अपने आपको पहिचानों" उसकी शिक्षा का मूल मंत्र बना; और ज्ञान और नैतिकता को उसने एक ही वस्तु माना; जो अच्छा है वही ज्ञानी है जो ज्ञानी है वही अच्छा है। जो ज्ञानी है वह बुरा काम कर ही नहीं सकता; बुराई अज्ञान का द्योतक है। जैसे कोई आदमी डरपोक है तो इसका यह अर्थ हुआ कि उसे मृत्यु और जीवन का सच्चा ज्ञान नहीं है। नैतिकता ही वास्तविक जीवन का आधार है। उसका दर्शन इस दुनिया में विशाल नैतिक शक्ति की रचना कर सकता है। उसके सत्य के शोध और असत्य के निषेध के ढंग से कुछ लोग ऐसे चिढ़ गये थे कि उस पर युवकों के दिमाग बिगाड़ने का इल्जाम लगाया गया और फलस्वरूप उसे विष का प्याला पीना पड़ा (३९९ ई० पू०)। किन्तु अपनी मृत्यु के पीछे अपने अनुयायियों में वह छोड़ गया एक महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति, जिसका

नाम प्लेटो [अफलातून ४२७–३४७ ई० पू०] था। प्लेटो का मस्तिष्क सचमुच एक विभूति थी जो युग–युग में मानव को चकित करती रही है और करती रहेगी। ज्ञान का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जो उसने अधूरा छोड़ा हो—क्या दर्शन, क्या राजनीति, क्या समालोचना, क्या शिक्षा। सब में उसका एक ही उद्देश्य था—"सत्य की खोज"। दार्शनिक क्षेत्र में उसे सृष्टि का सत्य (रहस्य) मिला—भाव में; वस्तु में नहीं। वस्तु है किन्तु अवास्तविक। वस्तु तो 'भाव' का प्रतिबिम्ब मात्र है। भाव स्थायी और वास्तविक है। विज्ञान का सम्बन्ध भावों (मानस रूपों) से है जो स्थायी हैं, वस्तुओं से नहीं जो कि भावों की केवल अपूर्ण नकल मात्र या प्रतिविम्ब हैं। इसके आगे बढ़ कर प्लेटो जिसका झुकाव अव्यक्त की ओर है, सब भावों का साधारणीकरण करके, एक साधारण भाव तक पहुंचता है, जिसे वह 'ईश्वर' की संज्ञा देता है। जिस प्रकार दृश्य वस्तुओं (सृष्टि) के परे भाव हैं, उसी प्रकार भावों के परे 'ईश्वर' है। ईश्वर परम भाव, परम बुद्धि, परम आनन्द, परम सौन्दर्य है, वही सब सृष्टि का "आदि कारण" है। उद्देश्य है 'सत्य' तक पहुंचना, किन्तु यदि ये दृश्य वस्तुयें भावों की सच्ची और पूर्ण नकल नहीं हैं तो हम सत्य तक पहुंचे कैसे? वह इस प्रकार—मानव देह (दृश्य वस्तु) से परिवेष्ठित एक तत्व है, "आत्मा"। यह 'तत्व' ईश्वरीयलोक, "सौन्दर्य और आनन्दमय" लोक से अवतरित होकर दृश्य संसार (मानव देह) में आता है, अत: उसे मध्यलोक की स्मृति होती है, जहां से वह अवतरित होता है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हमें इस दृश्य सृष्टि की, वस्तुओं की अनुभूतियां होती हैं; ये अनुभूतियां आत्मा की स्मृति को जागृत कर देती हैं, यह स्मृति "भाव" या "परमभाव" ईश्वर की होती है। वह लगाव जो शरीर में स्थित आत्मा, अर्थात् मानवात्मा को ईश्वर (परम भाव) से जोड़े रखता है, प्रेम है। दृश्य सृष्टि के परे "परमभाव", ईश्वरलोक है। इस 'परम भाव' या ईश्वरलोक की आभा सौन्दर्य है। आत्मा इस सौन्दर्य के लिये तड़फड़ाती रहे, यही प्रेम है; अर्थात् मानवात्मा में सौन्दर्य की उत्कट इच्छा ही प्रेम है। इस सौन्दर्य की (परम भाव की, आभा की) एक झलक भी मिल जाने से आत्मा को आनन्द की अनुभूति होती है,–उसे सत्य की प्राप्ति होती है। ये प्लेटो के दार्शनिक विचार हैं जिनसे उसने अपनी आत्मा को सन्तोष दिया एवं मन की शंकाओं और द्वन्द्वों को हटा कर अपने अन्तर में सामंजस्य स्थापित किया।

प्लेटो के बाद आया अरस्तू (३८४–३२२ ई० पू०)। अरस्तू प्लेटो का महान् चेला था और सिकन्दर महान् का गुरु। अरस्तू बहुत तेज था, गुरू से कम प्रतिभाशाली नहीं। ग्रीस में जो कुछ ज्ञान भण्डार है, ग्रीस में जो कुछ जानने को है उसकी परिणति प्लेटो और अरस्तू में आकर हो जाती है। अरस्तू था तो प्लेटो का चेला, किन्तु उसने गुरु की तमाम विचार पद्धति को ही बदल डाला। प्लेटो जहां आदर्श और भाव की बात करता था वहां अरस्तू इसी सृष्टि की वास्तविकता और इसी सृष्टि (प्रकृति) के नियमों की। प्लेटो ने ज्ञान का आधार ढूंढ़ा "आत्मा की स्मृति", भाव (आध्यात्म) में, अरस्तू ने ज्ञान का आधार ढूंढ़ा ज्ञानेन्द्रियों के प्रत्यक्ष अनुभवों में। बस यही मौलिक भेद हुआ और जहां प्लेटो ने तो एक आध्यात्म संसार की रचना की, वहां

अरस्तू ने विज्ञान संसार की नींव डाली। अतः अरस्तू 'भौतिक विज्ञान' का पिता कहलाया। वह दुनिया जो जादू टोना, देव पुजारी, निराधार परम्परा, भय एवं अज्ञानांधकार से भरी थी, उनमें अरस्तू ने दृढ़ता से विज्ञान के प्रकाश की किरणें फेंकीं, और वह रास्ता आलोकित किया जिससे मनुष्य स्वयं इस प्रकृति और समाज में अन्वेषण करके, प्रकृति और सृष्टि के रहस्यों को खोलता चला जाय।

प्लेटो के उपरोक्त दार्शनिक विचार पढ़कर यह नहीं मान लेना चाहिये कि वह तो केवल "आध्यात्म लोक" का मानव था। सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में परम्परा से ऊपर उठा हुआ वह निडर, एक स्वतन्त्र विचारक था। उसने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में एक आदर्श समाज संगठन की कल्पना की है; अपनी दूसरी पुस्तक "लॉज" में उसने बतलाया है कि एक नागरिक को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये। उसने स्पष्ट बतलाया है कि समाज और सामाजिक संगठन का निर्माण कोई अदृश्य शक्ति नहीं; प्लेटो के "भाव लोक" का ईश्वर भी इसमें दखल करने नहीं आता। हां, चूंकि यह संसार "भावों" की अपूर्ण नकल है, इसलिए इसमें बुराई स्वाभाविक है, किन्तु मानव के पास बुद्धि और स्वतन्त्र "इच्छा शक्ति" है, अतएव बुद्धि से अच्छाई और बुराई को पहिचान सकता है और अपनी 'इच्छा' से वह इनमें से किसी एक को भी चुन सकता है। प्लेटो ने कहा है–"शासन का स्वरूप मानव चरित्र के अनुरूप होता है। राज्यों का निर्माण शिलाओं और पेड़ों से नहीं हुआ करता, वह होता है नागरिक के चरित्रों से, जिससे प्रत्येक वस्तु को स्वरूप मिलता है।" मानव समाज को सम्बोधित कर प्लेटो ने स्पष्ट शब्दों में कहा है–"जिन सामाजिक एवं राजनैतिक बुराईयों के कारण आप इस समय कष्ट उठा रहे हैं उनमें से अधिकांश का निराकरण आप ही के हाथों में है। प्रबल इच्छा–शक्ति और साहस के द्वारा आप उन्हें दूर कर सकते हैं। यदि आप विचार करें और अपने विचारों के अनुसार कार्य करें तो आप अब से कहीं अधिक अच्छी और सुखद रीति से जीवनयापन कर सकते हैं। आपको अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं है।" अरस्तू इस बात को मानता था किन्तु वह यह भी जानता था कि प्लेटो के उपदेशानुसार अपने भाग्य को वश में करने के पहिले मानव समाज को अधिक ज्ञान और अधिक निश्चित ज्ञान की आवश्यकता है। अतएव अरस्तू ने क्रमपूर्वक उस ज्ञान को एकत्र करना आरम्भ किया जिसे आज–कल हम विज्ञान कहते हैं। सैंकड़ों उसके विद्यार्थी ग्रीस और एशिया में फैले हुए थे, उसकी 'प्राकृतिक विज्ञान के इतिहास' के लिए मसाला एवं तथ्य एकत्र करने को। उसके निर्देशन में उसके चेलों ने भिन्न–भिन्न देशों के १५८ संविधानों (शासन विधियों) का विश्लेषण और अध्ययन किया था इस प्रकार भौतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान की नींव पड़ी।

सांस्कृतिक देन

प्रकृति के अध्ययन, अन्वेषण एवं समाज के अध्ययन अन्वेषण की जो नींव, आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहिले अरस्तू ने डाली थी, उसकी कितनी अद्भुत परम्परा चल निकली और आज उसका क्या फल हमारे सामने

है, हम स्पष्ट देख रहे हैं—प्रकृति और समाज विषयक अनेक रहस्य जो मानव को विदित नहीं थे, आज स्पष्ट विदित हैं। दिन प्रति-दिन प्राकृतिक विज्ञान हमारे सामने संसार का भेद खोलता चला जा रहा है। आज प्रकृति मानव की सहचरी है। मानव समाज की विकास-विधि को समझने लगा है, इतिहास की गति को पहचानने लगा है।

ग्रीक मानव ने जहां निर्भय निःशङ्क हो एक वैज्ञानिक अन्वेषक की दृष्टि से समाज और प्रकृति को देखना प्रारम्भ किया था वहां उसने सौंदर्य की भावना को भी आत्मसात किया था। जगत उनके लिए सौन्दर्य-स्थली थी, और जीवन विस्मय और आनन्द की अनुभूति। दिल खोलकर वे यहां खेले थे—कलात्मक रचना करने में, नये विचार ढूंढने में, जीवित रहने में उन्हें आनन्द आता था। अपनी इन्हीं विशेषताओं से ग्रीक संस्कृति अखिल मानव जाति की प्रगति में सहायक बनी।

१०

प्राचीन रोम और उसकी सभ्यता

[ANCIENT ROME AND ITS CULTURE]

भूमिका

ग्रीस में ग्रीक आर्यनों की जब चहल-पहल शुरू हुई उसके कुछ शताब्दियों बाद यूरोप के एक अन्य भाग में (इटली, रोम में) एक तीसरी चहल-पहल प्रारम्भ हुई; यह रोमन आर्यों की चहल-पहल थी जो ग्रीक साम्राज्य और ग्रीक सभ्यता के पतन के बाद कई शताब्दियों तक चलती रही, और जिसने रोम और रोमन सभ्यता की छाप मानव इतिहास पर अङ्कित की। वास्तव में आधुनिक यूरोप में जो कुछ है, उसमें बहुत कुछ तो ग्रीक और रोमन सभ्यताओं की देन है।

राजनैतिक विवरण

प्राचीन रोमन इतिहास को हम तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं।

१. प्रारम्भिक स्थापना काल—(अनुमानतः १००० ई० पू० से ५१० ई० पू० तक)
२. जनतन्त्र काल—(५१० ई० पू० से २७ ई० पू० तक)
३. सीजर (सम्राट) काल—(ई० पू० २७ से ई० सन् ४७० तक)

प्रारम्भिक स्थापना काल (१००० ई० पू० से ५१० ई० पू० तक)

आर्य लोगों का ऐसा ही एक प्रवाह जो ग्रीस में आकर मिल गया था, ई० पू० १००० में इटली की तरफ भी आया। इटली में इन आर्यन लोगों के आने के पहिले भूमध्यसागरीय उपजाति के कार्ण्णेय (काले गोरे) लोग बसे हुए थे जिनका वर्णन कई बार आ चुका है। ये आर्य लोग आये, इन्होंने आदि निवासी कार्ण्णेय लोगों को हराया, परस्पर अनेक विवाह भी हुए और प्रारम्भ में मुख्यतया वे इटली के उत्तर और मध्य भाग में बस गये। ये लोग जो उत्तर पूर्व से इटली में आकर बसे, अन्य आर्यों की तरह गौर वर्ण के

लम्बे आदमी थे, साहसी और मुक्त स्वभाव वाले। ये परम्परागत अपने जातीय देवताओं की पूजा किया करते थे, इनका मुख्य देवता जूपीटर था और मुख्य पेशा पशुपालन और कृषि। आर्य भाषा परिवार की लेटिन भाषा का इनमें विकास हुआ। इस भाषा के लिखित रूप का विकास अर्थात् लेटिन लिपि का विकास धीरे-धीरे इन्होंने ग्रीक लिपि से ही शायद किया होगा। जिस लेटिन लिपि का इन्होंने विकास किया, वह लिपि आज यूरोप की प्रमुख प्रचलित भाषाओं में यथा फ्रेंच, इंगलिश, जर्मन, इटालियन, रशियन इत्यादि में प्रचलित है, बल्कि फ्रेंच, इटालियन और स्पेनिश भाषायें तो लेटिन का ही विकसित स्वरूप हैं। ग्रीक लोगों की तरह ही इनके समाज में दो वर्ग के लोग थे, पहला उच्च वर्ग जिसमें बहुत धनी और परम्परागत उच्च परिवार के लोग होते थे। इटली में बसने के बाद इस वर्ग के लोग पेटरिसियन कहलाये। दूसरे साधारण वर्ग के लोग होते थे जो प्लेबियन कहलाते थे। किसी उच्च परिवार का नेता ही युद्ध में और दूसरे बड़े-बड़े सामूहिक कार्यों में नेतृत्व करता था और वही राजा कहलाता था।

इटली में आने के बाद इनकी कई बस्तियां बसीं। कई नगर और गांवों का विकास हुआ।

रोम

इटली में इन लोगों के कार्य-क्षेत्र का केन्द्र प्रसिद्ध रोम नगर था। रोम कब और कैसे बसा? एक पौराणिक कथा है—प्रसिद्ध ग्रीक कवि होमर के महाकाव्य में वर्णित ट्रोय के युद्ध में ट्रोय के लोगों अर्थात् ट्रोजन लोगों की तरफ से प्रसिद्ध ट्रोजन वीर ईनीज लड रहा था—ट्रोजन लोगों की हार के बाद ईनीज ट्रोय से निकल पड़ा, कहीं एक नया साम्राज्य बनाने की खोज में। अन्त में वह इटालिया (इटली) प्रदेश में उतरा जहां की राजकुमारी से उसने विवाह किया—इस विवाह से उत्पन्न पुत्र ईनीज सिलवियस ने रोम नगर की स्थापना की। एक दूसरी दन्त कथा है जिसके अनुसार देव-पुत्र दो भाइयों रोमूलो और रीमस ने ई० पू० ७५३ में रोम नगर की स्थापना की। जो कुछ हो, ऐतिहासिक तथ्य तो इतना है कि टाईवर नदी में, जो इटली के पश्चिमी किनारे में गिरती है, एक जगह फोर्ड (छिछलासा भाग) आता है। इस फोर्ड पर व्यापारी लोग वस्तु विनिमय के लिए एकत्र हुआ करते थे—इन नवागंतुक आर्यन लोगों के अतिरिक्त एक दूसरी सभ्य एट्रूस्कन जाति के व्यापारी भी एकत्र होते थे। इस फोर्ड के पास छोटी-छोटी पहाड़ियां थीं, जिन पर धीरे-धीरे बस्तियां बस गईं, वे बस्तियां धीरे-धीरे विकसित होती गईं—और कालान्तर से विकसित रोम नगर का आविर्भाव हुआ। अनुमान है ७५३ ई० पू० से भी पहिले रोम नगर बस चुका था। रोम नगर टाईबर नदी के दक्षिण किनारे पर था—इधर लेटिन लोगों की बस्तियां बस गई थीं। टाईवर नदी के दूसरे किनारे पर एवं उसके उत्तर भूभागों में एट्रूस्कन जाति के लोग बसे हुए थे—उनका व्यापार भी पर्याप्त विकसित था—और उनकी कई जहाजें चलती थीं—उनके पास कई जहाजी बेड़े भी थे।

ऐसा अनुमान होता है कि पहिले तो रोम पर आर्यन (लेटिन) राजाओं का राज्य हुआ किन्तु टाईबर नदी के उत्तरी किनारे पर एट्रयूस्कन राजाओं की शक्ति बढ़ी-चढ़ी थी। एट्रयूस्कन लोग स्यात काले गोरे जाति के वे ही लोग थे जो पहले ग्रीस में बसे हुए थे, किन्तु ग्रीक लोगों के उधर आ जाने से ये लोग इटली में आकर बस गये थे। इन लोगों की स्थिति लेटिन आर्यन लोगों से कहीं अधिक सभ्य थी; लेटिन आर्य्यन लोग तो अभी-अभी तराई की भूमि में से निकल कर घूमते हुए आकर बसे ही थे—संगठित सभ्यता का उन्हें विशेष ज्ञान नहीं था। एट्रयूस्कन लोगों से ही उन्होंने स्थापत्य, चित्र-कारी और व्यापार की कला सीखी। ऐट्रयूस्कन और लेटिन लोगों में अनेक वर्षों तक लडाइयां, झगड़े होते रहे, अन्त में ईसा पूर्व छठी शताब्दी में एट्रयूस्कन राजाओं को वहां से हटना पड़ा और रोम पर लेटिन आर्य लोगों का (जिन्हें अब हम रोमन लोग कहेंगे) आधिपत्य हुआ और रोमन राजा वहां शासन करने लगा।

रोमन राजा प्राचीन मिस्र और बेबीलोन के राजाओं की तरह एका-धिपत्य शासनाधिकारी नहीं होते थे और न उनको मिस्र के राजाओं की तरह देवता और सुमेर और बेबीलोन के राजाओं की तरह पुरोहित माना जाता था। वास्तव में राज्य का उत्तरदायित्व और राज्य के बहुत से अधिकार एक संगठन के हाथ में रहते थे जिसको 'सीनेट' कहते थे। राजा स्वयं पेट्रिसियन वर्ग (उच्च वर्ग) के लोगों में से सीनेट के सदस्य चुना करता था और उस सीनेट की राय के अनुसार राजा को चलना पड़ता था। राज्य के बड़े-बड़े मामलों में सीनेट के सदस्य आपस में बहस और विचार विनिमय करके ही किसी निर्णय पर पहुंचते थे। ऐसा संगठन कि राजा ही सीनेट के सदस्यों की नियुक्ति करे वहुत दिनों तक नहीं चल सका, अन्त में राजाओं के शासन का खातमा किया गया और ५१० ई० पू० में रोमन लोगों ने अपने शासन के लिए गणराज्य की स्थापना की।

गणराज्य काल
(५१० ई० पू० से २७ ई० पू०)

लगभग ५१० ई० पू० में जब रोमन गणराज्य की स्थापना हुई उस समय केवल रोमनगर और मध्य इटली में ही रोमन लोग फैले हुए थे और वहीं उनका राज्य था। टाईबर नदी के उत्तर से लेकर ठेठ इटली के उत्तर में पो नदी तक ऐट्रयूस्कन लोग बसे हुए थे और उनका राज्य था इटली के दक्षिण में जिसे इटली की ऐडी कहते हैं और सिसली द्वीप के पूर्वी भागों में ग्रीक लोग बसे हुए थे। भूमध्यसागर को पार कर अफ्रीका में भूमध्यसागर के किनारे महान् कारथेज नगर बसा हुआ था। यह वही नगर था जो ई० पू० ८०० में सेमेटिक उपजाति के फिनीशियन लोगों ने बसाया था। कारथेज नगर पश्चिमी दुनिया का एक बहुत विशाल व्यापारिक केन्द्र था और अनुमान है कि जब रोम में रोम गणराज्य की स्थापना हुई उस समय इसकी आबादी लगभग तीन लाख थी। इस कारथेज के रहने वाले कारथेजियन लोगों का कारथेज के आसपास उत्तरी अफ्रीका में और सिसली द्वीप के पश्चिमी भागों में

एवं भूमध्यसागर के अन्य कई द्वीपों में अधिकार था। यह तो रोम गणराज्य के पड़ोसियों की राजनैतिक स्थिति थी। ५१० ई० पू० में रोमन गणराज्य की स्थापना हुई, यह वही काल था जब 'पूर्वी दुनियां अर्थात् चीन में महात्मा कनफ्यूसियस अपना संदेश चीनियों को सुना रहा था, भारत में महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार हो रहा था, मिस्र और वेबीलोन अपने पतन के अन्तिम दिनों में थे और पच्छिमी एशिया-माइनर से लेकर पूर्व में सिन्ध नदी तक ईरानी सम्राट दारा का महान् विशाल सम्राज्य स्थापित था। ग्रीस में ग्रीक आर्यन लोग स्थापित हो चुके थे और स्वतन्त्र अपनी सभ्यता का विकास कर रहे थे। यह थी शेष दुनियां की हालत जब रोम में गणराज्य का विकास हो रहा था। शेष दुनियां की और रोम के पड़ोसियों की चर्चा यहां इसलिए की गई है कि हम इस बात को अच्छी तरह समझ लें कि उस समय रोम में मानवीय समाज के संगठन की सर्वथा एक नई प्रणाली 'गणराज्य प्रणाली" का विकास किया जा रहा था। माना भारत में उस युग में कहीं कहीं गणराज्य स्थापित थे किन्तु वे बहुत सीमित और छोटे छोटे थे और अपने आसपास के राज्यों में उनका सामाजिक संगठन की प्रणाली की दृष्टि से कोई विशेष प्रभाव नहीं था। माना ग्रीस में भी गणराज्य प्रणाली का प्रचलन था किन्तु उनके गणराज्य भी छोटे छोटे नगर राज्यों में ही सीमित थे। इन दो उदाहरणों को छोड़ कर प्रायः शेष दुनियां में जहां कहीं भी राज्य था, वहां राजा या सम्राट का 'एक-तन्त्रीय' शासन ही चलता था। कहीं भी किसी एक ऐसे विशाल गणराज्य की स्थापना नहीं हुई थी, जिसमें विशाल भू-भाग, कई देश एवं कई भिन्न-भिन्न जातियां सम्मिलत हों। ऐसे गणराज्य का विकास, गणराज्य का इतने विशाल क्षेत्र में प्रयोग, दुनियां में सबसे पहले रोम में, रोमन लोगों द्वारा ही प्रारम्भ हुआ।

रोमन गणराज्य (रोमन रिपब्लिक) की व्यवस्था जानने के पहिले, यह जान लेना उचित होगा कि इस गणराज्य का विस्तार कहां-कहां तक हो गया था।

इस समय रोम के इर्दगिर्द तीन शक्तियां थीं, जिनसे रोम को निपटना था।

(१) उत्तर में जैसा हम उल्लेख कर आये हैं, ऐट्रूस्कन लोग थे। किन्तु इनकी शक्ति का ह्रास किया गॉल लोगों ने। ये गॉल नार्डिक आर्यन जाति के लोग थे जो फ्रान्स इत्यादि देशों में बस गये थे और जन-संख्या बढ़ने पर उत्तर-पच्छिम और उत्तर से इन दक्षिणी प्रदेशों में आ रहे थे। आल्प्स-पर्वत को पार कर समस्त उत्तर इटली को उसने ध्वस्त कर दिया और राज्यों और नगरों को रौंदते हुए ये एक बार रोम तक बढ़ आये।

रोम नगर पर इन्होंने अधिकार भी कर लिया, किन्तु रोम की पहाड़ियों पर स्थित ये रोमन किले को नहीं ले पाये। इसी बीच में, कहते हैं इनके सेनों में बीमारी फैल गई और रोमन लोगों ने इनको धन आदि देकर वापिस लौटा दिया—और वे उत्तर की ओर चले गये। उत्तर में बहुत दूर तक रोमन गणराज्य का विस्तार हो गया। तदुपरान्त कोई छुटपुट हमले ये करते रहे हाँ,

किन्तु रोमन गणराज्य पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं रहा।

(२) दक्षिण में 'मेगना ग्रीसीया' (वृहत्तर ग्रीस) था। जब से रोम नगर और आसपास की भूमि में रोमन गणराज्य स्थापित हुआ था, तब से अब तक कई शताब्दियां बीत चुकी थीं–पूर्व में अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) महान् का साम्राज्य भी स्थापित हो चुका था–उसकी मृत्यु भी हो चुकी थी, और उसका साम्राज्य कई भागों में विभक्त भी हो गया था। इस समय ग्रीस के उत्तरी पच्छिमी प्रदेश ऐपीरस में पीरहस नामक ग्रीक राजा का राज्य था–समस्त इटली और सिसली को जीत कर अपने राज्य में मिला लेने की उसकी महत्वाकांक्षा थी। अतएव अपनी सुसंगठित सेना और जहाजी बेड़े को लेकर वह इटली की ओर बढ़ आया। रोमन लोगों को इस बात का बहुत भय था कि कहीं अलक्षेन्द्र की तरह ग्रीक लोग पच्छिम में भी उनको परास्त कर अपना साम्राज्य स्थापित न कर लें। इस समय कार्थेज (जिसका वर्णन ऊपर आ चुका है) के पास बहुत जबरदस्त जहाजी बेड़ा था–रोमन लोगों को कार्थेज से इतना भय नहीं था जितना ग्रीक साम्राज्य के विस्तार से, अतएव वे कार्थेजियन लोगों से मिल गये। यद्यपि कई युद्धों में राजा पीरहस की विजय हुई किन्तु अन्त में २७५ ई० पू० में, इटली में साम्राज्य स्थापित करने का सब विचार छोड़ कर उसे लौट जाना पड़ा। इटली के दक्षिण भाग–इटली की ऐडी–में जो ग्रीक राज्य थे, वे भी समाप्त हुए–और ठेठ दक्षिण तक रोमन गणराज्य का विस्तार हो गया। सिसली कार्थेजियन लोगों के हाथ लगा।

(३) अब अफ्रीका और सिसली में कार्थेजियन लोग रहे। ग्रीक लोगों के आक्रमणों के सामने तो रोमन और कार्थेजियन एक हो गये थे, किन्तु अब ग्रीक लोगों के लौट जाने के बाद दोनों में विरोध उत्पन्न हो गया। दोनों जातियां महत्वाकांक्षी थीं। रोमन लोग अभी नये-नये आये थे—उनमें नया साहस एवं नया जीवन था–उधर कार्थेज को अपनी जल-सेना और जहाजी बेड़े पर विश्वास था–कई शताब्दियों से अखिल भूमध्यसागर पर उनके जहाजों का दबदबा था। याद रखना चाहिये कि कार्थेज भी ग्रीक गणराज्यों की तरह एक गणराज्य था।

दोनों शक्तियों में टक्कर हुई—१०० वर्षों से भी अधिक तक, बीच–बीच में सन्धि और शान्ति के कुछ वर्षों को छोड़कर, इन लोगों में युद्ध होते रहे। इतिहास में ये युद्ध 'प्यूनिक युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हैं। मुख्यतया तीन प्यूनिक युद्ध हुए—

पहला प्यूनिक युद्ध (२६४–१४१ ई. पू.)

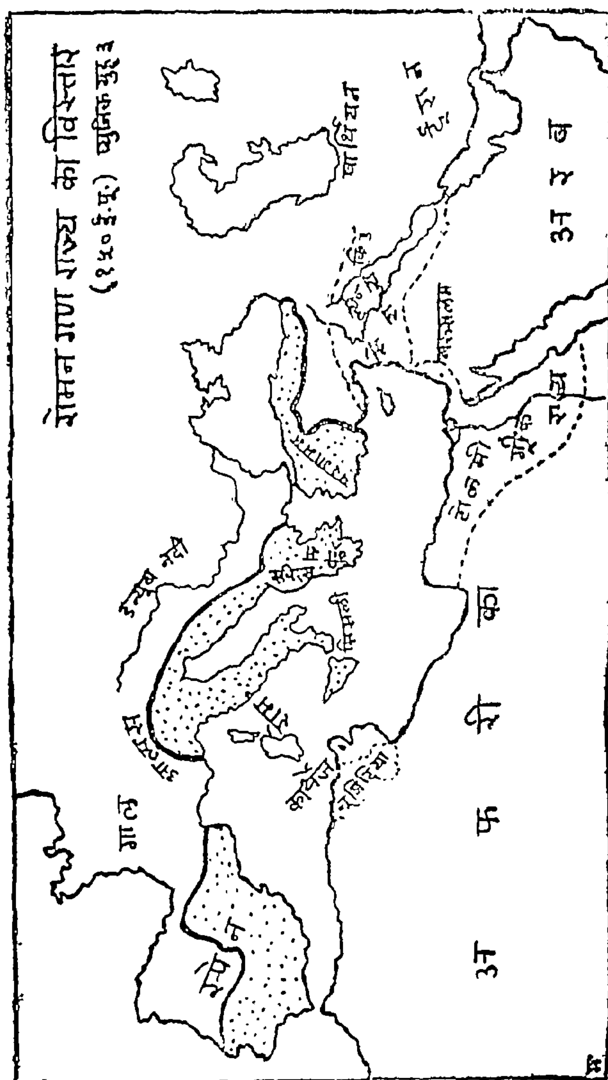
लगभग २५ वर्ष तक ये युद्ध होते रहे। बहुत विनाशकारी और भयंकर ये युद्ध थे। अग्रीगंटम नामक स्थान पर लम्बे काल तक युद्ध होता रहा,—युद्ध काल में प्लेग की बीमारी फैल गई, अतएव युद्ध में जो सैनिक मरे वे तो मरे ही, बीमारी से भी अनेक सैनिक मर गये। अनुमान है रोमन लोगों की क्षति ३० हजार तक पहुंच गई थी। इस थल युद्ध में तो रोमनों की विजय हुई (२६१ ई. पू.) किन्तु कार्थेज के शक्तिशाली जहाजी बेडे के सामने उनका ठहरना कठिन

था। फिर भी रोमन लोगों ने जहाजी युद्ध में एक नये ढंग का आविष्कार किया–उन्होंने एक झूला या पुल सा बनाया जो एक मस्तूल के सहारे एक पुल्ली द्वारा ऊपर टंगा रहता था और ज्योंही दुश्मन के जहाज नजदीक आते थे पुल्ली से वह झूला नीचे कर दिया जाता था और उसमें बैठे सैनिक दुश्मन के जहाज में उतर जाते थे। इस आविष्कार से रोमन लोगों को सामुद्रिक युद्ध में बहुत मदद मिली। ई. पू. २५६ में इकोनोमस नामक स्थान पर एक बड़ा युद्ध हुआ। इस युद्ध में ७०० से ८०० तक बड़े-बड़े जहाज लड़ रहे थे। कुछ इतिहासकारों का मत है कि प्राचीनकाल का यह सबसे बड़ा जहाजी युद्ध था। यद्यपि कार्थेजियन लोगों का बेड़ा रोमन लोगों के बेड़े से बहुत अधिक बड़ा था किन्तु उपरोक्त आविष्कार की मदद से अन्त में रोमन लोगों की विजय हुई। कार्थेजियन लोगों को संधि करनी पड़ी। इस विजय के फलस्वरूप समस्त सिसली पर रोमन लोगों का अधिकार स्थापित हुआ और कुछ इतिहासकार लिखते हैं कि कार्थेजियन लोगों को ३२०० टेलेन्टस (७ लाख ८२ हजार पौंड) रोमन लोगों को युद्ध का हरजाना देना पड़ा। इसके बाद २२ वर्ष तक शान्ति रही।

दूसरा प्यूनिक युद्ध (२१९–२०२ ई. पू.)

१७ वर्ष तक यह युद्ध चलता रहा। इस समय स्पेन में कार्थेजियन लोगों का राज्य था। इतिहास प्रसिद्ध जनरल हेनीबाल कार्थेजियन सेनाओं का सेनापति था। स्पेन से बढ़ता हुआ वह इटली में घुस आया और अनेक रोमन नगरों का विध्वंस कर उसने मिट्टी में मिला दिया। १५ वर्ष तक उसने इटली में मार-काट मचाई रक्खी और इस तरह बढ़ता हुआ वह इटली के दक्षिण तक आ पहुँचा। जहां कहीं भी वह जाता था कोई भी रोमन जनरल उसके सामने नहीं ठहर पाता था। किन्तु रोमन सीनेट (वह संगठन जिसके हाथ में सब शासनाधिकार रहते थे, जो युद्ध काल में युद्ध का संचालन करती थी, और शांति के समय सब राज्य-कार्य संचालन करती ही थी) और रोमन जनरलों ने हिम्मत नहीं हारी–वे डटे रहे। एक रोमन जनरल था सीपिओ, उसने रोमन सीनेट को यह सुझाया कि सीनेट यह अनुमति दे दे कि सीधा दुश्मनों की राजधानी कार्थेज पर जाकर हमला कर दिया जाय-इस प्रस्ताव पर सीनेट के सदस्यों में बहुत बहस हुई—किन्तु आखिर सीनेट ने अपनी अनुमति दे दी। आदेश मिलने पर सीपिओ स्वयं कार्थेजियन लोगों की राजधानी कार्थेज पर सीधा हमला करने के लिये बढ़ गया। कार्थेजियन जनरल हानिबाल भी इटली से कार्थेज की रक्षा करने के लिए वहां पहुंच गया। कार्थेज के निकट ई. पू. २०२ में झामा नामक स्थान पर भयंकर युद्ध हुआ। हेनीबाल की हार हुई और रोमन लोगों की विजय। हेनीबाल इस उद्देश्य से कि वह रोमन लोगों के हाथ नहीं पड़े कुछ काल तक इधर उधर भागता फिरा और अन्त में उसने जहर खाकर आत्महत्या कर ली।

इस युद्ध में स्पेन रोमन लोगों के अधिकार में आया और लड़ाई की क्षतिपूर्ति के रूप में कार्थेजियन लोगों को १० हजार टेलेन्टस (२२ लाख पौंड) रोमन लोगों को देने पड़े।


रोमन गण राज्य का विस्तार
(१५० ई.पू.) प्युनिक युद्ध ३
गाल
स्पेन
आल्प्स
डन्यूब नदी
रोम
कार्थेज
सिसली
पार्थियन
ईरान
यरूसलम
अफरीका
अरब
टोलमी ग्रीक राज्य

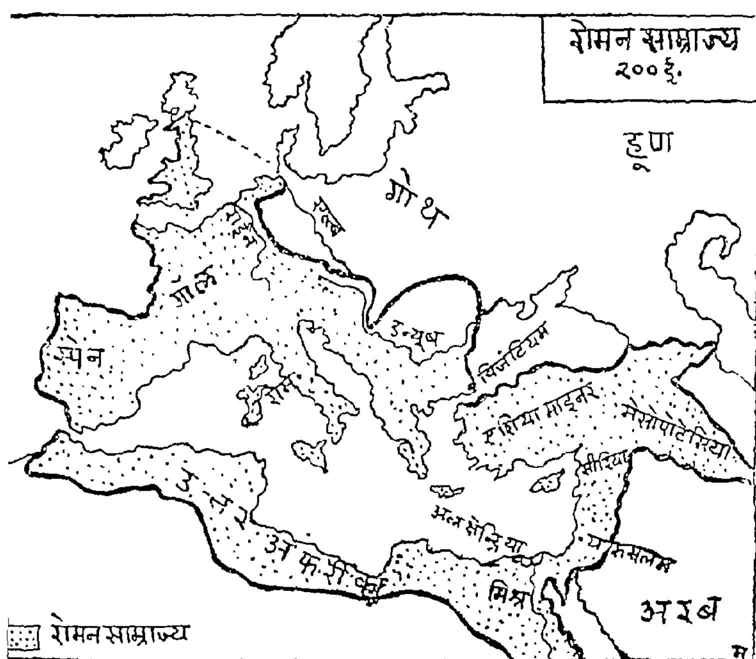
तीसरा प्यूनिक युद्ध (१४६ ई. पू.)

उपरोक्त झामा के युद्ध के बाद लगभग ५६ वर्ष तक शान्ति रही, किन्तु रोमन लोग शान्ति से नहीं रह सके और ई० पू० १४६ में उन्होंने कार्थेज नगर पर हमला कर दिया। समस्त नगर जलाकर भस्म कर दिया और ऐसा अनुमान है कि कार्थेज की लगभग ५ लाख आवादी में से ६० हजार मनुष्य जीवित रहे। इन जीवित बचे कार्थेजियनों को गुलाम बनाकर रोम भेज दिया गया। इसी वर्ष पूर्व में ग्रीस के प्रसिद्ध नगर कोरिंथ को भी ध्वस्त किया गया और ग्रीस के शेष द्वीप और राज्य, रोमन राज्य में मिला लिये गये। वास्तव में ग्रीस मुख्य, मिस्र के टोलमी और एशियाई भागों के सेल्यूकिड ग्रीक शासकों में परस्पर वैमनस्य था—इस स्थिति से लाभ उठाकर ही रोमन लोग सरलता से ग्रीक राज्यों पर अपना अधिकार जमा सके। रोम राज्य का इतना दबदबा था कि एशिया-माइनर के ग्रीक राज्य 'परगामम' ने अपने आपको खुशी से रोमन साम्राज्य को समर्पित कर दिया। अनेक ग्रीक लोगों को गुलाम बना लिया गया—किन्तु साथ ही साथ ग्रीक संस्कृति और साहित्य का प्रभाव रोमन जीवन और रहन–सहन पर पड़ा। उपरोक्त प्यूनिक युद्धों के बाद रोमन राज्य का विस्तार पच्छिम में स्पेन से लेकर पूर्व में एशिया-माइनर तक था। पृष्ट १२३ पर मानचित्र देखिए।

रोमन रिपब्लिक में शासन प्रणाली और सामाजिक जीवन

रोम रिपब्लिक के सबसे अधिक समृद्धि काल में, दुनियां के निम्न भाग सम्मिलित थे। इटली तो था ही और पच्छिम में थे स्पेन और गाल (फ्रांस)। पूर्व में थे ग्रीस और एशिया-माइनर और दक्षिण में कार्थेज और भूमध्यसागर तट के कुछ अन्य भूभाग,–और मिस्र भी। यूरोप में इस राज्य की सीमा राइन नदी तक थी। राइन नदी के उत्तर में असभ्य हूण, गोथ, फ्रेंक और ट्यूटन लोग इधर उधर फिर रहे थे किन्तु अभी तक वे कोई संगठित राज्य स्थापित नहीं कर पाये थे। दक्षिण अफ्रीका सर्वथा अज्ञात देश था, भारत और चीन बहुत दूर पड़ते थे इसलिए रोमन लोगों में और रोम के आधीन देशों में यह धारणा सी बन गई थी कि मानो विश्व में रोमन लोगों ने एक विश्व राज्य स्थापित कर लिया है। वास्तव में बात यह है कि उस काल में साधारण लोगों को, यहां तक कि शासकों को भी भूगोल का बहुत कम ज्ञान था। आज पाठशाला के एक साधारण विद्यार्थी का भूगोल का ज्ञान उस युग के पंडितों से कहीं अधिक है।

इस विशाल राज्य का केन्द्र रोम था और इसका संचालन करने के लिये समस्त अधिकार दो निर्वाचित व्यक्तियों में निहित थे जो न्यायाधीश या सलाहकार कौंसल्स कहलाते थे। इन दो कौंसल्स का चुनाव रोम में समस्त लोगों की संसद करती थी जिसे कोमीटीया कहते थे। पहले तो वोट देने का अधिकार केवल उच्च वर्ग के पेट्रिसियन लोगों को था किन्तु अनेक वर्षों के द्वन्द्व के बाद साधारण वर्ग के लोगों को अर्थात् प्लेबियन्स को भी वोट का अधिकार मिल गया था। ज्यों–ज्यों इटली में रोमन राज्य बढ़ा त्यों–त्यों इटली के सब लोगों को (केवल गुलामों को छोड़कर) रोमन नागरिक घोषित



कर दिया गया, जिसका अर्थ था कि वे भी रोमन संसद के सदस्य हैं और कौंसल्स के निर्वाचन में अपना मत दे सकते हैं। सर्व साधारण की इस संसद की अनुमति से ही राज्य के सब नियम कानून बनते थे और उसकी अनुमति के अनुसार ही महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय होता था; किन्तु धीरे-धीरे ये सब अधिकार सीनेट में निहित हो गये थे। इटली के बाहर रोम के आधीन जितने राज्य थे वे सब एक तरह से रोमन रिपब्लिक के प्रान्त समझे जाते थे और उन प्रान्तों को शासन करने के लिए रोमन सीनेट द्वारा शासक नियुक्त किये जाते थे। उन प्रान्तों को शासन का पूर्ण अधिकार इस सीनेट द्वारा नियुक्त शासकों को होता था। इन शासकों को सीनेट के प्रति उत्तरदायी होना पड़ता था।

सीनेट रोमन गणतन्त्र के विधान की एक मुख्य केन्द्रीय संस्था थी। इसके सदस्यों की नियुक्ति उपरोक्त दो निर्वाचित कौंसल्स के द्वारा होती थी। पहिले तो केवल पेट्रिसियन लोगों में से सीनेटर्स की नियुक्ति की जाती थी परन्तु बाद में प्लेबियन लोगों में से भी सीनेट के सदस्यों की नियुक्ति होने लगी। राज्य कार्य के लिए जितने भी मजिस्ट्रेट या अफसर होते थे वे सब लोग ससद द्वारा निर्वाचित किये जाते थे और ये अफसर या मजिस्ट्रेट सीनेट के भी सदस्य होते थे। सीनेट के ये सदस्य प्रायः वे ही लोग होते थे जो समाज में अपनी कुशलता, राजनीतिज्ञता या वक्तृत्व शक्ति से अपना स्थान बना लेते थे। साधारणतः ३०० से लेकर ५०० तक इसके सदस्य होते थे। सीनेट उस काल के अनुभवी राजनीतिज्ञ, कुशल मजिस्ट्रेट लोगों की एक

संस्था थी—धनिक जमीदार लोग भी इसके सदस्य नियुक्त होते थे। रोम के फोरम (मध्य बाजार) में सीनेट-गृह बना हुआ था, वहीं सीनेट की बैठकें होती थीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि रोम की गणराज्य प्रणाली में सर्वोपरि तो थे दो कौंसल्स जो एक वर्ष के लिए निर्वाचित किये जाते थे और जिनमें वैधानिक दृष्टि से राजकीय सब अधिकार निहित थे। सबसे नीचे थी नागरिकों की संसद जो कौंसल्स का और मजिस्ट्रेट और शासक अफसरों का निर्वाचन करती थी। इन दोनों के बीच में एक कड़ी की भांति थी सीनेट, जिसका महत्व एक दृष्टि से हम इतना मान सकते हैं जितना कि आज के प्रजातन्त्र राज्यों में एक सार्वभौम-सत्ता युक्त पार्लियामेंट का। वास्तव में स्थिति भी यही थी कि सब राज्य कार्य, राज्य की नीति का निर्माण, युद्ध और शान्ति एवं राजकीय अन्य सब महत्वपूर्ण बातों का संचालन सीनेट ही करती थी जहां राजनीतिज्ञों, बड़े-बड़े प्रभावशाली वक्ताओं की बहस के बाद ही प्रश्नों का निर्णय होता था। इस विधान में इतना लचीलापन अवश्य था कि विशेष संकट की स्थिति में सीनेट, कौंसल्स इत्यादि को स्थगित करके सब राज्य-भार और कार्यसंचालन किसी योग्य डिक्टेटर की नियुक्ति करके, उसके हाथों में सौंप दे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव इतिहास में यह सर्वप्रथम प्रयास था जब एक विशाल भूभाग में विशाल मानव समाज की व्यवस्था गणराज्य प्रणाली और सिद्धांतों पर सगठित हुई हो। उस युग में अर्थात् ई. पू. काल में तो इसे एक विश्व-राज्य मान लिया गया था। कई शताब्दियों से रिपब्लिक की स्थिति बने रहने से गणराज्य सिद्धांतों एवं नियमों की एक सुदृढ़ परम्परा सी बन गई थी। किन्तु इससे यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिए कि रोमन रिपब्लिक की हम आधुनिक सुविकसित और सुसंगठित जनतन्त्र प्रणाली से तुलना कर सकते हैं।

वैसे तो कौंसल्स के निर्वाचन में एवं अधिकारियों के निर्वाचन में मतदान का अधिकार समस्त रोमन नागरिकों को था—जो समस्त इटली में फैले हुए थे, किन्तु मतदान का कार्य केवल रोम में होता था। मतदान के लिये लोग या तो फोरम (सभा-भवन) में एकत्र हो जाते थे या बाड़ों में; या सैनिकों की ड्रिल के लिये लम्बे चौड़े मैदान बने हुये थे वहां। मतदान की निश्चित तारीख के १७ दिन पूर्व सन्देशवाहक देश के भिन्न भिन्न कोनों में एलान कर आते थे—किन्तु सबके लिए यह सम्भव नहीं था कि वे मतदान के लिये या किसी भी राजकीय प्रश्न पर अपनी राय प्रगट करने के लिये रोम में आ पहुंचे। इस अड़चन को दूर करने के लिये आधुनिक काल में प्रतिनिधित्व प्रणाली का विकास हुआ, किन्तु उस युग में वे इस ढंग की कल्पना नहीं कर सके। केन्द्रीय रोमन राज्य के आधीन दूरस्थ प्रान्तों के लोगों के मतदान या राजकीय प्रश्नों पर अनुमति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था।

जितने भी राजकीय प्रश्न होते थे, उनके विषय में लोगों की जानकारी प्रायः नहीं के बराबर होती थी, क्योंकि उस युग में न तो शिक्षा का प्रसार

था, न समाचार प्रसार के लिये कोई साधन। यद्यपि चीन में छपाई का आविष्कार हो चुका था—किन्तु रोमन लोग अभी इससे अनभिज्ञ थे।

प्रतिनिधित्व-प्रणाली, शिक्षा और समाचार प्रसार के अभाव में गण-राज्य का वह स्वरूप नहीं बन सकता था—जो आज बन चुका है।

सामाजिक जीवन

रोमन समाज में दो वर्ग के लोग थे—पहला उच्च वर्ग। उच्च वर्ग के लोग पेट्रीसियन कहलाते थे। परम्परा से प्रतिष्ठित परिवार, धनिक लोग, बड़े-बड़े भूमिपति आदि इस वर्ग में माने जाते थे। दूसरे साधारण वर्ग के लोग प्लेबियन कहलाते थे—जो गरीब होते थे और मुख्यतया खेती और मजदूरी करते थे। ज्यों-ज्यों रोम के राज्य की सीमायें बढ़ती गयीं और रोमन लोग अन्य जातियों पर विजय प्राप्त करने लगे, रोमन राज्य में एक तीसरा वर्ग भी उत्पन्न हो गया। यह वर्ग गुलामों का था; गुलाम वही विजित लोग होते थे जिनको दूसरी जातियों के साथ युद्ध के अवसरों पर पकड़ लिया जाता था। वे गुलाम बड़े-बड़े जमींदार और धनिकों के हाथ में आते थे जो रोमन सीनेट के सदस्य होते थे। ये धनी और जमींदार लोग गुलाम लोगों से अपने खेतों पर खेती करवाते थे, घर की सब चाकरी करवाते थे और तमाम मजदूरी का काम करवाते थे। इनके साथ मनचाहा निर्दयता का व्यवहार किया जाता था, इनको मारा पीटा जाता था और व्यापारिक वस्तु की तरह वे बेचे भी जाते थे। इन्हीं गुलाम लोगों की मजदूरी से बड़े-बड़े विशाल भवन और मन्दिर खड़े होते थे।

रोमन समाज में विवाह और स्त्रियों के अधिकार

समाज में विवाह का निम्न ढंग प्रचलित था। यदि पुरुष और स्त्री में विवाह के खयाल से यौन सम्बन्ध स्थापित हो जाता था तो स्त्री पुरुष के घर चली जाती थी और वे दोनों पति पत्नि की तरह मान्य होते थे। इस विवाह में किसी भी प्रकार की रस्म अदा करने की आवश्यकता नहीं थी। यदि लड़की का पिता चाहता तो अपनी लड़की को कुछ दहेज दे सकता था, वह दहेज पति का धन समझा जाता था। इसको छोड़कर पति और पत्नि का धन स्वतन्त्र होता था, यहां तक कि पत्नी अपने पति को अपने धन का दान भी नहीं कर सकती थी। सम्बन्ध विच्छेद (तलाक) स्वतन्त्र था। पति या पत्नी में से कोई भी जब चाहे एक दूसरे का परित्याग कर सकते थे।

रोमन कानून

रोमन संसद द्वारा समय-समय पर इस उद्देश्य से नियम बनाये गये थे कि खेती के लिए प्लेबियन (साधारण वर्ग) लोगों को सामूहिक भूमि मिले, प्रमुक वर्ग भूमि से अधिक भूमि कोई नागरिक न रख सके, भूमिगत कर्ज माफ कर दिये जायं इत्यादि; किन्तु जो कुछ भी नियम बनते थे वे लिखे नहीं जाते थे, अतएव पेट्रिसियन लोग (उच्च वर्ग के लोग) जो अधिकतर

के सदस्य होते थे मनचाहे ढंग से जिसमें उनका स्वार्थ साधन हो उन नियमों का उपयोग कर लेते थे अतएव एक आन्दोलन चला कि रोम के जितने भी कानून हैं वे लिख लिये जायें। अन्त में ४५० ई० पू० में प्राचीन अलिखित कानूनों के आधार पर कुछ कानून बनाये गये जो १२ विभागों में विभक्त थे। ये कानून १२ पट्टियां कहलाते थे। बहुत अंशों तक ये ही १२ पट्टियां रोमन कानून के आधार माने जाते हैं। ये बारह पट्टियां अपने आदि रूप में नहीं मिलती हैं किन्तु ऐसे उल्लेख अवश्य मिलते हैं जिनसे पता लगता है कि प्रसिद्ध सीनेटर सिसरो (ई० पू० प्रथम शताब्दी) के जमाने में प्रत्येक युवक को इन बारह कानूनों, इन १२ कानून की पट्टियों को कंठस्थ करना पड़ता था। आज इन कानूनों का जो रूप संग्रहीत है वह भिन्न भिन्न पुस्तकों में उल्लिखित संकेतों और उद्धरणों से प्राप्त किया गया है। ये कानून परिवार में पिता पुत्र के सम्बन्ध, परिवार में धन का वितरण, नागरिकता, विवाह और तलाक इत्यादि बातों से सम्बन्धित हैं। इन १२ पट्टियों के बाद भी रोमन कानून का विकास होता रहा। भिन्न-भिन्न काल में मजिस्ट्रेटों के जो आदेश होते थे, सम्राटों के जो आदेश होते थे एवं लोगों की संसद द्वारा जो कानून पास होते थे वे सब संग्रहीत होते जाते थे। अन्त में ईसा की छठी शताब्दी में रोमन सम्राट जस्टिनियन ने उस काल से पूर्व के सब रोमन कानूनों का संग्रह कराया, उनका विधिवत् वर्गीकरण कराया और उनका एक सारांश तैयार करवाया जो "जस्टिनियन कानून" कहलाता है। इंगलैण्ड को छोड़कर यूरोप के अन्य सभी देशों में जितने भी कानून आज प्रचलित हैं उनका आधार उपरोक्त "जस्टिनियन कानून" ही है। कई अंशों में तो इंगलैण्ड के कानूनों पर भी रोमन कानूनों का प्रभाव है। प्राचीन रोमन सभ्यता की दुनियां को सबसे बड़ी देन उपरोक्त विधिवत् विभाजित और संहितावद्ध कानून ही है। दूसरे किसी प्राचीन देश में कानूनों का इतना सुसंगठित और सुविकसित रूप नहीं मिलता और न न्यायाधीशों और न्यायालयों की इतनी सुन्दर व्यवस्था मिलती है।

धन्धे

विशाल जन समुदाय का मुख्य काम तो कृषि ही था। जिस तरह से आज इटली अंगूर, अञ्जीर, नारंगी, जैतून इत्यादि फलों का देश है ऐसा रोमन राज्य काल के प्रारम्भ में नहीं था, किन्तु धीरे-धीरे इन चीजों की भी पैदावार होने लगी थी। कृषि के साथ साथ पशु पालन जैसे गाय, बैल, घोड़ा भेड़, बकरी इत्यादि के पालन का काम भी होता था। भेड़ों की ऊन से कपड़े बुने जाते थे। लोहा, टिन, चांदी, सोना इत्यादि की जहां खानें होती थीं उनकी खुदाई की जाती थी। लोहा विशेषकर स्पेन, दक्षिणी फ्रांस, इंगलैण्ड, बाल्कन प्रायद्वीप का वह भाग जो आजकल रूमानिया कहलाता है और उत्तर अफ्रीका में; सोना मुख्यतया स्पेन में; संगमरमर इटली, एशिया-माइनर और अफ्रीका में पाया जाता था। शिल्प और हस्त उद्योग में कुशल लोग संगमरमर के सुन्दर भवन और मूर्तियां, लोहे के हथियार और चांदी और सोने के आभूषण और मुद्रायें बनाते थे। व्यापार और युद्ध के लिए बड़े-बड़े जहाज

भी बनाये जाते थे जो पतवार और पाल से चलते थे। व्यापार बहुत उन्नत स्थिति में था। पूर्वीय देशों (भारत और चीन) से जवाहरात, रेशम, मिर्च और मसाले जहाजों में भरकर अरब देश तक आते थे; वहां से वे ऊंटों के काफिलों पर लद कर मिस्र और सीरीय देश तक पहुंचते थे और वहां से फिर जहाजों में लदकर वे रोम पहुंचते थे। पश्चिमी दुनियां में व्यापार शुरू-शुरू में केवल वस्तुओं की अदला-बदली से होता था किन्तु बाद में सिक्कों का प्रचलन हो चुका था, जिससे व्यापार बहुत सरलता से होने लगा था, यद्यपि समाज में कुछ बुराइयां आ गई थीं।

व्यापारिक मार्ग

मिस्र मे अलकजेन्डरिया, काला सागर पर बीजेन्टाइन, अफ्रीका में कार्थेज, स्पेन में नोवाकार्थेगो, इटली में जेनाग्रा और ओसटिया ये सब बन्दरगाह थे जो परस्पर जहाजों द्वारा जुड़े हुए थे। रोमन लोगों ने, ज्यों-ज्यों उनका राज्य-विस्तार हुआ बड़ी बड़ी सड़कें इस प्रकार बनवाई कि उनके राज्य का कोई भी ऐसा प्रान्त नही था जिनका सड़कों द्वारा रोम से सम्बन्ध न हो।

रोमन लोगों का धर्म और जीवन

ग्रीक लोगों की तरह रोमन लोग भी देववादी और मूर्ति पूजक थे। इटली में बसने के पूर्व प्राचीन काल से अनेक जातिगत देवताओं की पूजा का इनमें प्रचलन था। इटली में बसने के बाद और ग्रीक लोगों के सम्पर्क में आने के बाद ग्रीक लोगों के अनेक देवता भी इन लोगों के देवताओं से मिल-जुल गये थे, और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि इनके देवता और देवियों में और ग्रीक लोगों के देवता और देवियों में कोई अन्तर नहीं है। इनके मुख्य देवता में कोई अन्तर नहीं है। इनके मुख्य देवता जुपीटर थे जिनका ग्रीक नाम ज्यूस था। इसके अतिरिक्त मार्स युद्ध का देवता था, अपोलो संगीत और कला का देवता था, वल्कन अग्नि का देवता था, वीनस सौंदर्य की देवी और माइनरवा ज्ञान की देवी थी, मर्करी देवताओं का संदेश वाहक एक चालाक नटखट देवता था।

इन देवताओं की सुन्दर-सुन्दर मूर्तियों का निर्माण हुआ था जो मन्दिरों में स्थापित थीं। मन्दिरों के लिए भी कलापूर्ण और विशाल भवन निर्माण किये गये थे। किन्तु इन देवी देवताओं के प्रति प्राचीन मिस्र और सुमेर की तरह रोमन लोगों के मानस में कोई भय अथवा रहस्य की भावना नहीं थी और न ये लोग किसी शासक में देवत्व की भावना का आरोप करते थे, जैसा प्राचीन मिस्र में होता था। हां, रोमन साम्राज्य काल में—जब रिपब्लिक के बाद सम्राटों का शासन प्रारम्भ हो गया था—तो प्राचीन मिस्र की तरह, रोमन सम्राटों की भी मूर्तियां बनने लग गई थीं; वे मन्दिरों में स्थापित होती थीं और देवताओं की तरह उनकी पूजा होती थी। प्रत्येक रोमन के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह मन्दिर में सम्राट की मूर्ति के सामने सादर नमन करे।

किन्तु इस सब के पीछे "ठाठ वाट" और सम्राटों में आत्म-पूजा करवाने की भावना थी—न कि सचमुच किसी धार्मिक विश्वास से प्रेरित होकर लोग सम्राटों की मूर्तियों के सामने नमन करते हों। सच बात तो यह है कि रोमन लोगों के जीवन का केन्द्र—उनके व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन का केन्द्र धर्म और देवी-देवता नहीं थे—देवी देवताओं की मान्यता, उनके मन्दिर और पूजा, तो ठीक है, एक रूढ़िगत तरीके से चलते रहते थे, जब कि उनके जीवन का असली केन्द्र तो था राजनीति—उनका जनतन्त्र, जनतन्त्र के प्रति उनकी कर्त्तव्य भावना,—जनतन्त्र के कानून और सामाजिक जीवन में अनुशासन और संगठन। इसमें सन्देह नहीं कि शताब्दियों के गुजरते गुजरते ज्यों ज्यों समाज के लोगों में घोर आर्थिक विषमता पैदा होने लगी थी और ज्यों ज्यों पेट्रिसियन वर्ग के धनी और अधिकारी लोगों के जीवन में केवल यही उद्देश्य शेष रह गया था कि कैसे उनके धन और पद में वृद्धि होती रहे और सुरक्षित उनकी स्थिति बनी रहे—त्यों त्यों राज्य में अनुशासन और कर्त्तव्य भावना लुप्त होती गई थी—तब भी यदि रोमन लोगों को उनकी समुन्नत दशा में देखा जाय तो उनकी विशेषता राज्य के प्रति कर्त्तव्य भावना, राज्य संगठन और अनुशासन में ही मिलेगी।

मनोरंजन

रोमन लोगों के मनोरंजन का मुख्य साधन ग्लेडियेटर खेल थे। ग्लेडियेटर वे गुलाम लोग होते थे जिनको विशेषकर ऐसे तमाशों के लिए सिखा कर तैयार किया जाता था। इनका शरीर खूब मजबूत बनाया जाता था और कई हथियारों से खेलना इनको सिखाया जाता था। इन तमाशों के लिए और अन्य खेलों के लिए जैसे घुड़दौड़-रथदौड़ इत्यादि, रोमन लोगों ने बड़े बड़े थियेटर और अम्फीथियेटर बनाये थे जहां पर एक साथ हजारों (४०-५० हजार) दर्शकों के बैठने के लिए पक्की गेलेरी बनी होती थी। इन अम्फीथियेटर के बीच में विशाल अखाड़ा बना हुआ होता था जहां ग्लेडियेटर लोग खेल करते थे। दो खिलाड़ियों को हथियार देकर और उनके चेहरों को तरह तरह के अजीब नकाब से सजा कर अखाड़े में लड़ने के लिए छोड़ दिया जाता था। कभी कभी सैकड़ो खिलाड़ी एक साथ छोड़ दिये जाते थे। उनको लड़ते रहना पड़ता था जब तक कि दो में से एक मर नहीं जाता। कभी कभी खिलाड़ियों से लड़ने के लिए जंगली जानवरों को छोड़ दिया जाता था जैसे शेर, भेड़िया, रीछ इत्यादि। यदि कोई भी खिलाड़ी अखाड़े में आने के लिए आनाकानी करता था तो उसे हंटरों से पीट कर और गर्म लोहे से दाग कर जबरदस्ती अखाड़े में लाया जाता था। ये तमाम खेल बहुत ही असभ्य और क्रूर होते थे, किन्तु रोमन लोग इन्हीं से खुश होते थे। ग्रीस के ओलम्पिक खेलों की प्रतियोगिता की तरह रोमन लोगों में कोई प्रतियोगिता नहीं होती थी।

विज्ञान

विज्ञान के क्षेत्र में रोमन लोगों की कोई मौलिक उपलब्धि नहीं है, तथापि ग्रीक प्रभाव के अन्तर्गत वैज्ञानिक परम्परा बन्द कभी नहीं हुई।

प्राचीन रोम का सबसे प्रसिद्ध वैज्ञानिक एल्डर प्लिनी था जिसने अपने "प्राकृतिक इतिहास" में प्रकृति सम्बन्धी कुछ तथ्यों का निरूपण किया। दूसरा महान् वैज्ञानिक टोलमी था जो गणितज्ञ और भूगोल वेत्ता भी था। उसने यूनानियों द्वारा निर्मित विश्व के भौगोलिक मानचित्र को सुधार कर एक दूसरा मानचित्र बनाया था। एक अन्य विद्वान एग्रिप ने भी रोमन साम्राज्य के समस्त प्रदेशों का भ्रमण कर तत्कालीन दुनियां का (अपनी कल्पना के अनुसार) एक मानचित्र बनाया था। सेनेका (ई०पू० ३–६५ ई०) दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों था, उसने अपने ग्रन्थों में ज्योतिष, भूगर्भविज्ञान तथा खगोल विद्या के सिद्धान्तों का विश्लेषण किया। गैलन (१३०–२०० ई०) जाति से ग्रीक किन्तु रोम-साम्राज्य का नागरिक, उस युग का महानतम चिकित्सक था—उसकी ख्याति दूर दूर तक फैली हुई थी। विज्ञान और गणित के क्षेत्र में कोई महान् मौलिक उपलब्धि नहीं होते हुए भी रोमन सभ्यता ने अपनी व्यावहारिक प्रतिभा के बल पर अनेक इंजीनियर उत्पन्न किये थे जिन्होंने विशाल भवनों, एम्फीथियेटरों, सड़कों और पुलों का निर्माण किया। इस उद्देश्य से कि सम्पूर्ण राज्य के मुख्य मुख्य नगरों में परस्पर सम्पर्क बना रहे और सब नगर रोम से जुड़े हुए हों। रिपब्लिक काल में बड़ी बड़ी सड़कों का निर्माण किया गया। रोम पश्चिम में स्पेन तक और पूर्व में ग्रीस तक सड़कों से जुड़ा हुआ था। एक विशेष कौशल का काम था, नगरों में ठन्डे जल का प्रबन्ध। इंजीनियरों ने विशाल नालियां बनाई थीं—जिनमें पहाड़ों का ठंडा जल एकत्र और प्रवाहित होकर नगरों तक पहुंचता था।

कला

रोमन लोगों की स्थापत्य और मूर्तिकला प्रायः ग्रीक स्थापत्य और मूर्तिकला से भिन्न नहीं है। इन लोगों द्वारा निर्मित मन्दिर और देवताओं की मूर्तियां बहुत अंश तक ग्रीक मन्दिरों और मूर्तियों की नकल है। यहां तक कि ग्रीक कला का विशेष ज्ञान हमको इन रोमन मूर्तियों से ही होता है। शारीरिक गठन और सौंदर्य का भान इन लोगों को उतना ही था जितना ग्रीक लोगों को, चाहे यह उनकी नकल से हो। यही हाल चित्रकला का भी है। इस प्रकार रोमन कला चाहे अनुकरण मात्र रही हो किन्तु फिर भी उसमें परिवर्तन हुए; और कुछ कुछ स्वतन्त्र विकास भी। इस कला में वास्तविकता का पुट अधिक है, उपयोगिता पर विशेष ध्यान है, सौम्यता और सुन्दरता पर कम। रोमन लोगों ने ज्वालामुखी से निकली हुई मिट्टी, पत्थर और ईंटों को मिलाकर एक नई चीज तैयार की—'कंक्रीट'। इसी का प्रयोग वे अपने भवनों के निर्माण में करते थे। इसी की सहायता से वे निराधार गुम्बद तथा मेहराब बनाते थे। ऐसा मालूम होता है कि रोमन शिल्पकारों ने ग्रीक, एट्रास्कन तथा भूमध्यसागरीय कला के मूल तत्वों को मिला जुला कर एक नवीन वास्तुशैली का विकास किया था। प्राचीन पोम्पे नगर जो कि ज्वालामुखी लावा से दब गया था पुरातत्ववेत्ताओं ने खोदकर निकाला है। नगरी के भग्नावशेषों से रोमन भवनों की विशालता और महानता का पता लगता है। प्राचीन रोम की सबसे बड़ी इमारत "सरकस मैक्समस" थी जिसमें दो लाख २५ हजार व्यक्ति एक साथ बैठ सकते थे। उस युग का सर्व सुन्दर मन्दिर पैन्थियन मन्दिर था।

रोमन लोगों ने खेल तमाशों के लिए अनेक अम्फीथियेटर बनवाये थे–ये बहुत विशाल होते थे, हजारों दर्शकों के बैठने के लिए अखाड़े के चारों ओर गैलरी बनी हुई होती थी। रोम में ऐसा ही एक विशाल कोलोसियम था जिसके अवशेष आज भी मिलते हैं। इसका निर्माण ई स. ८० में हुआ था। ८७ हजार दर्शक इसमें एक साथ बैठ सकते थे। इसकी सबसे विलक्षण बात सिमटने-फैलने वाली एक छत थी जो धूप के समय समस्त कोलेजियम (क्रीड़ा-स्थली) पर छा जाती थी। तो प्राचीन रोम में सर्वाधिक महत्व की और आश्चर्य की भी, तीन वस्तुयें हुई–पेन्थियन, सरकस मैक्समस और कोलोसियम।

रोमन मूर्तिकला मानववाद की मूर्तिकला थी। प्लास्टर, संगमरमर और कांसे में मनुष्यों की सजीव और सुन्दर मूर्तियां निर्मित की जाती थीं। गणतंत्र काल की जूलियस सीजर, एन्टोनी एवं अन्य व्यक्तियों की कांसे की मूर्तियां सजीवता और वास्तविकता लिए हुए हैं। मारकस ओरेलियस की एक प्रतिमा मूर्तिकला का श्रेष्ठ नमूना है। चित्रकला के नमूने पोम्पे की दीवारों पर सुरक्षित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मैदानों के दृश्यों और प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में चित्रकार बहुत कुशल थे। ईसा की लगभग दूसरी शताब्दी तक प्राचीन रोमन कला का ह्रास हो चुका था।

साहित्य और दर्शन

ग्रीक जाति का तो इतिहास ही ग्रीक भाषा के महाकवि होमर के महाकाव्य से प्रारम्भ होता है, किन्तु रोमन इतिहास का प्रारम्भिक काल चाहे हम एक हजार ई. पू. तक ले जायं, वहां साहित्यिक रचना का कोई भी चिन्ह ई. पू तीसरी शताब्दी के पहले का नहीं मिलता; और रोमन भाषा की वह साहित्यिक परम्परा जब प्रारम्भ भी होती है तो वह होती है होमर के महाकाव्य ओडेसी के लेटिन अनुवाद से। वस्तुतः जो कुछ भी साहित्यिक कृतियां रोमन लोगों ने हमको दी हैं वे एक दृष्टि से ग्रीक साहित्य की अनुकरण मात्र हैं। ग्रीक महाकाव्य और दुखान्त नाटकों के अनुवाद के बाद रोमन (लेटिन) भाषा के स्वतन्त्र लेखक हुए—प्लाटस (तीसरी शताब्दी ई. पू.) एवं टीरेन्स (दूसरी शताब्दी ई. पू.), जो दोनों नाटककार थे। रोमन साहित्य का स्वर्ण-युग तो ई. पू. की पहली शताब्दी मानी जाती है जिसकी परम्परा साम्राज्य युग के प्रथम सम्राट ऑगस्टस के काल तक (१७ ई. स. तक) चलती रही; अतः इस युग को ऑगस्टस युग भी कहते हैं। इस एक ही शताब्दी में लेटिन साहित्य के महानतम सृजनकार पैदा हुए। कवियों में थे—महाकवि वर्जिल (७०–१९ ई. पू) जिसने होमर के ओडेसी की शैली में महाकाव्य ईनीड की रचना की; होरेस (६५–८ ई. पू.) जिसने ओड (Ode-सम्बोधन) शैली में अनेक गीतों की रचना की; ओविड और केटुलस जिन्होंने हल्के मूड में अनेक प्रणय गीत लिखे, जूवेनल जिसने व्यंग्यात्मक कवितायें लिखीं एवं अन्त में महान् दार्शनिक कवि ल्यूक्रेशियस (१०० से ५४ ई. पू.) जिसने प्रकृति के विकास पर एक लंबी कविता लिखी जिसमें प्रकृति के मूल पदार्थ की बनावट एवं मानव जाति के प्रारम्भिक इतिहास का

प्रेरणास्पद वर्णन मिलता है। गद्यकार हुए-सीनेटर सीसेरो (१०६-४३ ई. पू.) जिसके राजनैतिक लेखों एवं भाषणों के संग्रह आज भी हमें रोमन गणतंत्रीय युग का दिग्दर्शन कराते हैं। सिसेरो को आधुनिक यूरोपीय गद्य साहित्य का जन्मदाता माना जाता है। इतिहासकार हुए—सीजर जिसके ग्रन्थ "कोमेन्टरीज" में गाल विजय और गृह-युद्ध के वर्णन आज भी लेटिन भाषा के विद्यार्थी बड़े चाव से पढ़ते हैं, लिवि (५९ ई. पू. से १७ ई. सन्) एव टेसिटस (५५ से ११७ ई.) जिन्होंने आधुनिक ढङ्ग से इतिहास लिखना प्रारम्भ किया एवं प्लूटार्क (४६ से १२० ई.) जिसने यूनानी भाषा में रोम के प्रसिद्ध व्यक्तियों की जीवन कथायें लिखीं। दार्शनिक लेखकों में प्रसिद्ध हुए-सम्राट मारकस ओरेलियस (सन् १६१-१८० ई.) जिसकी कृति मेडिटेशन्स (आत्म चिन्तन) सुविख्यात है, दार्शनिक एपिकटेटस (सम्राट नीरो की राजसभा का एक ग्रीक दास) जिसके विचार संग्रह आज भी पढ़े जाते है और सेनेका जिसने दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति के साथ साथ दुखान्त नाटकों की भी रचना की। इस सब साहित्य की रचना हुई किन्तु इसमें हमें उन मौलिकता, प्रतिभा और सौन्दर्य के दर्शन नहीं होते जिसके प्राचीन ग्रीक साहित्य में होते हैं, मानो रोमन मानस में उदात्त चेतना का विकास अवरुद्ध-सा था। रोम ने होमर की तरह कोई कवि, सुकरात की तरह कोई महात्मा, प्लेटो की तरह कोई दार्शनिक और अरस्तू की तरह कोई वैज्ञानिक हमें नहीं दिया। उसकी प्रतिभा तो, जैसा रोम के महानतम कवि वर्जिल स्वयं ने अपने 'महाकाव्य ईनीड' में एक स्थान पर व्यक्त किया है, अनुशासन एव साम्राज्य स्थापन, एवं वृहद् संगठन के कामों में अभिव्यक्त हो रही थी।[1]

गणतन्त्रीय परम्परा एकतन्त्र की ओर

पेट्रीसियन और प्लेबियन लोगों में विरोध

इन दो वर्गों में शताब्दियों तक विरोध चलते रहना-यह रोमन सामाजिक जीवन की एक घटना है। जितने भी युद्ध होते थे उनमें साधारण सैनिक की तरह प्लेबियन वर्ग के लोग भी अपने खेतों को छोड़कर लड़ने जाया करते थे। अपनी रिपब्लिक की रक्षा के लिए, अपने मन्दिरों और देवों की रक्षा के लिए, अपने राज्य की रक्षा के लिए लड़ना वे लोग अपना नागरिक धर्म समझते थे। वे किराये के सैनिकों की तरह वेतन पर लड़ने वाले सैनिक नहीं थे, नागरिक भावना से प्रेरित होकर अपनी जाति और संस्कृति की रक्षा के लिए लड़ने

1. 'Others be like, with happier grace
From bronze or stone shall call the face,
Plead doubtful causes, map the skies,
And tell when planets set or rise;
But Roman thou—do thou control
The Nations far and wide,
Be this thy genius, to impose,
The rule of peace on vanquished foes."

वाले सैनिक थे। किन्तु जब वह लम्बे समय तक अपने खेतों से दूर रहते थे, तो उनके खेतों की हालत बिगड़ जाती थी और फिर से अपने खेतों पर स्थापित होने के लिए और काम चालू करने के लिए उन्हें कर्जा लेना पड़ता था। कर्जा पेट्रीसियन लोग देते थे और कर्जा अदा न करने पर उनकी भूमि धनिक पेट्रीसियन लोगों के पास चली जाती थी और वे गरीब से गरीबतर होते जाते थे, जबकि धनिक लोग अधिक धनी हो जाते के। युद्ध में जीता हुआ एवं लूट का धन और माल एवं पकड़े हुए गुलाम सबके सब सीनेट के सदस्यों द्वारा अन्ततोगत्वता धनिक पेट्रीसियन लोगों के पास पहुंच जाते थे। पेट्रीसियन लोगों की जो कृषि भूमि बढ़ती जाती थी उस पर वह गुलामों से ही खेती करवा लेते थे, इसलिए उस भूमि पर काम करने के लिए उन्हें प्लेबियन लोगों की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इस प्रकार युद्धोत्तर काल में हजारों सैनिक बेकार हो जाते थे। समाज में बेकारी की भी एक समस्या पैदा होने लगी थी। इन सब कारणों से पेट्रीसियन और प्लेबियन लोगों में विरोध बढ़ता जा रहा था।

साधारण लोगों में दो बड़े नेता उत्पन्न हुए—टाईबेरियस ग्रैकस (१६२–१३३ ई० पू०) एवं गेयस ग्रैकस (१५३–१२१ ई० पू०) जिन्होंने भमि के प्रश्न पर बहुत विचार किया और यह प्रयत्न किया कि कृषि योग्य बड़े-बड़े विशाल भूमि क्षेत्र जो धनिक पेट्रीसियन लोगों ने अपने अधिकार में कर लिए हैं, वे सब भूमिहीन प्लेबियन वर्ग के किसानों को लौटा दिये जायें। उन्होंने यह भी प्रयत्न किया कि बेकारी की वजह से अनेक गरीब लोग जिनके पास खाने को अन्न नहीं बचा था उनमें राज्य की तरफ से निःशुल्क अन्न वितरण किया जाए। यद्यपि सीनेट में इन बातों का बहुत विरोध हुआ, तथापि उपरोक्त सुधार लाने में इन नेताओं को काफी सफलता मिली। उपरोक्त दो नेताओं के आन्दोलनों के अतिरिक्त और भी कई आन्दोलन हुए–जिनमें दृष्टि यही रहती थी कि सीनेट की शक्ति, जो पेट्रीसियन लोगों के प्रभाव में थी, कम होकर प्लेबियन लोगों को अधिकार मिले और धन और भूमि का उचित वितरण हो। सीनेट के पेट्रीसियन सदस्य अनेक चालाकियां करते रहते थे और उनका अवसर आते ही वे हजारों गरीबों और आन्दोलन-कर्त्ताओं को जान से मरवा डाला करते थे, यहां तक कि एक बार गुलाम लोग अपने एक ग्लेडियेटर के नेतृत्व में उपद्रव कर बैठे थे–किन्तु क्रूरता से उन्हें दबा दिया गया था और ऐसा अनुमान है कि ६ हजार गुलामों को एक साथ कत्ल कर दिया गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि रोम की दुनिया में ई. पू. की शताब्दियों में कुछ-कुछ ऐसी ही समस्यायें और प्रश्न पैदा हो गये थे जैसे आज २०वीं सदी में मानव को परेशान कर रहे हैं, जैसे धन का कुछ थोड़े से ही हाथों में केन्द्रित हो जाना, धनिक भूपति जिनके पास भूमि के विशाल क्षेत्र हों और भूमिहीन किसान, बेकारी इत्यादि।

सीजर और पोम्पे में द्वन्द्व

समाज में एक और नई स्थिति पैदा हो गई थी। बड़े-बड़े जनरल रोम की ओर से दूर-दूर देशों में युद्ध करने के लिए जाते थे; उनकी शक्ति का

आधार सैनिक ही होते थे। जनरल लोगों ने यह महसूस किया कि यदि युद्ध की समाप्ति के बाद उन सैनिकों के खाने-पीने और रहन-सहन के लिये कोई स्थायी उचित प्रबन्ध नहीं रहा तो उनकी और राज्य की शक्ति बनी रहना असंभव है। पहिले, जैसा कि ऊपर उल्लेख हो चुका है किसान वर्ग के लोग ही सैनिक होते थे जो युद्ध समाप्त होने के बाद या तो फिर से खेती करने लग जाते थे या बेकार हो जाते थे, किन्तु ज्यों-ज्यों रोम राज्य का विस्तार होने लगा था इस प्रकार की सीधी व्यवस्था चलते रहना असंभव था। अतएव स्थायी सेनाओं का निर्माण किया जाना आवश्यक था, जिनको वेतन मिलता रहे, चाहे युद्ध हो चाहे न हो। ये जो नई परिस्थिति पैदा हो गई थी—इसका कुछ उचित समाधान नहीं हो पाया।

रोम के विधान में ऐसी किसी स्थायी सेना की कोई बात नहीं थी—और न रोम की सीनेट ने इस समस्या का कोई सुगठित, केन्द्रीय सेना का निर्माण करके उचित हल किया। अतएव स्थिति यह बनी कि सैनिक अपने जनरल पर ही आधारित रहें जिनसे केवल उनको यह आशा थी कि उनको इनाम, विजित धन दौलत में हिस्सा, और विजित प्रान्तों में कृषि के लिए भूमि मिलती रहे। रोम की सीनेट ने यह कानून बना रखा था कि इन जनरलों की सेनायें एक निर्धारित सीमा को पार करके इटली में कभी भी दाखिल न हों। ऐसी परिस्थितियों में रोमन राज्य में अनेक महत्वकांक्षी जनरल उत्पन्न हो रहे थे, जिनमें परस्पर विरोध होता रहता था केवल इसी एक प्रयास के लिये कि रोम में वे सर्वसत्ताधारी बन जाय। ऐसे इतिहास प्रसिद्ध दो व्यक्ति थे—पोम्पे महान् और जूलियस सीजर। ये दोनों बहुत ही साहसी और वीर जनरल थे। पोम्पे ने इटली के पूर्व के प्रदेशों को यथा एशिया-माइनर को पदाक्रांत किया था और वहां अपनी धाक जमाई थी। पच्छिम में सीजर ने गॉल (फ्रांस) पर विजय प्राप्त की थी, गॉल को रोम राज्य में मिलाया था और उसके हमले ग्रेट ब्रिटेन तक हुए थे। इस समय तक पोम्पे पूर्व से इटली में लौट आया था—और रोम की सीनेट को उसका सहारा था। जब सीजर पच्छिमी प्रदेशों को जीत कर इटली की तरफ आ रहा था, तो सीनेट ने पोम्पे के कहने से सीजर का विरोध करना चाहा और उसकी शक्ति को समाप्त करना चाहा। पोम्पे और सीजर दोनों महत्वाकांक्षी थे और एक दूसरे को सहन नहीं कर सकते थे। सीजर ने अपनी सेनाओं सहित इटली में प्रवेश किया (जो कि ऐसा रोम के नियमों के विरुद्ध था)। पोम्पे अपनी शक्ति संगठित करने के लिये ग्रीक की ओर चला गया, सीजर ने उसका पीछा किया और अन्त में थीसली (ग्रीस) में फारसालस नामक स्थान पर ई. पू. ४८ में उसने पोम्पे को एक करारी हार दी,—पोम्पे मिस्र की ओर भागा—सीजर भी उधर ही गया, पोम्पे मारा गया और सीजर अब रोमन दुनिया का एकाधिपत्य नायक बना।

सीजर पोम्पे का पीछा करता हुआ मिस्र में अलेक्जेन्डिरिया तक आ गया था। यहां उसकी भेंट इतिहास प्रसिद्ध सौंदर्यमयी रमणी क्लिओपैट्रा से हुई और उनका प्रेम हो गया। क्लिओपैट्रा टॉलमी राज वंश की राजकुमारी

थी—याद होगा ये टोलमी वे ही ग्रीक लोग थे जो अलचेन्द्र महान् के बाद मिस्र में राज्य कर रहे थे। इसके अतिरिक्त मिस्र में सीजर देव-राजा, देवराजा की पूजा इत्यादि रस्मों के सम्पर्क में आया—और वह क्लिओपैट्रा और इन रस्मों का प्रभाव लेकर रोम लौटा। सन् ४६ ई. पू. में रोम के सीनेट ने सीजर (१०२-४४ ई. पू.) को जीवन भर के लिए डिक्टेटर नियुक्त किया। जुलियस सीजर अद्‌भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति और एक प्रभावशाली वक्ता था। उसका व्यक्तित्व आकर्षक था। महान् विस्तृत रोमन राज्य में सम्पूर्ण सत्ताधारी अब वह अकेला व्यक्ति था। यह एक ऐसा अवसर था जिसमें यदि वह चाहता तो बहुत कुछ कर सकता था। वास्तव में उसने कुछ किया भी, स्थानीय राज्य प्रबन्ध में उसने बहुत कुछ सुधार किये और स्यात् कई और भी योजनायें सुधार के लिए वह बना रहा था; किन्तु मिस्र और क्लिओपैट्रा का प्रभाव उसके मस्तिष्क पर अधिक था। रोम की प्रजातन्त्रीय परम्पराओं को छोड़ कर वह पुराने राजाओं की तरह राज्य-सिंहासनों पर बैठने लग गया था और राज्य शक्ति के चिन्ह स्वरूप वह राजदण्ड धारण करने लग गया था। उसकी सुन्दर मूर्तियां बनाई गयीं, उसकी एक मूर्ति की स्थापना एक मन्दिर में भी की गई और उसकी पूजा के लिये पूजारी भी नियुक्त किये गये। उसके मित्रों ने यह भी प्रयत्न किया कि उसको सम्राट बना दिया जाय। ये सब ऐसी बातें थी जिनको रोम की प्रजातन्त्रवादी भावनायें सहन नहीं कर सकती थीं। अन्त में ई.पू. ४४ में ब्रूटस (७८-४२ ई पू.) नाम के एक व्यक्ति ने कुछ और व्यक्तियों को लेकर जूलियस सीजर को फोरम की पैड़ियों पर वहीं कत्ल कर दिया जहां सीनेट की बठकें हुआ करती थीं। जूलियस सीजर की मृत्यु के बाद रोमन राज्य के पच्छिम भागों का अधिकारी बना ओक्टेवियस और पूर्वीय भागों का अधिकारी बना एण्टोनी जो जूलियस सीजर का मित्र था। एण्टोनी क्लिओपैट्रा के प्रेम में पड़ गया और मिस्र के राजाओं की तरह देव-राजाओं और व्यक्तिगत पूजा के पचड़ों में। ओक्टेवियस ने अच्छा अवसर देखा। सीनेट की अनुमति से उसने एण्टोनी पर चढ़ाई कर दी—३० ई. पू. में। अक्टीयम की जहाजी लड़ाई में एण्टोनी परास्त हुआ। अन्त में अन्टोनियो और क्लिओपैट्रा दोनों ने आत्मघात कर लिया। इस प्रकार अकेला ओक्टेवियस अब एक मुख्य व्यक्ति रोम राज्य में बचा।

ओक्टेवियस बहुत ही व्यावहारिक और कुशल आदमी था। जूलियस सीजर और एण्टोनी की तरह देवों की दुनियां में विचरण करने वाला नहीं, और न "आत्म पूजा" का शौकीन। यद्यपि वस्तुतः इस समय सब अधिकार और शक्तियां उसके हाथों में केन्द्रित थीं तथापि सब कुछ उसने सीनेट को सौंप दी और सीनेट, मजिस्ट्रेट और संसद की परम्परा को जो अनेक वर्षों से निर्जीव पड़ी थी, पुनर्जीवित किया। लोगों ने जयघोष किया कि ओक्टवियस रिपब्लिक का भक्त और स्वतन्त्रता का पुजारी था। किन्तु विशाल रोमन राज्य में उस समय जैसी परिस्थितियां थीं, इनमें शांति और अमन चैन कायम रखने के लिये यह उचित दीखता था कि ओक्टेवियस कुछ विशेषाधिकार अपने पास रखे। सीनेट ने ये विशेषाधिकार ओक्टेवियस को प्रदान किये और साथ

ही उसे ओगस्टस की पदवी से विभूषित किया। यह ई० पू० २७ की घटना थी।

ये विशेषाधिकार और पदवी ऐसी थी— जिनसे वास्तव में सत्ता का मूल ओक्टेवियस के हाथ में ही रहा। वास्तव में यह सम्राट बना और रोम में वास्तविक सम्राट के अधीन रोमन साम्राज्य का युगारंभ हुआ।

इस प्रकार समाप्त हुई संसार में सर्वप्रथम प्रजातन्त्रीय राज्य की परम्परा–जो ५०० वर्ष तक जीवित रही थी; वह प्रजातन्त्रीय परम्परा जो आधुनिक युग के प्रजातन्त्र राज्यों का प्रारम्भिक रूप थी—इसी में उसका महत्व है।

रोमन साम्राज्य
(२७ ई० पू० से ४७० ई० तक)

ई० पू० २७ में रोमन गण–राज्य समाप्त हुआ और उसकी जगह जन्म हुआ रोमन साम्राज्य का; पहिला सम्राट बना ओक्टेवियस जो इतिहास में ऑगस्टस सीजर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। रिपब्लिक काल में रोमन राज्य काफी विस्तृत था; रोमन सम्राटों ने इसमें और वृद्धि की और कुछ ही वर्षों में उसका विस्तार इतना हो गया कि इसके अन्तर्गत पच्छिमी दुनिया के लगभग सभी ज्ञात देश सम्मिलित थे। पच्छिम में स्पेन, गॉल (फ्रान्स) से प्रारम्भ होकर पूर्व में समस्त एशिया-माइनर और मेसोपोटेमिया तक यह साम्राज्य फैला हुआ था; स्काटलैंड और आयरलैंड को छोड़कर समस्त ग्रेट ब्रिटेन भी इसके अन्तर्गत था (८२ ई० सन् में रोमन सम्राट डोमोसन ने इङ्गलैंड पर विजय प्राप्त की)। सीरिया, फिलस्तीन, मिस्र और समस्त उत्तरी अफ्रीका भी इसमें सम्मिलित थे।

उस युग में इन देशों के लोगों का भौगोलिक ज्ञान इतना ही था कि मानो विश्व में ये ही देश थे। अतएव रोमन साम्राज्य विश्व राज्य माना जाता था और रोम के सम्राट विश्व-सम्राट समझे जाते थे। रोम के प्रथम सम्राट ओगस्टस सीजर के नाम से सीजर शब्द का इतना प्रचलन हुआ कि पच्छिमी दुनिया में प्रत्येक बड़ा सम्राट अपने आप को सीजर ही कहता था। उदाहरण स्वरूप जर्मनी का बड़ा सम्राट कैसर-सीजर कहलाता था, रूस का सम्राट जार-सीजर कहलाता था और ग्रेट ब्रिटेन का सम्राट कैसरे-हिन्द-हिन्द का सीजर कहलाता था।

वास्तव में रोमन लोगों के हाथ में यह एक ऐसा अवसर आया था कि यदि उसका उचित रीति से उपयोग किया जाता, ज्ञान विज्ञान की वृद्धि करके शेष दुनिया की जानकारी हासिल की जाती और न्याय व समानता के भावों पर आधारित समाज की व्यवस्था की जाती तो दुनिया में वस्तुतः एक विश्व राज्य बन जाता, कम से कम भविष्य के लिये विश्व राज्य की एक सुन्दर परम्परा तो स्थापित हो जाती। किन्तु लगभग इन ५०० वर्ष के साम्राज्य काल में जितने भी सम्राट आये—अच्छे-बुरे; अधिकतर

तो वहुत ही स्वेच्छाचारी और क्रूर, उनमें से किसी ने भी ऐसी विशाल दृष्टि, दूरदर्शिता और बुद्धि का परिचय नहीं दिया। वहुतेरे सम्राटों की दृष्टि तो यहीं तक सीमित थी कि वस वे सम्राट है, आनन्द में रहते हैं, मन्दिरों में उनकी मूर्तियां स्थापित हैं और उनकी पूजा होती है और देशों से स्वर्ण, जवाहरात, मोती और धन दौलत आकर उनके राज्य में एकत्र होती रहती है।

साम्राज्य स्थापित होने के वाद लगभग २०० वर्षों तक तो समस्त साम्राज्य में शान्ति कायम रही; रिपब्लिक काल के अन्तिम दिनों में 'जनरल' लोगों में सत्ता के लिये परस्पर जो गृह युद्ध होते रहते थे वे नहीं हुए और व्यापार की वृद्धि हुई। नगरों में अलग अलग एक प्रकार का स्थानीय स्वायत्त शासन था और इसके अधिकारी नागरिकों द्वारा निर्वाचित होते थे। यह सत्य है कि ये अधिकारी धनिक वर्ग में से आते थे किन्तु अपने शहर को सुधारने के लिये और उसे सुन्दर बनाने के लिए उन्हें काफी प्रयत्न करने पड़ते थे। प्रत्येक नगर में एवं प्रत्येक समाज में अपने ही मन्दिर, अपने ही थियेटर और अम्फीथियेटर, पब्लिक स्नान गृह और फोरम होता था और हर एक नागरिक अपनी इन संस्थाओं में गौरव की अनुभूति करता था।

कई रोमन सम्राटों ने अनेक वड़ी वड़ी सड़कों का निर्माण किया, पुरानी सड़कों को सुधरवाया, नदियों पर पुल वनवाये और इससे भी अधिक आश्चर्यकारी काम यह किया कि नगरों में ठण्डे जल के प्रवन्ध के लिये कई ऐसी विशाल पानी की नालियों का प्रवन्ध किया जिनमें पहाड़ों में से जल एकत्र होकर नगरों तक पहुंचता था।

किन्तु समाज में पीड़ित किसानों और गरीव लोगों की संख्या अत्याधिक थी और धनिक भूपति और व्यापारी गरीवों को चूसते रहते थे। विजित गुलाम लोगों का डेलफस (द्वीप) नगर में वरावर एक वाजार लगता था जहां गुलामों की विक्री और खरीददारी होती थी। इस तरह से साम्राज्य चाहे ऊपर से फला फूला मालूम होता था किन्तु अन्दर से वास्तव में खोखला होता जा रहा था। साम्राज्य के नागरिकों में यह भावना नहीं रह पाई थी कि वे अपने राज्य के वास्ते लड़ें।

इस वीच में एक दूसरी आफत साम्राज्य पर आई जिसने रोमन साम्राज्य को समाप्त करके ही चैन लिया। यह आफत थी उत्तर से, उत्तर पूर्व से वढ़ कर आते हुए नोर्डिक उपजाति के गोथ, फ्रेन्क, वेन्डल लोगों के निरन्तर हमले। ये वे ही लोग थे जिनके आदि घर मध्य एशिया में और उत्तर में स्केन्डीनेविया में थे। इन लोगों के अतिरिक्त ठेठ पूर्व में मंगोल से वढ़ कर आते हुए जंगली हूण लोगों के भी हमले वरावर होने लगे। उस समय मारकस ओरेलियस (१६१-१८० ई०) रोमन सम्राट था। यह सम्राट वहुत बुद्धिमान, अध्ययनशील और दार्शनिक था। इसके अपने राज्यकाल में सुदूर चीन से राजदूत भी आये थे। इसने तो किसी प्रकार शक्ति संग्रह करके गोथ और हूण लोगों के हमलों को रोके रखा। किन्तु उनके हमले वरावर होते रहे। फिर अनेक छोटे मोटे सम्राटों के वाद एक सम्राट डायोक्लेसियन

(राज्य काल २८४-३०५ ई०) हुआ जिसने सेना का पूर्ण संगठन किया। और इस उद्देश्य से कि इतने विशाल साम्राज्य का प्रबन्ध उचित रीति से होता रहे। उसने अपने साम्राज्य को दो भागों में विभक्त किया; पूर्वी और पच्छिमी, और यह व्यवस्था की कि उनका प्रबन्ध दो साझी सम्राट करें। डायोक्लेसिय के ही राज्यकाल में एक दूसरी महत्वपूर्ण घटना हो रही थी। ईजराइल ईसाई धर्म की स्थापना हो चुकी थी और अनेकों ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा धीरे धीरे एशिया-माइनर, ग्रीस, स्पेन, इटली इत्यादि प्रान्तों के साधारण लोगों में ईसाई धर्म का प्रचार हो रहा था। इन देशों के पीड़ित लोगों के लिए यह धर्म एक नया आश्वासन था, और जो कोई भी ईसाई बन जाता था उसको यह अनुभव होता था कि मानो वह भ्रातृत्व के एक महान संगठन का सदस्य बन गया है। रोम के प्राचीन काल में एक भावना जो सब रोमन नागरिकों को एक सूत्र में बांधती थी, वह थी उनकी राज्य के प्रति अनुशासन और कर्तव्य की भावना; किन्तु भावना का यह सूत्र टूट चुका था। अब एक दूसरी शक्ति आई जो साधारण जन को राज्य के प्रति नहीं किन्तु एक दूसरे के प्रति भ्रातृत्व के बन्धन में बांधती थी। सम्राट डायोक्लेसियन ने इसको देखा, वह इसको सहन नहीं कर सका और इससे भी अधिक वह सहन नहीं कर सका कि रोमन साम्राज्य में कोई भी व्यक्ति सम्राट की मूर्ति और प्राचीन देवताओं के आगे नमन न करे। ईसाई किसी भी प्रकार की मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी हैं अतएव सम्राट ने उन लोगों का जो अब तक ईसाई बन चुके थे बड़ी क्रूरता से दमन प्रारम्भ किया, किन्तु ईसाई धर्म का प्रभाव धीरे धीरे इतने लोगों में फैल चुका था कि उनका मूलतः दमन नहीं हो सका। डायोक्लेसियन के बाद कोन्सटेनटाइन महान् (राज्यकाल ३२४-३३७ ई.) रोमन सम्राट बना। उसने देखा कि यदि वह ईसाई धर्म को ही राज्य धर्म बना दे तो एक बना बनाया सुसंगठित समाज उसे मिल जायगा और उससे साम्राज्य की एकता मजबूत होगी। इसलिये ३१३ ई. में उसने एक आज्ञा पत्र द्वारा ईसाई धर्म को कानून-सम्मत घोषित कर दिया और स्वयं भी कुछ वर्षों में जाकर ईसाई बन गया। इस प्रकार ई० पू० चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में ईसाई धर्म एक महान् साम्राज्य का राज्य-धर्म बन गया।

डायोक्लेसियन ने रोमन साम्राज्य को पूर्वी और पच्छिमी दो भागों में विभक्त किया था किन्तु सम्राट कोन्सटेनटाइन को यह विचार नहीं जंचा कि एक ही साथ दो सम्राट रहें। अतएव उसने इस विचार को तो छोड़ा लेकिन रोम छोड़कर साम्राज्य के पूर्वी भाग में रहना उसने अधिक उचित समझा। अतएव रहने के लिये उसने कालासागर के तट पर प्राचीन बिजेन्टाइन नगर के समीप प्रसिद्ध कोन्सेटेंटिनोपल नगर का निर्माण किया। और यही नगर उसने अपनी राजधानी बनाई। कोन्सटेंटिनोपल नगर की स्थिति प्रत्येक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। एक तो यह एशिया और यूरोप का संगम स्थान है और दूसरा यह भूमध्यसागर और कालासागर का नियन्त्रण करता है। सम्राट कोन्सटेनटाइन के काल तक तो गोथ और वेन्डल लोगों के अनेक आक्रमण होते हुए भी रोमन साम्राज्य यों का यों बना रहा। किन्तु इस सम्राट के बाद फिर से रोमन साम्राज्य का पच्छिमी और पूर्वी भागों में

वभाजन हुआ। गोथ लोगों के आक्रमणों का जोर वढ़ता जा रहा था और साम्राज्य के जन साधारण की स्थिति बुरी थी (वे बड़े बड़े भूपतियों से दवे हुए थे, विशाल कर्ज का भार उन पर था, खेती के लिये स्वतन्त्र पर्याप्त भूमि उनके पास नहीं थी); अतः किसी भी प्रकार के परिवर्तन का स्वागत करने के लिए वे तैयार बैठे थे। इन कारणों से एवं गोथ लोगों के आक्रमणों से सामाजिक संगठन छिन्न हो चुका था—अन्त में सन् ४७० ई. के लगभग पच्छिमी रोमन साम्राज्य का अपनी गलित अवस्था में विल्कुल पतन हो गया और रोम पर गोथिक जाति के एक सरदार का अधिकार हो गया। इस प्रकार मानव इतिहास में प्राचीन रोम, रोमन सभ्यता और कहानी का अन्त हुआ।

रोमन लोग (यहां पर "रोमन लोग" से अर्थ हमारा उस वर्ग से है जिसके हाथ में सत्ता और शक्ति थी—साधारण वर्ग की तो हस्ती ही क्या थी) अपने धन, आराम और सत्ता से प्राप्त आत्म-तुष्टि से रहते रहे। ज्ञान के विकास और प्रचार के लिए, जन साधारण के जीवन से सम्बन्ध बनाये रखने के लिये उन्होंने कुछ नहीं किया; और उनका यदि कोई सचेतन प्रयत्न हुआ भी तो वह यही कि साधारण वर्ग के हाथों से उनकी सत्ता और उनका धन सुरक्षित रहे। उन्होंने यह जानने का प्रयत्न कभी नहीं किया कि उनकी रोमन दुनिया से भी बाहर कोई दुनिया हो सकती है—वह दुनिया कैसी है और उसके लोग कैसे हैं—अर्थात् दुनिया और प्रकृति विषयक अपने ज्ञान में वृद्धि करने का, उस ज्ञान को संगठित करने का, उससे लाभ उठाने का उन्होंने कभी भी प्रयत्न नहीं किया—और न वे साधारण जन को जिनकी संख्या उनसे कई गुणा अधिक थी यह आभास करवा सके कि वे साधारण और विशिष्ट जन सब एक हैं और एक संस्कृति और जीवन के सूत्र में बन्धे हुए हैं। ऐसा आभास करवाने के लिए समानता और सहृदयता का विकास आवश्यक था। गरीबों की ताड़ना करते रहने से एकता की भावना पैदा नहीं की जा सकती थी। रोमन लोगों ने ज्ञान-विज्ञान की अवहेलना की, जन का तिरस्कार किया, सामाजिक नेता धन सत्ता की तुष्टि में लगे रहे—विशाल दूर-दृष्टि को अपना न सके; मानो जाति की आत्मा; जाति की भावतरंग सूख चुकी थी—अतएव विनाश की गति में वे लुप्त हो गये।

निःसंदेह पूर्वी रोमन साम्राज्य को स्थिति किसी तरह से वनी रही। इसका मुख्य श्रेय साम्राज्य की राजधानी कौन्सटेंटिनोपल को है। गोथ लोगों के पूर्वीय साम्राज्य के प्रदेशों में भी हमले हुए और वे ग्रीस तक बढ़े किन्तु राजधानी कोन्सटेंटिनोपल उनसे इतनी दूर पड़ती थी कि वे वहां तक कभी भी नहीं पहुंच पाये। पच्छिम में रोमन साम्राज्य के पतन के वाद यद्यपि उस साम्राज्य का पूर्वी भाग रोमन साम्राज्य ही कहलाता रहा किन्तु वास्तव में, रोमन भाषा और सभ्यता की जो परम्परा चली थी वह तो रोम के पतन के वाद ही समाप्त हो गई। इस पूर्वीय साम्राज्य में, जिसे विजेन्टाइन साम्राज्य भी कहते हैं, न तो रोमन भाषा प्रचलित थी और न परम्परायें। इस समस्त साम्राज्य की भाषा ग्रीक थी और प्राचीन ग्रीक साहित्य का ही यहां अध्ययन होता रहता था। पूर्व में इस साम्राज्य की परम्परा सन् १४५३ ई० तक चलती रही जब कि तुर्क लोगों के हाथों से इसका पतन हुआ।

११

प्राचीन ईरान और उसकी सभ्यता

[ANCIENT PERSIA AND ITS CULTURE]

प्राचीन निवासी

ऐसा अनुमान है और यह अनुमान फ्रेंच पुरातत्ववेत्ता डा० मॉर्गन द्वारा पिछले वर्षों में सूसा (ईरान का प्राचीन नगर) में की गई खुदाइयों से सिद्ध होता हुआ जा रहा है कि ईरान में भी प्राचीन प्रागैतिहासिक काल में वही काष्र्णेय लोग बसे हुए थे जो सुमेर, मिस्र, मोहेंजोदाड़ो एवं भूमध्यसागर के तटीय प्रदेशों में बसे हुए थे और जिनकी सभ्यता सोर-पाषाणी सभ्यता थी। किन्तु वे काष्र्णेय लोग और उनकी सभ्यता अज्ञात कारणों से लुप्त हो गई। उन लोगों के पश्चात, शायद उन्हीं लोगों के काल में वे लोग आये जो आर्य थे। ये आर्य कौन थे?

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इन नोर्डिक (आर्य) लोगों का आदि निवास-स्थान मध्य एशिया (पामीर का पठार) था और वहीं से धीरे-धीरे जनसंख्या में वृद्धि होने पर भिन्न भिन्न कालों में चारों दिशाओं की ओर इन्होंने प्रस्थान किया। इन लोगों की कुछ जातियां पश्चिम की ओर गईं और ग्रीस, इटली आदि प्रदेशों में बस गईं जहां उन्होंने ग्रीक और रोमन सभ्यता का विकास किया; कुछ लोग दक्षिण स्केन्डीनेविया, डेनमार्क एवं पश्चिमी यूरोप में बस गये जिन्होंने अपनी एक आदि आर्य भाषा के ही रूप से अपनी भिन्न भिन्न जर्मन, अंग्रेजी इत्यादि भाषाओं का विकास किया। कुछ लोग पूर्वीय यूरोप में बस गये जिन लोगों ने रशियन, पोलिश इत्यादि एवं भाषाओं का विकास किया। इनकी कुछ शाखायें दक्षिण-पश्चिम की ओर प्रस्थान कर गई और वहां इण्डो-ईरानी भाषा का विकास किया। और कुछ और भी आगे भारत की ओर बढ़ गईं और वहां उन्होंने संस्कृत भाषा का विकास किया।

कुछ भारतीय विद्वानों का अब ऐसा मत बनने लगा है कि आर्यों का आदि देश भारत ही था और यहीं से इन आर्यों की कुछ शाखायें उत्तर-पश्चिम

की ओर प्रस्थान करके ईरान में जाकर बसीं, जहां उन्होंने भिन्न परिस्थितियों में जरथुस्त्र धर्म का विकास किया और जहां उनकी धर्म पुस्तक 'अवेस्ता' का निर्माण हुआ जो जेंद अर्थात् पुरानी ईरानी भाषा में है, जो वैदिक संस्कृत से बहुत मिलती है। किस प्रकार ईरानी आर्य अपने आदि देश भारत (सत सिन्धव) को छोड़कर ईरान में जाकर बसे इसके पीछे एक रोचक कहानी है, जिसके विषय में कुछ तथ्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि वह कहानी ऐतिहासिक होगी। भारतीय आर्य भाषा में देव और असुर शब्द दोनों देवता के लिये प्रयुक्त होते थे। देव अर्थात् दीव अर्थात् जो प्रकाशमान हो, जो चमके जैसे सूर्य, अग्नि आदि। असुर वह जो असुवाला है, जिसमें प्राण शक्ति है। परन्तु ऋग्वैदिक काल में ही धीरे-धीरे देव शब्द तो इन्द्रादि के लिये और असुर शब्द उनके बलवान शत्रुओं, दैत्यों के लिये प्रयुक्त होने लगा था। परन्तु आर्यों की सभी शाखाओं में यह परिवर्तन नहीं हुआ। एक शाखा ने असुर शब्द का प्रयोग पुराने अर्थ में अर्थात् देवता के ही अर्थ में जारी रक्खा। परिणाम यह हुआ कि एक शाखा असुरोपासक, दूसरी देवोपासक हो गई। पहली शाखा के लिये असुर शब्द बुरा, देव शब्द अच्छा, दूसरी के लिये असुर शब्द अच्छा, देव शब्द बुरा हो गया। एक ने दूसरे को असुर-पूजक या देव-पूजक कह कर बुरा ठहराया। धीरे–धीरे इन दो शाखाओं में युद्ध ठन गया, यद्यपि ये दोनों शाखायें मूल में एक थीं और शाब्दिक अर्थों के अतिरिक्त दोनों में कोई अन्तर नहीं था। सम्भव है इन दोनों शाखाओं में परस्पर युद्ध ठनने का कारण और बातों में भी मतभेद रहा हो। जो कुछ भी हो इन दोनों में युद्ध हुए, जो कि हिन्दू शास्त्रों और पुराणों में देवासुर संग्राम के नाम से प्रसिद्ध हैं। अन्त में असुरोपासक पराजित हुए। पराजित असुर सेना अर्थात् असुरोपासक आर्यों ने सप्तसिन्धव का परित्याग कर दिया। वे अन्यत्र चले गये। उत्तर पश्चिम की ओर ये लोग गये और धीरे धीरे उस देश में बस गये जो आज भी ईरान (अर्थात् आर्यों का देश) कहलाता है। अतएव हमने देखा कि इस मत के अनुसार वे लोग जो प्राचीन काल में ईरान में जाकर बसे, वे भारतीय आर्यों की ही एक शाखा थी। यह मत चाहे काल्पनिक सा प्रतीत होता हो क्योंकि ऐसा भी कुछ अनुमान बताया जाता है कि प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में वर्णित असुर जाति से असीरियन लोगों का निर्देश होता है जो असीरिया में बसे हुए थे और जिनकी प्राचीन राजधानी असुर थी। किन्तु फिर भी इतना तो प्राचीन आधारों से भासित होता ही है कि ईरानी आर्य भारतीय आर्यों की ही एक शाखा थी, कब इन भारतीय आर्यों ने ईरान की ओर प्रस्थान किया, यह निश्चित नहीं। अब तक के उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्य ये हैं—ईसा पूर्व १६०० वर्ष काल के मेसोपोटेमिया और सीरिया के पत्र लेखों में आर्यन नामों का उल्लेख आता है, उत्तरी मेसोपोटेमिया के मित्तानी राज्य का राज्य वंश आर्यन था–यह वहां के राजाओं के नाम से सिद्ध होता है—जैसे एक प्राचीन राजा का नाम था—दशरथ; प्राचीन मिस्र के अनेक चित्रों में ऐसी सूरत के व्यक्ति चित्रित हैं जो स्पष्टतः आर्य हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा के प्रायः १५०० वर्ष पूर्व ईरान में आकर बसी हुई आर्य जातियों ने पश्चिम की ओर—मेसोपोटेमिया मिस्र की ओर—एक जबरदस्त प्रस्थान किया था। अतः आर्य लोग ईरान में तो ई० पू० १५०० से भी अधिक पहले आकर बसे होंगे।

प्राचीन धर्म

प्राचीन पारसियों अर्थात् प्राचीन ईरानियों के धर्म ग्रंथ का नाम "अवेस्ता" है। इसका ईरानियों में उतना ही महत्व है जितना भारतीय आर्यों में उनके धर्म-ग्रंथ वेद का। अवेस्ता, जेन्द अर्थात् पुरानी (फारसी) भाषा में है जो वैदिक संस्कृत से मिलती जुलती है। ईरानी (जरथुस्त्र) धर्म की मुख्य बातें अवेस्ता में ऐसे उपदेशों के रूप में दिखलाई गई हैं जो समय समय पर असुर-मज्द (महान देव) ने जरथुस्त्र को दिये। अतः जरथुस्त्र को अवेस्ता का ऋषि कहना चाहिये। जरथुस्त्र ने धर्म का प्रवर्तन किया इसलिये कुछ लोग इसे जरथुस्त्री धर्म कहते हैं। इस धर्म के अनुसार जगत का रचयिता और धारयिता असुरमज्द है, जिसका अर्थ है-असुर महत्व अर्थात् महान् देवता जिसके सात गुण हैं—ज्योति, सत्य, सुन्दरज्ञान, आधिपतित्व, पवित्रता, क्षेम और कल्याण। इसके साथ ही जगत में एक अधर्म भी है जिसका नाम अग्रमैन्यु है। इस प्रकार धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, प्रकाश और अन्धकार में निरन्तर युद्ध चलते रहते हैं। अन्त में सत्य के सहारे धर्म की विजय होती है। आर्यों की तरह पारसियों के भी कई देवता थे जैसे सूर्य, वरुण और अग्नि। अविकसित बुद्धि वाले मनुष्य इन देवताओं को स्वतन्त्र उपास्य मानकर पूजते हैं। जिनकी बुद्धि संस्कृत है वे इनको एक ईश्वर तत्व के प्रतीक समझते हैं और इन नामों और गुणों में एक ईश्वर की विभूतियों को पहचानते हैं। वेद और अवेस्ता दोनों ही इन शब्दों का इसी प्रकार प्रयोग किया गया है। ईश्वर (अहुरमज्द) की दिव्य अभिव्यक्ति सूर्य के रूप में होती है किन्तु सूर्य हर समय उपलब्ध नहीं रहता। अतएव सूर्य के बाद ईश्वर की दूसरी दिव्य अभिव्यक्ति अग्नि के द्वारा ही फारसी लोग ईश्वर की उपासना करते हैं। उनके मन्दिरों में वह अग्नि जिसमें नित्य अग्निहोत्र होता है हजारों वर्षों से चली आ रही है। पारसियों के मंदिरों में अग्नि के सिवाय और कोई दूसरा प्रतीक या मूर्ति नहीं होती।

जरथुस्त्र जो पारसी धर्म के प्रवर्त्तक माने जाते हैं सचमुच ऐतिहासिक पुरुष है या नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। यदि वे ऐतिहासिक पुरुष थे तो वे कब और कहां पैदा हुए, यह भी ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। उनके जीवन से सम्बन्धित जो कथायें प्रचलित हैं, उनमें ऐतिहासिक तथ्य कितना है, यह निश्चय करना कठिन है। अवेस्ता में जो वाक्य उनके कहे हुए बतलाये जाते हैं, वे सचमुच उन्हीं के कहे हुए हैं या नहीं, यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु इतना निश्चित है कि उनकी धर्म पुस्तक अवेस्ता से ईरानियों के इतिहास पर उसी प्रकार प्रकाश पड़ता है जिस प्रकार वेद आर्यों के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। वैदिक धर्म में जिन दार्शनिक, मुक्त विचारों का विकास हुआ है और जो अपूर्व आध्यात्मिक अनुभूति वैदिक ऋषि कर पाये थे उसका आभास पारसियों की धर्म-पुस्तक में नहीं मिलता; अवेस्ता का जब निर्माण हुआ होगा जब तक स्यात् इन अनुभूतियों का प्रभाव न रहा हो। अवेस्ता में धर्म का स्थूल और व्यावहारिक रूप ही अधिक मिलता है। प्रत्यक्ष नैतिक शिक्षा, सत्य ईमानदारी इत्यादि पर विशेष जोर है।

ईरानियों का इतिहास

प्राचीन ईरानी (आर्यन) भारत से आकर ईरान में बसे हों या मध्य एशिया से या मध्य यूरोप से; जो कुछ भी हो, किन्तु उनके इतिहास में भारतीय आर्यों से भिन्न एक विशेष बात है। भारतीय आर्य-राजाओं या सम्राटों ने अपने देश से बाहर जाकर दूसरे देशों पर आधिपत्य स्थापित करने का कभी भी प्रयास नहीं किया; ईरान, ईराक, यूनान, यूरोप में बढ़कर उनको अपने अधीनस्थ करने की कभी भी नहीं सोची, जिस प्रकार ग्रीक लोगों ने सोचा था, जिन्होंने ठेठ यूरोप से भारत तक एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, जिस प्रकार रोमन लोगों ने सोचा था और एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया था। इसके कुछ भी कारण हों, चाहे उनकी विशेष भौगोलिक-ऐतिहासिक परिस्थितियां, चाहे उनका एक विशेष जीवन दृष्टिकोण। किन्तु जो काम भारतीयों ने नहीं किया वह ईरानी आर्यों ने किया। अपने महान् सम्राट दारा के राज्य काल में उनका साम्राज्य भारत में सिन्धु नदी के पश्चिम से, समस्त मध्य एशिया, मेसोपोटेमिया, मिस्र, सीरिया, एशिया-माइनर एवं ग्रीस के पूर्वीय भागों तक फैला हुआ था। जब आर्य लोग ईरान में आकर बसे थे तो वे कई जातियों में विभक्त थे। उदाहरण-स्वरूप मेदी, फारसी, पारथियन, बेक्टीरियन इत्यादि।

ईरान के इतिहास का हम निम्न काल विभागों में अध्ययन कर सकते हैं:—

(१) आर्यों का आगमन और धीरे-धीरे साम्राज्य स्थापित करना (ई० पू० ६ वीं शताब्दी से ३३० ई० पू० तक)
(२) ग्रीक राज्य काल (ई० पू० ३३० से ई० पू० प्रथम शताब्दी तक)
(३) पार्थियन और सस्सानिद राज्य वंश—पुनः ईरानी सम्राट (ई० पू० प्रथम शताब्दी से सन् ६३७ ई० तक)
(४) अरबी खलीफाओं का राज्य (सन् ६३७ से ११ वीं शती तक)
(५) तुर्क मंगोल प्रभुत्व काल (११ वीं शती से १७३६ ई०)
(६) शिया शाहों का राज्य काल (१७३६ से १९०७ ई०)
(७) शिया शाहों का वैधानिक राज्य आधुनिक काल (१९०७)

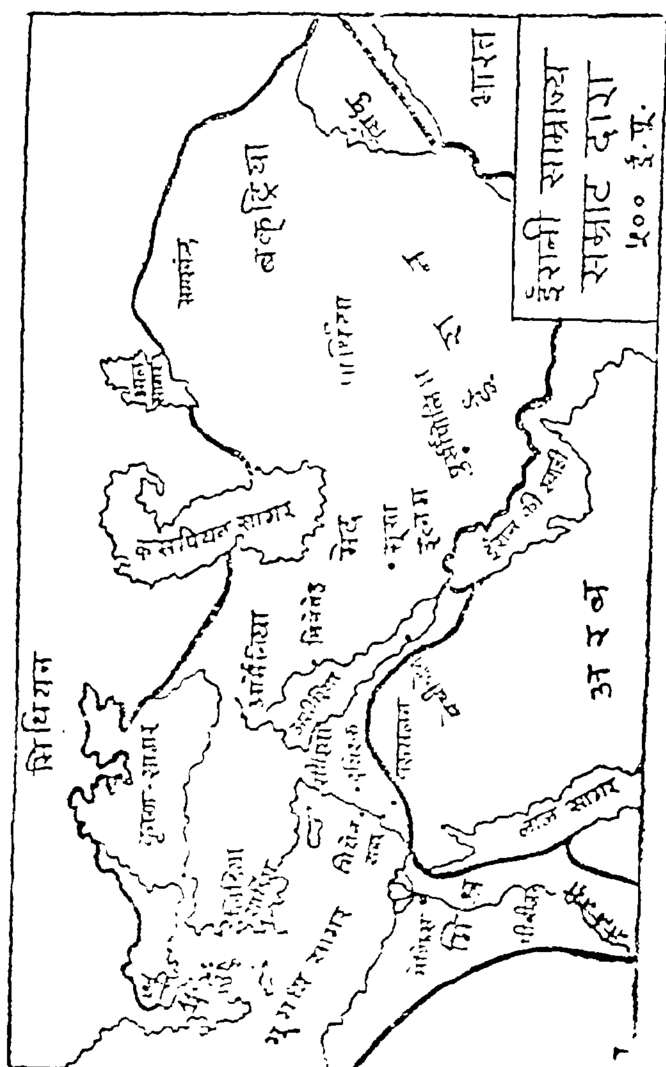
१. ईरानियों का कुछ कुछ सिलसिलेवार लिखित इतिहास ई० पू० प्रायः ९ वीं शताब्दी से मिलता है। उस समय मेसोपोटेमिया में असीरिया का सम्राट सार्गन द्वितीय था। उसने पूर्व की ओर अपने साम्राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ किया। उस समय पश्चिमी ईरान में मेद जाति के ईरानी बसे हुए थे। असीरिया के प्रसिद्ध सम्राट सारगन (७१५ ई० पू०) ने ईरान में जाकर कई मेदी सरदारों को परास्त किया था और उनसे कर वसूल किया था। सम्राट सारगन के उत्तराधिकारी असुर बनीपाल (६६८ से ६२६ ई० पू०) के काल तक असीरियन सम्राटों का ईरान पर दबदबा रहा किन्तु इसके पश्चात् मेदी, ईरानी लोग अपने एक राजा साईअक्सर्स के अधिनायकत्व में संगठित हुए और उन्होंने असीरियन साम्राज्य पर आक्रमण किया। ई० पू० ६०८ में निनेवेह नगर को परास्त किया और समस्त ईरान और एशिया माइनर

के कुछ भागों में अपना साम्राज्य स्थापित किया। ठीक इसी समय एक अन्य केल्डिया नामक सेमेटिक जाति ने असीरियन राज्यवंश को समाप्त कर मेसोपोटेमिया में दूसरा बेबीलोनियन साम्राज्य स्थापित किया। यह वही काल था जब बेबीलोन के सम्राट नेबूस्कन्दर ने यरुसलम से सब यहूदियों को पकड़वाकर बेबीलोन में बुला लिया था और वहां उनको बसाया था। साइअक्सर्स के बाद साइरस (कुरु) मेदीयन ईरानी साम्राज्य का सम्राट बना। ५३९ ई० पू० में उसने बेबीलोन पर आक्रमण किया, वहां विजय पाकर समस्त बेबीलोन साम्राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसने लीडिया के सम्राट क्रूमस पर भी जो उस काल का एक अनुपम धनी और ऐश्वर्यशाली व्यक्ति समझा जाता था, आक्रमण किया और लीडिया को अपने साम्राज्य का एक अंग बनाया। साइरस के पुत्र कम्बिस ने ५२५ ई० पू० में मिस्र पर विजय प्राप्त की, तदनन्तर प्रसिद्ध सम्राट दारा ५२१ ई० पू० में ईरान के साम्राज्य का अधिपति बना। उसके साम्राज्य के विस्तार की सीमा ई० पू० छठी शताब्दी में इस प्रकार थी—भारत में सिन्धु नदी के तट तक, फिर समस्त मध्य एशिया, ईरान, सीरिया, इजराइल, एशिया-माइनर, मिस्र और ग्रीस के कुछ पूर्वीय भाग।

राज्य संगठन

फारस के सम्राटों का राज्य संगठन बहुत ही विकसित और कुशल था। समस्त साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक प्रान्त का अलग अलग गवर्नर था जो सत्रप कहलाता था। सब प्रांत और प्रान्तों के नगर एक दूसरे से अनेक सड़कों द्वारा जुड़े हुए थे। इन सड़कों पर सम्राट के घुड़सवार लगातार दौड़ते रहते थे जिनके बदलने, ठहरने और विश्राम करने के लिए नियुक्त स्थानों पर उचित व्यवस्था कायम थी। घुड़सवार सम्राट के आदेश या राज्य के दूसरे पत्र और समाचार एक दूसरे स्थान पर जल्दी-जल्दी पहुंचाते रहते थे। सम्पूर्ण राज्य में व्यवस्था और शान्ति स्थापित थी। राज्य का आधार न्याय और उदारता थी। जैसे ऊपर उल्लेख हो चुका है, ईरानियों का आदि धर्म जरथुस्त्र धर्म था। सभी ईरानी सम्राट जरथुस्त्र धर्म के सच्चे पालनकर्ता थे किन्तु साथ ही धार्मिक मामलों में उदार हृदय भी। एशिया-माइनर में जो ग्रीक बसे हुए थे उन्हें अपने मन्दिरों में अपने देवों की पूजा करने की स्वतन्त्रता थी, यहूदी लोगों को भी बेबीलोन से मुक्त कर दिया गया था और उनको आदेश मिल चुका था कि वे यरुशलम में जाकर फिर से अपने देव जेहोवा का मन्दिर बना सकते हैं। न्याय के लिए स्थान-स्थान पर पंचायत घर स्थापित थे। ईरानियों के मन्दिर ही न्यायालय का काम देते थे, पंच बैठकर न्याय किया करते थे, पंच बनने के लिए शिक्षित; सद्चरित्र और धार्मिक होना आवश्यक था। चोरी की सजा जुरमाना, कैद, कठिन परिश्रम या जलाकर दाग देना थी। छूत की बीमारी और गन्दगी फैलाने वाला भी सजा पाता था। मनुष्य-हत्या, बलात्कार, राजद्रोह और रिश्वत लेना या देना, इन सब की सजा मौत थी।

साम्राज्य की सेना का भी अपूर्व संगठन था। सेना का एक प्रधान सेनापति होता था। सम्राट ही साधारणतया इस पद को सुशोभित करता


ईरानी साम्राज्य
सम्राट दारा
५०० ई.पू.
सिथियन
कैस्पियन सागर
बैक्ट्रिया
भारत
आर्मीनिया
मेद
सूसा
ईरान की खाड़ी
अरब
लाल सागर

था। प्रधान सेनापति के नीचे फौज कई भागों या डिवीजनों में बंटी होती थी। सेना में पैदल और घुड़सवार दोनों होते थे। ईरानियों को रथों से प्रायः नफरत थी। पैदल सिपाही लम्बी चुस्त बाहों का घुटनों तक का लम्बा कुर्ता, चमड़े का चुस्त पजामा, ऊंचे बूट और सिर पर फेल्ट टोपी पहनते थे। उनके हथियार प्रायः यह होते थे—भाला, खंजर, फरसा, तलवारें और तीरकमान। घुड़सवार सिर और बदन पर लोहे का हेमलेट और कवच पहनते थे। ये सम्राट जबरदस्त जहाजी बेड़े भी रखते थे। ऐसा अनुमान है कि सम्राट क्षयर्ष के जहाजी बेड़े में पांच हजार जंगी जहाज थे।

ग्रीस के साथ युद्ध

समस्त मध्य एवं पश्चिमी एशिया और मिस्र पर साम्राज्य होते हुए भी दारा की महत्वाकांक्षा और भी आगे बढ़ी। उसने यूरोप और ग्रीस पर विजय प्राप्त करना चाहा। ग्रीस पर जल और थल दोनों रास्तों से आक्रमण कर दिया। कई युद्ध हुए—जिनका वर्णन ग्रीक इतिहास का अवलोकन करते समय हम कर आये हैं। याद होगा, इस समय (ई० पू० पांचवीं शताब्दी) ग्रीस में छोटे-छोटे नगर राज्य थे—स्वतन्त्र और गणतन्त्रात्मक। ईरानियों के आक्रमण के समय ये सब एक सूत्र में संगठित हुए। तीन प्रसिद्ध युद्ध हुए—

१. मेराथन—जहां ईरानियों की पराजय हुई। इसी के बाद दारा की मृत्यु हो गई थी और उसका पुत्र क्षयर्ष सिंहासनारूढ़ हुआ था।

२. ४८० ई० पू० में इतिहास प्रसिद्ध थर्मोपली का युद्ध हुआ—वहां ग्रीक लोगों की पराजय हुई।

३. ४७९ ई० पू० में सेलामिस में सामुद्रिक युद्ध हुआ—जहां ईरानियों की पराजय हुई।

ग्रीक भूमि पर जो ईरानी सेनाएं बच गई थीं—उनको भी लौट आना पड़ा।

ई० पू० ४६५ में क्षयर्ष की मृत्यु हो गई। उसके उपरान्त ईरान ने ग्रीस पर विजय प्राप्त करने का फिर कभी प्रयत्न नहीं किया।

वास्तव में क्षयर्ष की मृत्यु के बाद ईरानी साम्राज्य स्वयं योग्य सम्राटों के अभाव में धीरे-धीरे शक्तिहीन होता गया। राज्याधिकार के लिए उत्तराधिकारियों के झगड़े होते रहते थे। राज्य दरबार के चारों ओर सब वातावरण वैमनस्य, धोखेबाजी व्यक्तिगत स्वार्थ, सत्ता लोलुपता से परिपूर्ण रहता था। फिर भी ई० पू० ३३० तक जब सिकन्दर महान् के आक्रमण हुए—मध्य एशिया में ईरान का साम्राज्य ही सबसे बड़ा था एवं सर्वाधिक शक्तिशाली माना जाता था।

२. ग्रीक राज्य काल (ई० पू० ३३० से ई. पू. पहली शताब्दी तक)

ग्रीस में अलक्षेन्द्र महान का उदय हो चुका था। विश्व विजय करने को वह निकल चुका था। नव आविष्कृत घुड़सवारी, फौज का व्यूह बनाकर

युद्ध करने की कला, एक विशेष प्रकार के इंजिनों द्वारा विशालकाय पत्थरों को फेंककर दीवार तोड़ने की कला के साथ एक बहुत ही सुसंगठित जल एवं थल सेना लेकर अलक्षेन्द्र निकला। इस समय दारा तृतीय ईरानी साम्राज्य का सम्राट था। एशिया-माइनर के बन्दरगाहों को जीतता हुआ, इजरायल के टायर और गाजा बन्दरगाहों को जीतता हुआ, ३३१ ई. पू. में वह ईरानी साम्राज्य के अन्तरंग भागों में दाखिल हुआ। सम्राट दारा तृतीय हिम्मत हार चुका था। आगे-आगे दारा भागता था और उसका पीछा करता था अलक्षेन्द्र। फारस में अरबला के मैदान में ३३१ ई. पू में युद्ध हुआ। दारा के सेनापति उस की कायरता से नाराज हो चुके थे। इतिहासकारों का कहना है कि उन्होंने अपने सम्राट को कत्ल कर दिया था : उसकी मृत्यु के बाद विशाल ईरानी साम्राज्य का पतन हुआ और उसके स्थान पर ग्रीक साम्राज्य की स्थापना हुई।

जब तक अलक्षेन्द्र जीवित रहा (३२३ ई. पू.) तब तक वह इस विशाल साम्राज्य का सम्राट रहा किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य कई टुकड़ों में विभक्त हुआ। वह भाग जिसमें ईरान और मेसोपोटेमिया प्रदेश सम्मिलित थे, ग्रीक जनरल सेल्यूकस के अधिकार में आया। प्रायः तीन सौ वर्षों तक ईरान और मेसोपोटेमिया पर ग्रीक राज्य रहा। इन वर्षों में ग्रीक भाषा और ग्रीक सभ्यता का काफी प्रसार हुआ।

वलम्बी जो रोमन साम्राज्य के प्रदेशों में रह रहे थे उनको रोमन सम्राट सताते थे और जो ईसाई ईरानी साम्राज्य के प्रदेशों में रह रहे थे उनको पारसी लोग सताते थे। अन्त में कस्तुन्तुनिया के रोमन सम्राट और ईरान के राजा में परस्पर यह सन्धि हो गई थी कि वे दोनों एक दूसरे के धर्म के प्रति सहिष्णुता का भाव रखेंगे। सस्सानिद वंश का सबसे प्रसिद्ध पारसी राजा क्रोसस प्रथम था जिसने सन् ५३१ ई. से ५७९ ई. तक राज्य किया। इसके राज्यकाल में रोम के प्रसिद्ध सम्राट जस्टिनियन के साथ अनेक युद्ध हुए थे किन्तु युद्ध के फलस्वरूप किसी के भी राज्य विस्तार में कोई भी अन्तर नहीं पड़ा था। क्रोसस की सेनायें कई बार बढ़कर रोमन साम्राज्य के एशिया-माइनर प्रदेश को पार करती हुई ठेठ बोसफोरस के मुहाने तक पहुंच गई थीं। उसकी सेनाओं ने सीरिया के प्रसिद्ध नगर एण्टीओच और दमिश्क पर भी विजय प्राप्त कर ली थी और उसके आगे बढ़ती हुई वे ईसाईयों की पवित्र भूमि यरुसलम तक पहुँच गई थीं, जहां से वे ईसाईयों के धार्मिक प्रतीक उस क्रोस को छीन ले आई थीं, जिस पर कहते हैं ईसा को सूली दी गई थी। इसके कुछ ही वर्षों बाद क्रोसस की मृत्यु हो गई (उसी के पुत्र ने उसकी हत्या कर दी थी) और ईरानी और रोमन दोनों साम्राज्यों में जो अनेक युद्धों से थक गये थे सन्धि हो गई। वह क्रोस जो पारसी लोग ले आये थे रोमन सम्राट हीरेक्लियश को लौटा दिया गया। ईसाईयों ने बड़ी धूम-धाम से यरुसलम में इस क्रोस की स्थापना की। इस समय लगभग छठी शताब्दी के अन्त में पारसियों का राज्य ईरान एवं मेसोपोटेमिया में था और पूर्वीय रोमन राज्य एशिया-माइनर, सीरिया, इजराइल, मिस्र, ग्रीस और डेन्यूब के दक्षिण प्रान्तों में था।

क्रोसस की मृत्यु के बाद ईरान में कोई भी शक्तिशाली पारसी सम्राट नहीं हुआ।

४. अरबी खलीफाओं का राज्य
(सन् ६३७ से ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक)

जब ईरान में सस्सानिद वंश के प्रसिद्ध सम्राट क्रोसस के बाद पारसी राजाओं की परम्परा चल रही थी, उस समय अरब में एक नई शक्ति का उदय हो रहा था। यह नई शक्ति थी इस्लाम। मोहम्मद के बाद इस्लाम के नये खलीफा आसपास के देशों में इस्लाम की विजय करने के लिए फैले। ईरान की तरफ भी वे आये। सस्सानिद पारसी राजाओं पर सन् ६३५ ई० में "कदिया" के युद्ध में विजय प्राप्त की और फिर धीरे-धीरे समस्त पारसी साम्राज्य (मेसोपोटेमिया, ईरान) को पदाक्रान्त कर अपने अधीन कर लिया। इन नए मुसलमान शासकों को ईरान के प्राचीन धर्म और संस्कृति से तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। तलवार के बल से पारसी संस्कृति और धर्म को उन्होंने मिटाना शुरू किया। उसी काल में लाखों पारसी जो इस बात को सहन नहीं कर पाये, ईरान को छोड़ सामुद्रिक रास्ते से भारत चले आये। आज जो पारसी भारत में विशेषतया बम्बई और सूरत प्रदेशों में पाये जाते हैं वे वही प्राचीन आर्य हैं, जरथुस्त्र के पुजारी, जो इस्लाम द्वारा सताये जाने के

कारण सातवीं शताब्दी में भारत में आ गये थे। बम्बई और अन्य स्थानों पर इन लोगों के शान्ति कूप (Towers of Silence) हैं, जहां ये अपने मृतकों को फेंक दिया करते हैं, उन्हें वे जलाते या दफनाते नहीं।

ईरान में अरबी खलीफाओं का कई शताब्दियों तक राज्य रहा। वहां के आदि निवासियों को मुसलमान बनाया, अरबी, विज्ञान, गणित, चिकित्सा-शास्त्र का विकास किया किन्तु खलीफा लोग ऐशोआराम में डूब गये और मध्य एशिया की तरफ से बढ़ते हुए तुर्क लोगों ने उनके राज्य को खत्म कर डाला।

५. ११ वीं शताब्दी से १७३६ तक तुर्क मंगोल इत्यादि लोगों का प्रभुत्व काल

११वीं शताब्दी से १८वीं शताब्दी तक ईरान में समय समय पर कई मध्य एशियाई जातियों का राज्य रहा। ११वीं शताब्दी में तुर्क सुल्तानों का, फिर एक अन्य मध्य एशियाई मुसलमान वश खीवान वंश के शासकों का, फिर १३वीं शताब्दी में मंगोल, चगेज खां एवं उसके वंशजों का, तदुपरान्त चंगेज खां के ही एक दूरस्थ वंशज तैमूरलंग का और उसके बाद उसी के वंशज अन्य सुल्तानों का। इस प्रकार १८वीं शताब्दी तक चलता रहा।

६. शिया मुसलमान शाहों का राज्य (१७३६–१९०७)

१७३६ ई. में मध्य एशिया से नादिरशाह फारस पर चढ़ आया। उसने पूववर्ती मंगोल-तुर्क वंश को खत्म किया और अपनी सल्तनत कायम की। नादिरशाह के वंश के शासक शाह कहलाते थे जिनकी परम्परा अब तक चली आती है। इस वंश के शाहों के जमाने में फारस देश का यूरोपीय लोगों के साथ सम्पर्क बढ़ा और १९ वीं शती में सुधार की नई लहरें प्रवाहित हुई।

७. वैधानिक राजतंत्र (सन् १९०७ से आज तक)

सन् १९०७ में सुल्तान अहमद फारस का शाह बना और एक आधुनिक किस्म के प्रजातन्त्रीय विधान के अनुसार उसने अपना राज्य आरम्भ किया। आज सन् १९५० में रजाशाह पहलवी फारस का शाह है और सन् १९०७ में स्थापित विधान के अनुसार वहां का राज्य कर रहा है। प्राचीन ईरानी भाषा जेन्दा की ही पुत्री आधुनिक फारसी वहां के लोगों की भाषा है।

यह है ईरान की कहानी, अति प्राचीन काल से लेकर आज तक।

प्राचीन ईरानी संस्कृति

प्राचीन ईरानियों का गुण उनकी सच्चाई थी। अवेस्ता में सच्चाई पर खूब जोर दिया गया है। "अहुरमज्द' स्वयं सत्य रूप है। सम्राट दारा अपने एक शिलालेख में लिखता है—झूठ पाप का ही, एक दूसरा नाम है। पुराने ईरानी कर्ज से बहुत बचते थे क्योंकि इनका विश्वास था कि कर्जदार अक्सर

झूठ का सहारा लेता है। खरीद फरोख्त करते समय दाम के घटाने बढ़ाने से उनको सख्त नफरत थी। ईरानी सदा साफ साफ बातें करने, वाले प्रेमी और अतिथि देव की पूजा करने वाले थे।

रहन-सहन

धनी लोग रेशमी कपड़े पहनते थे, गले में सोने और मोतियों की माला डालते थे। प्रारम्भिक ईरानी गेहूं और जौ की रोटी और भुना हुआ मांस खाते थे। वे दिन में केवल एक बार भोजन करते थे। किन्तु बाद में वे ऐशपरस्त हो गए थे तब भी भोजन एक बार करते थे किन्तु एक बार के ही भोजन में अनेक व्यंजन खा जाते थे और खूब शराब पीते थे। समाज के व्यवहार के कड़े नियम थे, छोटे बड़ों को साष्टांग प्रणाम करते थे।

बच्चों की शिक्षा

पांच साल तक बच्चे मां के पास रहते थे, उसके बाद उनकी शिक्षा प्रारम्भ होती थी। सूर्य निकलने के पहिले हर बच्चे को उठाया जाता था। दौड़ना, पत्थर फेंकना, तीर चलाना, खखरी चलाना उन्हें सिखाया जाता था। सात साल की उम्र में उन्हें घोड़े पर चढ़ना और दौड़ते हुए घोड़े पर उछल कर बैठना सिखाया जाता था। बड़े होने पर उन्हें शिकार खेलना सिखाया जाता था। पोलो का खेल बड़ा लोकप्रिय था। ऐसा माना जाता है कि यह खेल ईरानियों के ही जातीय मस्तिष्क की उपज है। कड़ी से कड़ी ठण्ड और गर्मी सहन करने की बच्चों को आदत डाली जाती थी। तैरने और सर्दी में रात को खुले सोने का अभ्यास कराया जाता था। खेती करना, जमीन खोदना आदि परिश्रम के काम उनसे लिये जाते थे। फिर उन्हें धार्मिक कवितायें और कहानियां याद कराई जाती थीं। गुरु की पदवी बड़ी आदर और उत्तरदायित्व की चीज समझी जाती थी। शिक्षा का यह तरीका बिना गरीब अमीर के भेदभाव के पांच साल की उम्र से लेकर बीस साल की उम्र तक सबके लिए एकसा था। विद्यार्थियों के पढ़ने के लिए कोई पृथक पाठशालाओं के भवन नहीं बने हुये थे। पुजारी के घर का बरामदा या मन्दिर का कोई भाग ही पाठशाला का काम देता था।

ईरानी समाज में स्त्रियां

जब ईरानी आर्य लोग भारत से या मध्य एशिया से ईरान में आये थे—उस समय उनकी स्त्रियों में पर्दे का रिवाज नहीं था। किन्तु अनेक वर्षों तक सेमेटिक उपजाति के असीरियन लोगों के सम्पर्क में आने से, जिनमें पर्दे की प्रथा का प्रचलन था, ईरानी स्त्रियों में भी इसका प्रचलन हो गया। किन्तु इस एक बात को छोड़कर स्त्रियों की सामाजिक दशा और अधिकारों में पुरुषों से कोई विशेष विभिन्नता नहीं थी। स्त्रियां जायदाद रख सकती थीं, पंचों के सामने गवाही दे सकती थीं, पति की ज्यादती के विरुद्ध न्यायालय में दावा दायर कर सकती थीं—इत्यादि। धार्मिक संस्कारों में वे पति के साथ बराबर भाग लेती थीं। वे मन्दिरों की पुजारिनें भी बन सकती थीं। घर और

खेती का सब काम वे करती थीं। पूजा की आग में समिधा अर्थात् लकड़ी डालना पुरुषों का ही धर्म समझा जाता था। पुरुष की तरह पवित्र सदरा और जनेऊ स्त्रियां भी पहनती थीं। सती स्त्रियों का समाज में आदर होता था। व्यभिचार समाज का सबसे बड़ा पाप समझा जाता था। गरीब लड़कियों का विवाह करा देना बड़ा पुण्य कार्य समझा जाता था।

आचार-विचार

स्वच्छता का विशेष ध्यान रखा जाता था। सड़क पर खाना पीना या जहां चाहे थूकना या छींकना या पेशाब करना उनके यहां असभ्यता थी। जिस बर्तन से कोई एक आदमी पानी या कोई चीज पीता था, बिना मांजे कोई दूसरा उसमें नहीं पीता था। वे प्रतिदिन स्नान करते थे। किसी के मरने पर परिवार का एक जन क्रिया-कर्म करने के लिए अलग रहता था और दसवें दिन पवित्र होता था, पवित्र होने के लिये हिन्दुओं की तरह गो मूत्र का प्रयोग किया जाता था। नये बच्चे को सबसे पहिले गो मूत्र चटाया जाता था।

ईरानी–कला

ईरान की प्राचीन राजधानी पर्सुपोली थी। सिकन्दर महान् के आक्रमण वेला में नगर को जलाकर भस्म कर दिया गया था, अतएव उस प्राचीन काल की कला एवं साहित्य प्रायः नष्ट हैं। अब केवल टूटी फूटी दीवारों से प्राचीन भवन निर्माण कला का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। उन लोगों के भवनों में मुख्यतः राजाओं के महल मिलते हैं या सम्राटों की समाधियां जैसे दारा की समाधि इत्यादि। प्राचीन ग्रीक लोगों की तरह भवन एवं मूर्ति निर्माण कला के भव्य नमूने फारस में बिल्कुल नहीं मिलते। एक पुरातत्ववेत्ता हुवाई के अनुसार ईरान में उस समय जमाने की सब सभ्यताओं के मेल से एक नई और महान् सभ्यता की रचना हो रही थी। वह लिखता है–पर्सुपोली के खण्डहरों में हमें एक ऐसी कला के दर्शन होते है जिसके बनाने में साम्राज्य के हर देश, असुरिया, मिस्र, एशिया, यूनान इत्यादि. सबने हिस्सा लिया था। उन खण्डहरों में हमें जबरदस्त एकता और महानता दिखाई देती है।

अति प्राचीन काल में ईरान की राजधानी सूसा थी। प्रसिद्ध सम्राट दारा की भी यही राजधानी थी। सूसा में भी पर्सुपोली की तरह अति भव्य महलों के खण्डहर मिले हैं, जिनको बनाने के लिये, ऐसा अनुमान है देश विदेश के कुशल कारीगर आये थे और देश विदेशों से प्रकार २ के पत्थर और वस्तुयें मंगवाई गई थीं।

१२

यहूदी जाति व धर्म, एवं मानव इतिहास में उनका स्थान

(THE HEBREWS, THEIR RELIGION AND THEIR PLACE IN HUMAN HISTORY)

भूमिका

जिस काल में मिस्र, वेबीलोन, मोहेंजोदाड़ो एवं क्रीट की सभ्यतायें अपने उच्चतम शिखर पर थीं और उनके बड़े-बड़े राज्य थे, उसी काल में सेमेटिक लोगों की छोटी-छोटी जातियां मिस्र और मेसोपोटेमिया के मध्यवर्ती प्रदेशों में यथा, सीरिया, जूड़िया, इजराइल, फिनीशिया आदि स्थानों में अपने छोटे छोटे राज्यों की स्थापना कर रही थीं। इन्हीं छोटी छोटी जातियों में यहूदी नाम की एक छोटी जाति थी जिसने कोई बड़ा साम्राज्य स्थापित नहीं किया और न जिसकी किसी उल्लेखपूर्ण सैनिक विजय का डंका संसार मे बजा किन्तु फिर भी जिसका मानव इतिहास में और मानव चिन्तन और चेतना की प्रगति में एक महत्वपूर्ण स्थान है।

प्राचीन प्रारम्भिक सभ्यताओं की विशेषताओं का उल्लेख करते समय यह बताया गया था कि उस काल में इन प्रारम्भिक सभ्यताओं के मानवों में बुद्धि और चेतना अभी विशेष संकुचित या जकड़ी हुई थी। उनका धार्मिक विश्वास अभी अनेक स्थूल देवी देवताओं की परिधि तक ही सीमित था। उस विश्वास में भय का दबाव अधिक, प्रेम और स्नेह की स्वतन्त्रता कम थी। प्राचीन काल में भारत और चीन को छोड़कर यहूदी लोगों के धार्मिक-द्रष्टा, नबी (प्रोफेट) या गुरु ही पहले मानव थे जो उपरोक्त धार्मिक संकुचितता, बुद्धि और मन की सीमित परिधि से ऊपर उठे और जिन्होंने सर्वप्रथम एक परम हमा, सत्य के परमात्मा का आभास पाया और जिनके विचारों से प्रभावित होकर पहले महात्मा ईसा ने और फिर सातवीं शताब्दी में अरब के मोहम्मद साहब ने एकेश्वरवाद का संदेश लोगों को दिया।

यहूदी लोग कौन थे ?

इनका इतिहास जानने के दो मुख्य साधन हैं। पहला, प्राचीन मिस्र के पेपीरसरीड पर लिखे लेख पत्र इत्यादि एवं प्राचीन वेबीलोन के पाये गये मिट्टी की पट्टियों पर लिखे हुये ऐतिहासिक घटनाओं सम्बन्धी लेख। दूसरा साधन है स्वयं यहूदियों की प्राचीन धर्म पुस्तक 'बाइबिल' (Old Testament) जो यहूदियों के धार्मिक विचार, मूसा के नियम, धार्मिक कवित्वमय गीत, भजन इत्यादि के अतिरिक्त तत्कालीन इतिहास सम्बन्धी एक अपूर्ण संग्रह ग्रन्थ है। इस धर्म पुस्तक में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं में से अनेकों की पुष्टि दूसरे ऐतिहासिक आधारों से भी होती है—अतएव जो कुछ भी ऐतिहासिक बातें इस प्राचीन धर्म पुस्तक में मिलती हैं उनको हम बिल्कुल तो निराधार नहीं मान सकते।

'यहूदी बाइबिल' के अनुसार यहूदियों का इतिहास इस प्रकार है—

प्रारम्भिक काल

प्राचीन काल में (ऐतिहासिक काल अनुमानतः २१०० ई. पू.—वेबीलोन के सम्राट हमीरबू के समय में) अबराहम सेमेटिक वेवाइन जाति का एक सरदार था जिसका मुख्य व्यवसाय भेड़ चराना था। सुन्दर उपजाऊ भूमि की तलाश में वह अपने साथियों और भेड़ों के झुण्ड लेकर उत्तर पश्चिम प्रदेशों की ओर निकल गया। जिस भू-भाग को आज फिलस्तीन कहते हैं उस समय वहां सेमेटिक उपजाति के केनेनाइट लोग वसते थे। फिलस्तीन सुन्दर नगरियों वाली एक उपजाऊ भूमि थी। अबराहम इसी देश में गया। अबराहम का मुख्य देवता 'जेहोवाह' था। जेहोवाह ने अबराहम को वायदा किया कि समृद्धिशाली नगरियों वाली इस सुरम्य भूमि पर उसका और उसकी संतानों का स्वामित्व होगा। अबराहम को विश्वास नहीं हुआ क्योंकि उसके कोई संतान न थी। किन्तु बाद में अबराहम के दो सन्तान हुई—आइजक और जेकब। जेकब का नाम फिर 'इजराइल' रख दिया गया। इजराइल के १२ संतानें हुईं और उनकी जाति की अभिवृद्धि हुई। यह जाति इजराइल (यहूदी) जाति कहलाई। इस (यहूदी) जाति के युद्ध उपरोक्त केनेनाइट लोगों से होते रहते थे, किन्तु फिर भी फिलस्तीन में किसी तरह वे बसे हुए थे। फिर फिलस्तीन में एक भयंकर अकाल पड़ा और यहूदी लोगों को फिलस्तीन छोड़कर दक्षिण की ओर जाना पड़ा। दक्षिण में नील नदी वाले मिस्र की हरी भरी और उपजाऊ भूमि में वे चले गये। ऐसा अनुमान है कि उस समय मिस्र में मिस्र के फेरो का राज्य नहीं था किन्तु एक सेमेटिक जाति ही मिस्र पर शासन कर रही थी, जिसके सम्राट 'हिस्कोस' कहलाते थे। इन सेमेटिक हिस्कोस सम्राटों के राज्य काल में यहूदी लोग जो स्वयं सेमेटिक थे कई सौ वर्षों तक शान्तिपूर्वक रहे किन्तु मिस्र के लोगों ने १६०० ई. पू. में एक भयंकर विद्रोह किया; हिस्कोस राज्यवंश को समाप्त किया और फिर से मिस्र के ही सम्राट (फेरो) का राज्य वहां कायम हुआ। फेरो के राज्यकाल में यहूदी लोगों को गुलाम बनाया गया, उनको पदाक्रांत

किया। अतएव दुखित होकर यहूदी लोगों को मिस्र छोड़ना पड़ा। उस काल में अपने कुशल बुद्धिमान नेता मूसा (Moses) के नेतृत्व में यहूदी लोगों ने मिस्र से पलायन किया और उसी देश की ओर उन्होंने अपना कूच किया जिस देश के लिए उनके देवता जेहोवाह ने उनके पूर्वज अबराहम से प्रतिज्ञा की थी, अर्थात् फिलस्तीन। मिस्र से कूच करने के बाद मूसा रेगिस्तानों को पार करता हुआ यहूदी लोगों को अपने साथ लिए सिनाई पर्वत पर पहुंचा। बाइबिल में वर्णन आता है कि यहीं पर जाज्वल्यमान बिजलियों की झनझनाहट में ईश्वर ने मूसा को अपने 'दस आदेश' (Ten Commandments) दिये। वे ही दस आदेश जो यहूदी धर्म और आचार के आधार-स्तम्भ बने और जिन्होंने मानव की चेतना को स्थूल देवताओं की पूजा से हटा कर एक ईश्वर की पूजा की ओर प्रेरित किया। मूसा इन दस आदेशों का व्याख्याकार बना। नैतिक गुणों के आधार पर उसने आचार और व्यवहार के नियम बनाये और इस प्रकार वह संसार का एक महान स्मृतिकार (Law-Giver) माना जाने लगा।

मूसा और यहूदी लोग फिलस्तीन की ओर बढे। लगभग ५००-६०० वर्षों बाद फिर से वे इस देश में आये थे। देश की हालत काफी बदल चुकी थी। इस समय वहां केनेनाइट लोग नहीं थे, जिनसे यहूदियों के पूर्वज अबराहम को लड़ना पड़ा था, किन्तु अन्य जातियों के लोग बसे हुए थे, मुख्यतया वे फिलस्तीन लोग जो पश्चिमी द्वीपों से, क्रीट द्वीप में नोसस की सभ्यता के पतन के बाद, अपने जहाजों में बैठ-बैठ कर फिलिस्तीन में आ बसे थे। यहूदी लोग फिलस्तीन को जीत नहीं सके किन्तु जहां कहीं भी उन्हें भूमि मिली वहीं बस गये।

यहूदी जाति के इतिहास का यहां एक चरण समाप्त होता है। ऊपर जितनी बातें बताई गई हैं उन सबकी ऐतिहासिक साक्षी नहीं मिलती, उदाहरणत: मूसा की कहानी की साक्षी और किसी ऐतिहासिक सामग्री से नहीं मिलती।

२. यहूदी जाति के न्यायाधीश और राजा
(लगभग १८०० ई० पू० से ५८६ ई० पू० तक)

यहां से यहूदियों की कहानी पूर्णतया ऐतिहासिक आधार पर प्रारम्भ होती है। ये यहूदी सेमेटिक लोग जो प्रारम्भ में अरब में बसे हुए थे उपजाऊ भूमि की तलाश में फिलस्तीन में बसने के लिए आये। इस समय फिलस्तीन के दक्षिण भागों में फिलस्तीन लोग बसे हुये थे और उत्तरी भागों में फीनिशियन और केनेनाइट जाति के लोग। फिलस्तीन राज्य के लिए लगातार इन जातियों में युद्ध होते रहते थे। यहूदी लोग युद्धों में नेतृत्व करने के लिए अपने कुछ संचालक नियुक्त कर लेते थे, जिन्हें न्यायाधीश या जज कहा जाता था। इन न्यायाधीशों के नेतृत्व में दूसरी जातियों से अनेक युद्ध हुए, कई बार ये परास्त हुये और कई बार विजयी भी। इन न्यायाधीशों में प्रसिद्ध

योद्धा गिदियन और सेमसन (११३० ई० पू०) और महिला न्यायाधीश डिवोरा (१३वीं शती ई० पू०) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने युद्धों में अद्भुत वीरता, कौशल और सफल नेतृत्व का प्रदर्शन किया था किन्तु समस्त फिलस्तीन जीतने में ये लोग कभी भी सफल नहीं हुए। यहूदी लोगों ने देखा कि दूसरी जातियों का शासन और युद्ध में नेतृत्व तो राजाओं द्वारा होता है अतएव इस वातावरण से प्रभावित होकर उन्होंने भी अपने शासन के लिए राजा नियुक्त करने का निश्चय किया। सॉल उनका प्रथम राजा हुआ। सॉल राजा के नेतृत्व में यहूदी लोगों को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। सॉल के बाद लगभग ९९० ई० पू० में डेविड (१०१०–९७४ ई० पू०) यहूदी लोगों का राजा हुआ। इसने फिलस्तीन के मुख्य नगर यरुशलम पर विजय प्राप्त की और इसी नगर यरुशलम को अपने राज्य की राजधानी बनाया। उस समय फीनिशिया में हिराम नामक एक फिनिशियन राजा राज्य करता था। इस राजा का मिस्र और अरब इत्यादि देशों से भारी व्यापार चलता था। यहूदी राजा डेविड ने इस राज्य से मित्रता की और अपने राज्य इजराइल (फिलस्तीन) में से होकर राजा हिराम के व्यापारिक काफिलों को दक्षिण में लालसागर तक जाने के लिए रास्ता दिया। इस प्रकार हिराम की संरक्षता में डेविड का राज्य किसी तरह चलता रहा।

डेविड के बाद उसका पुत्र सोलोमन (९७४–९३७ ई० पू०) इजराइल का राजा हुआ। इसका राज्यकाल लगभग ९०० ई० पू० में माना जाता है। फिनीशिया के राजा हिराम की सहायता से सोलोमन के राज्यकाल में राज्य की विशेष समृद्धि और उन्नति हुई। राजधानी यरुशलम में इसने अपना एक विशाल महल और देवता "जेहोवाह" का विशाल मन्दिर बनवाया। 'बाइबिल में सोलोमन के ठाठबाट, धन और ऐश्वर्य का बहुत विशाल वर्णन है। किन्तु हम यह जानते हैं कि मिस्र के फेरो और बेबीलोन के सम्राटों के धन और ऐश्वर्य के सामने इसकी कुछ भी तुलना नहीं हो सकती। फिर भी सोलोमन के राज्यकाल को इजराइल (फिलस्तीन) में यहूदी लोगों का एक गौरवमय काल मान सकते हैं।

सोलोमन के बाद उसका पुत्र रेहोबोम इजराइल का राजा हुआ—किन्तु उसके राजा होने के बाद इजराइल के उत्तरी भाग में उपद्रव हुए और इजराइल राज्य के दो टुकड़े हो गए। उत्तरी भाग इजराइल कहलाया और दक्षिणी भाग जुडाह, जिसकी राजधानी यरुशलम रही।

७२२ ई० पू० में असीरियन सम्राट का इजराइल पर अधिकार हुआ। जुडाह राज्य पर भी असीरियन लोगों के हमले हुए, किन्तु वह सौ वर्ष से भी अधिक किसी प्रकार अपनी सत्ता बनाये रक्खा। फिर ६०४ ई० पू० में बेबीलोन के सम्राट नेबुस् का यरुशलम पर आक्रमण हुआ। यरुशलम परास्त हुआ। सम्राट ने अपने आश्रित यहूदी शासकों को ही वहां शासन करने के लिए नियुक्त किया। ये शासक असीरियन सम्राट से स्वतन्त्र होने के लिए गड़बड़ करते रहे। अतएव ५८६ ई० पू० में यहूदी लोगों को पकड़वाकर बेबीलोन भेज दिया गया, जिससे कि वे किसी भी प्रकार अपने राज्य के लिए

गड़बड़ी न कर सकें। कुछ यहूदी मिस्र इत्यादि अन्य प्रदेशों में फैल गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यहूदी लोगों के राजा डेविड के काल में (प्राय: ९९० ई० पू०) यरुशलम पर यहूदियों का अधिकार हुआ। प्राय: चार सौ वर्षों तक यरुशलम यहूदियों के अधीन रहा और फिर ई० पू० ६०४ में उनके हाथों से निकल गया।

यहूदी धर्मद्रष्टा

बाइबिल और यहूदी धर्म

ऊपर लिख आये हैं कि बेबीलोन सम्राट द्वारा ५८६ ई० पू० में अनेक यहूदी पकड़वाकर बेबीलोन में भेज दिये गये थे। इसके पूर्व, सम्राट असुरबनी-पाल (६८० ई० पू०) के काल में बेबीलोन में विद्या की खूब उन्नति हुई थी। मिस्र, बेबीलोन, सीरिया, फिलस्तीन, अरब इत्यादि देशों के इतिहास में अनेक खोजें हुई थीं और उन देशों के और उन देशों में बसने वाली जातियों के इतिहास संगृहीत किये जाकर असीरियन साम्राज्य के प्रसिद्ध नगर निनेवेह के पुस्तकालय में रखे गये थे। विद्याप्रेम, अन्वेषण और नई चीजों और घटनाओं को जानने और समझने के प्रति अभिरुचि–यही परम्परा बेबीलोन में उस काल में भी प्रचलित थी, जब यहूदी लोग यहां पकड़ कर लाये गये थे। यहूदी लोगों का इन सब सांस्कृतिक आन्दोलनों से सम्पर्क बढ़ा। उन्हें स्वयं अपने प्राचीन इतिहास का ज्ञान यहीं बेबीलोन में हुआ। याद होगा–बाइबिल की परम्परा के अनुसार तो यहूदियों का आदि पूर्वज अबराहम फिलस्तीन में अनुमानत: २१०० ई० पू० में आया था और उपलब्ध ऐति-हासिक तथ्यों के अनुसार यहूदी लोग फिलस्तीन में प्राय: १४००–१२०० ई० पू० तक दाखिल हो गये थे। बेबीलोन में अपने प्राचीन इतिहास का ज्ञान होने के बाद तो अपने प्राचीन इतिहास को, धर्म–गुरुओं एवं धर्म-द्रष्टाओं के वाक्यों को, अपने धार्मिक नियमों आदि को संग्रह करना, उनको क्रमबद्ध करना इत्यादि कामों के लिए उनमें एक जिज्ञासा और तीव्र प्रवृत्ति सी पैदा हो गई थी। जब वे बेबीलोन आये थे तो प्राय: असंगठित अशिक्षित और असभ्य थे। बेबीलोन के सम्पर्क ने उनको एक तीव्र जातिगत भावना में संगठित कर दिया। वे शिक्षित हुए, उनके ज्ञान की अभिवृद्धि हुई और वे सजग हुए। प्राय: ७० वर्ष बेबीलोन में रहे होंगे कि बेबीलोन पर उत्तर पूर्व से आर्यन लोगों के आक्रमण हुए। फारस का सम्राट साइरस बेबीलोन पर चढ़ आया—विशाल बेबीलोन साम्राज्य को पदाक्रान्त कर उसको परास्त किया और ५३८ ई० पू० में बेबीलोन पर अपना कब्जा किया। फिलस्तीन भी जो बेबीलोन साम्राज्य का एक अङ्ग था अब ईरानी सम्राट साइरस के साम्राज्य का एक अङ्ग बना। किन्तु साइरस ने यहूदियों को यरुशलम लौट जाने की और उनका मन्दिर जो विध्वंस हो चुका था, फिर से बनाने की अनुमति दे दी। यहूदी लोगों के झुण्ड के झुण्ड बेबीलोन से यरुशलम लौटकर आये–अब वे सभ्य थे, सजग थे, सुसंगठित थे। उनके मानसिक विचारों की परिधि अब विशाल थी–अनेक बातें, गाथायें और कथायें उन्होंने बेबीलोनियन लोगों से सीखी थीं–उदाहरणतया "सृष्टि रचना" की कथा एवं "जल प्रलय" की कहानी जो उनकी धर्म-पुस्तक बाइबिल में

आती है ।

साथ ही साथ उन लोगों के दृष्टिकोण में भी जो यहूदी लोगों में द्रष्टा कहलाते थे बहुत परिवर्तन हुआ । यहूदी लोगों के दो प्रकार के धर्मगुरु होते थे । एक तो पुजारी, जो जेहोवाह के मन्दिरों में रहा करते थे, उसकी पूजा किया करते थे और धार्मिक अवसरों पर भेंट चढ़ाते थे । वे जादू टोणा भी करते थे और लोगों का भविष्य भी बताते थे । ये धार्मिक समारोह, पूजा भेंट उसी प्रकार के होते थे जैसे प्राय: उसी युग में सौर-पाषाणीय सभ्यता वाले सभी लोगों में होते थे । दूसरे प्रकार के धर्म गुरु "द्रष्टा" कहलाते थे । पहले तो इन लोगों में और पुजारियों में विशेष अन्तर नहीं था, जैसे ये लोग भी जादू टोणा करते थे, पीड़ित लोगों को उनका भविष्य बताते थे, इत्यादि । किन्तु बाद में, विशेषतया बेबीलोन में नये मतों के सम्पर्क में आने के बाद–एक स्वतन्त्र रूप से उनका विकास हुआ; अब वे मन्दिर और मन्दिर के देवताओं को, पूजा और पुजारियों को निरर्थक बतलाते थे,–मूढ़ भ्रम मात्र । कभी-कभी वास्तव में उन्हें आंतरिक प्रकाश की अनुभूति होती थी, उनकी चेतना बन्धन मुक्त होती थी । ऐसे अवसरों पर वे अनेक निगूढ़तम और दार्शनिक बातें कह जाते थे । ऐसे अवसरों पर उनका बोलने का ढंग यही होता था–"ईश्वर ने मुझसे कहा............।" इन्हीं लोगों की प्रेरणा से यहूदी धर्म में वे बातें और विचार समाहित हुए जो मानव चेतना के विकास की एक उच्चतर स्थिति की ओर निर्देश करते हैं । स्थूल देवी-देवताओं के विश्वास से–वह विश्वास जिसमें श्रद्धा कम तथा भय अधिक होता था, ऊपर उठकर एक परमात्मा का आभास मानव चेतना को होता है और वह परमात्मा भय का परमात्मा नहीं, किन्तु सत्य का परमात्मा है । इसके अतिरिक्त यह विचार और भावना मानव के सामने आती है कि एक दिन समग्र सृष्टि में "सत्य" का राज्य स्थापित होगा और सब लोग सुखी होंगे । इस प्रकार के विचार यहूदी बाइबिल में बिखरे पड़े हैं ।

यहूदी बाईबिल (Old Testament)

अनुमान है कि नई संगठित भावना, नये विचार, नई प्रेरणा तथा अपने प्राचीन इतिहास के विषय में नया ज्ञान लेकर जब यहूदी लोग बेबीलोन से लौटे (लगभग ५०० ई० पू० में) तभी उनमें यह भावना पैदा हुई थी कि वे अपने प्राचीन इतिहास, धार्मिक मान्यताओं एवं द्रष्टाओं की वाणियों को एक पुस्तक रूप में संगठित कर लें और उनको क्रमबद्ध जमा लें । बेबीलोन से लौटने के बाद यह काम शनैः शनैः हुआ और ऐसा अनुमान है कि लगभग ईसा के २५०–३०० वर्ष पूर्व तक उपर्युक्त सब बातों का यथा–यहूदियों का इतिहास, सृष्टि रचना के विचार, आचार व्यवहार के नियम, भजन प्रार्थना, धार्मिक मान्यता आदि का, उस "पुस्तक" में संग्रह हो चुका था जिसे यहूदियों की बाइबिल कहा जाता है । यह केवल धार्मिक पुस्तक ही नहीं है किन्तु इस पुस्तक से उस काल के मिस्र, मेसोपोटेमिया, फिलस्तीन, अरब आदि देशों और वहां के लोगों के इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है ।

यहूदी धर्म की विशेष धार्मिक मान्यतायें

(१) यहूदी लोग पूर्वज अब्राहम की शुद्ध (वर्णसंकर रहित) संतान हैं।

(२) यहूदी जाति अन्य सब जातियों से अधिक गौरवान्वित होगी।

(३) किसी युग में एक मसीहा का अवतार होगा जो देव जेहोवाह द्वारा यहूदी लोगों को दिये गये सभी वायदों को पूरा करेगा। यथा, यहूदी लोगों का इजराइल की भूमि पर सुख-समृद्धिपूर्ण प्रभुत्व कायम होगा।

(४) यहूदियों का देवता जेहोवाह अन्य जातियों के देवताओं मे बड़ा है। जेहोवाह सब देवों का देव है (फिर शनैः शनैः इस विचार में विकास होता गया) और यह विश्वास बना कि सृष्टि में केवल एक ही सच्चा देव है–और वह एक सच्चा देव जेहोवाह है। इस प्रकार वे धीरे-धीरे एकेश्वरवाद की भावना तक पहुंचते हैं। यह ईश्वर किसी मन्दिर में नहीं रहता किन्तु अनन्त• काल से स्वर्ग में व्याप्त है। ईश्वर के सम्बन्ध में इस विचार के विकास का अर्थ हुआ कि मूर्ति पूजा एव स्थूल देवी-देवताओं में विश्वास अज्ञानांधकार की स्थिति है। प्रारम्भिक मानव ने मानसिक गुलामी की ओर से मानसिक स्वतन्तत्रा की ओर प्रगति की। ईश्वर की भावना में और भी विकास हुआ और यह विश्वास बना कि एक परमात्मा सत्य का परमात्मा है। यहूदी बाइबिल में कहीं कहीं उच्च दार्शनिक विचार भी बिखरे पड़े हैं, यथा–सब में एक ही ज्योति व्याप्त है। सर्वत्र एक ही चेतना है। सचमुच किसी दृष्टा को ऐसी आन्तरिक अनुभूति हुई होगी। यहूदी महात्मा आईजेआ (लगभग ७२० ई० पू०) के अङ्ग अङ्ग में एक अद्भुत तेज व्याप्त था। वह अपने चारों ओर के मानव समाज की बेवकूफियां इस प्रकार उखाड़ फेंकता था, मानो वह एक आध्यात्मिक डिनेमाइट हो। फिर एक अद्भुत भविष्यवाणी की गई कि एक युग आयेगा जब मानव समाज नैतिकता के व्यवहार में सम्बद्ध होगा और इस दुनियां में सुख शान्ति का राज्य होगा। बार–बार इस वाणी ने मानव को प्रेरित किया है और उसके हृदय में आशा का संचार किया है। मेसोपोटेमिया, मिस्र, पच्छिमी एशिया (फिलस्तीन, फीनिशिया, सीरिया, अरब) की प्राचीन दुनिया में, प्रारम्भिक सभ्यताओं को विशृंखल होते हुए अन्तिम दिनों में, जब मानव पीड़ित था, वह देखता था किन्तु उसे कुछ समझ में नहीं आता था, जब 'पुरोहित–सम्राटों" और "देवता–सम्राटों" के पुरोहितपन और देवतापन में मानव की आस्था को ठेस लग चुकी थी और उन्हें यह भाव होने लगा था कि मन्दिरों में स्थित देवता वास्तव में कुछ कर नहीं पा रहे हैं, कुछ कर नहीं सकते हैं, उस समय अन्धकार में टटोलते हुए प्रारम्भिक मानव के मानस में प्रकाश की यह पहली किरण थी। यह तो पहली ही किरण थी, इसी में से उद्भव होने वाला था ईसा का प्रकाश और फिर अनेक शताब्दियों बाद मोहम्मद की ज्योति।

किन्तु यहां पर यह न भूलना चाहिये कि उस युग की पूर्व की दुनियां में यथा भारत और चीन में, यहूदी काल के कई शताब्दियों पूर्व भारत में निःश्रेयस, "एको अहं सर्व भूतेषु" (एक मैं ही सब भूतों में व्याप्त हूं) के

ज्ञान की अनुभूति हो चुकी थी और वेदों में उसको यह आदर्श मिल चुका था कि मानव सम्पूर्णतया "मुक्त और निर्भय" हो सकता है। चीन में भी यहूदी काल के अनेक शताब्दियों पूर्व उनके "परिवर्तन के नियम" ग्रन्थ में मानव जीवन और सृष्टि नियमों पर विचार हो चुका था और चीन में महात्मा कनफ्यूसियस और लाओत्से इन प्राचीन पुस्तकों पर अपनी व्याख्या कर चुके थे।

ऊपर यह भी लिख आये हैं कि फारस के आर्यन सम्राट साइरस ने ही बेबीलोन पर विजय प्राप्त कर यहूदियों को आज्ञा दी थी कि वे यरुशलम लौट जा सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि यहूदियों का पर्याप्त सम्पर्क इन आर्य लोगों से हो चुका था। इन आर्यों का सम्पर्क भारतीय आर्यों से था (उनकी भाषा तो भारतीय वैदिक भाषा से मिलती-जुलती थी ही), इससे अनुमान लगता है कि विनिमय द्वारा भारतीय वैदिक धर्म और दर्शन के विचारों से यहूदियों को कुछ परिचय प्राप्त हो चुका होगा। सम्भव है यहूदी बाइबिल में कहीं-कहीं जो दिव्य-दृष्टिगत दार्शनिक विचार बिखरे मिलते हैं वे यहूदी द्रष्टाओं पर भारतीय मनीषियों के प्रभाव फलस्वरूप हों।

यह अनुमान मात्र है—इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

४. **आधुनिक काल में यहूदी**—यहूदी लोगों का लगभग १२०० ई० पू० से लेकर (जब से अरब से निकल कर फिलस्तीन में बसे थे) ५३८ ई० पू० तक का इतिहास (जब फारस के आर्यन सम्राट साइरस ने बेबीलोन साम्राज्य-जिसके अन्तर्गत फिलस्तीन भी था-पर अधिकार किया था) हम लिख आये हैं। ५३८ ई० पू० से लगभग ३४० ई० पू० तक अर्थात् लगभग २०० वर्षों तक फिलस्तीन पर फारस के सम्राटों का अधिकार रहा।

३४० ई० पू० के आसपास फिलस्तीन में सिकन्दर महान् के नेतृत्व में ग्रीस वालों का आधिपत्य हुआ। ३२३ ई० पू० में सिकन्दर महान् की मृत्यु के बाद फिलस्तीन लगभग एक शताब्दी तक मिस्र के ग्रीक सम्राट टोलमियों के अधीन रहा। फिर लगभग १०० वर्षों के बाद फिलस्तीन सीरियन लोगों के अधिकार में चला गया। किन्तु १३० ई० पू० में फिर यहूदी लोगों ने सीरियनों से लड़कर यरुशलम पर अपना अधिकार किया और उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता हासिल की। किन्तु यह स्वतन्त्रता कुछ ही वर्ष तक कायम रह सकी। अब यूरोप में रोमन जाति का उत्थान हो रहा था। ये रोमन लोग इधर एशिया-माइनर की तरफ भी आये। जूलियस सीजर के काल में ३७ ई० पू० में फिलस्तीन का शासन रोमन गवर्नरों के अधीन रहा। यहूदी लोग बेचैन रहते थे—स्वतन्त्रता के लिए उपद्रव करते रहते थे। अन्त में सन् ६६ ई० में यहूदियों और रोमन लोगों में भयानक युद्ध हुआ-रोमन जनरल टाइटस ने यरुशलम के चारों और घेरा डाल दिया-सन् ७० ई० में यरुशलम का पतन हुआ—रोमन लोगों ने यहूदियों के मन्दिरों को जला दिया—हजारों को मौत के घाट उतार दिया हजारों को गुलाम बना लिया-जो यहूदी बचे वे इधर-उधर देशों में तितर बितर हो गये-कुछ विरले फिलस्तीन में डटे रहे। इस

अरसे में एशिया-माइनर में यहूदियों के अतिरिक्त जो अन्य कई छोटी-छोटी जातियां थीं, जैसे फिनिशियन, केनेनाइट, मोएवाइट इत्यादि, जिनसे यहूदी लोगों के अनेक झगड़े और युद्ध हुए थे, सब यहूदी धर्म की इन प्रेरणाओं से कि ईश्वर यहूदी जाति को गौरवान्वित करेगा और फिलस्तीन की सुरम्य भूमि में उनका सुख शान्तिमय राज्य स्थापित करेगा, शनैः शनैः यहूदी लोगों में ही मिलजुल गई थीं—और इस प्रकार यहूदी जाति अब कई जातियों से मिलकर बनी एक मिश्रित जाति थी, किन्तु फिर भी उपरोक्त भविष्यवाणी और धार्मिक भावना उनको सुदृढ़ रूप से एक सूत्र में बांधे रखती थी। वही एक भावना यहूदी लोगों को आज तक भी सुसंगठित सूत्र में बांधे हुए है-और वे अपना पृथक एक अस्तित्व बनाये हुए हैं चाहे उनका इस पृथ्वी पर राज्य रहा हो, न रहा हो-उनका कोई सुनिश्चित घर रहा हो, न रहा हो।

फिलस्तीन से पृथक होकर ये लोग दुनिया के अनेक देशों में फैल गये, जहां-जहां भी ये गये इन्होंने अपने धार्मिक भवन स्थापित किए—जहां इनके धर्म-गुरु धार्मिक प्रवचन करते रहते थे-मूसा के नियम पढ़ाते रहते थे, उन नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देते रहते थे। भिन्न-भिन्न देशों में व्यापार करना एवं साहूकारी करना (रुपया उधार देना) मुख्यतया ये ही दो पेशे इनके पास बचे थे। ईसा की प्रथम शताब्दी से (जब से ये अपने देश फिलस्तीन से अलग हुए) आधुनिक काल में कुछ ही वर्षों पूर्व तक, ये जिस-जिस देश में भी रहे, वहां प्रताड़ित और पीड़ित रहे, किन्तु अपनी बाइबिल के आधार पर, उसकी भविष्यवाणी के आधार पर इनका एक सुसङ्गठित राष्ट्र रहा—ऐसा राष्ट्र जिसका कोई सुनिश्चित देश नहीं था, जिसका कहीं राज्य नहीं था, किन्तु फिर भी जिसमें एक 'भाव-ऐक्य' था। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जहां ये न चमके हों, दुनियां को इन लोगों ने बड़े-बड़े कलाकार, बड़े-बड़े वैज्ञानिक, राजनैतिक, साहित्यकार और दार्शनिक दिये, जिनमें कुछ नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, जैसे १६वीं शताब्दी में इंगलैंड का प्रधान मन्त्री डिसरेली, भारत का वायसराय लॉर्ड रीडिंग, संसार में साम्यवाद का प्रतिष्ठाता कार्ल मार्क्स, साम्यवादी क्रान्तिकारी ट्रोटसकी, फ्रेन्च दार्शनिक बर्गसा, व्यापारिक क्षेत्र में धनी रोथ्सचाइल्ड और आज के संसार का सबसे बड़ा वैज्ञानिक आइन्स्टाइन।

जब प्रत्येक देश में जहां भी ये रहते थे इनकी प्रताड़णा होती थी, तो उनमें फिर उसी प्राचीन भावना का उदय हुआ कि उनका कोई घर होना चाहिये, उनका कोई देश होना चाहिये। १६ वीं शताब्दी में हंगरीवासी थियोडोर हर्जल (१८६०-१६०४ ई०) नामक एक महान् यहूदी नेता का उदय हुआ। इसने सब देशों के यहूदियों का एक वैधानिक संगठन किया और "अखिल विश्व यहूदी संगठन" की स्थापना की। सन् १८६० में बेसल नगर में इस संगठन का प्रथम अधिवेशन हुआ जहां निश्चय हुआ कि फिलस्तीन की पवित्र भूमि में उनका राष्ट्रीय घर स्थापित हो।

सन् ७० ई० में फिलस्तीन में रोमन राज्य स्थापित हुआ था, कई सौ वर्षों तक उनका राज्य रहा। सन् ६३७ ई. में अरब खलीफाओं ने अपना

अधिकार जमाया, फिर १५१६ ई. में तुर्क लोग आये, तब से प्रथम महायुद्ध काल (१९१४-१८) तक वहां तुर्की सुल्तानों का राज्य रहा। युद्ध के बाद राष्ट्रों की सन्धि के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शासनादेश के अन्तर्गत फिलस्तीन इङ्गलैंड की संरक्षता में गया। १८९० ई. में बेसिल में किये गये निर्णय के अनुसार यहूदियों के प्रयत्न चलते ही रहते थे कि फिलस्तीन यहूदियों के हाथ में किसी प्रकार आ जाय। महायुद्ध काल में यहूदी वैज्ञानिक डा० विजमेन ने इङ्गलैण्ड के प्रधानमन्त्री लायडजोर्ज को एक रासायनिक पदार्थ एसीटोन बनाने का भेद बताया जो विस्फोटक बम बनाने के काम आता है। इसके बदले में अंग्रेज सरकार ने १९१७ ई. में एक घोषणा की जो बैलफर घोषणा के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार अंग्रेजी सरकार ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि फिलस्तीन में यहूदियों का राष्ट्रीय घर स्थापित होना चाहिये।

महायुद्ध के बाद यहूदी लोग धीरे-धीरे फिलस्तीन में जाकर बसने लगे। उन्होंने जंगल साफ किए, जंगली और बंजर भूमि को खेती के योग्य बनाया और नये घर बसाये। यहूदी भाषा और साहित्य का पुनरुत्थान किया, यरुशलम में एक विशाल विश्वविद्यालय की स्थापना की। सन् १९३३ में जब जर्मनी में नाजी हिटलर ने यहूदी लोगों को कत्ल करना शुरू किया तो फिलस्तीन में बड़ी संख्या में यहूदी आकर बसने लगे। उनकी अनेक बस्तियां वहां पर खड़ी हो गईं।

प्रथम महायुद्ध की संधिकाल से यद्यपि देश का शासन तो अंग्रेजों की देखभाल में था, किन्तु वहां के मुख्य रहने वाले अरबी मुसलमान थे। वस्तुतः सन् ६३७ ई. से फिलस्तीन अरबी मुसलमानों का ही घर था, अतएव जब उन्होंने देखा कि बहुसंख्या में यहूदी आकर उनके देश में बस रहे हैं तो वे घबराये। सन् १९३३ के बाद उनकी (यहूदियों की) आबादी में अभूतपूर्व बढ़ती देख कर तो और भी घबराये। उन्होंने उपद्रव प्रारम्भ किये। ब्रिटिश सरकार के सामने मांग पेश की कि यहूदियों का फिलस्तीन आना रोक देना चाहिये। यहूदियों और मुसलमानों में भयंकर झगड़े और डट कर लड़ाईयां होना प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश सरकार भी जिनके हाथों देश का शासन धरोहर के रूप में था, घबराई। सन् १९३७ में सरकार ने एक कमीशन बैठाई–पील कमीशन। उसने सिफारिश की कि फिलस्तीन का अरबों और यहूदियों के बीच विभाजन कर देना चाहिये। फिलस्तीन का यरुशलम शहर अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के आधीन रहे। विभाजन किसी को भी मान्य नहीं हुआ, न यहूदियों को न मुसलमानों को। झगड़े चलते रहे। संधि करवाने के लिए गोलमेज सभाओं की योजना हुई। इतने में द्वितीय महायुद्ध (१९३९–४५) प्रारम्भ हो गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद भी फिलस्तीन में यहूदियों और मुसलमानों के झगड़े चलते रहे। यहूदी कहते थे फिलस्तीन उनका आदि घर है, वहीं उनकी बाईबिल का निर्माण हुआ, वहीं उनकी संस्कृति और धर्म का विकास हुआ, वहीं उनके प्रसिद्ध राजा सोलोमन ने आदि देव जेहोवाह का मन्दिर बनवाया था, जिसके प्रतीक स्वरूप आज भी उस दीवार का एक अंश खड़ा है जो

प्राचीनकाल में जेहोवाह के मन्दिर के चारों ओर बनी थी (यह दीवार वेलिंग वॉल कहलाती है और यहूदियों की धर्मस्थली है। मुसलमान कहते थे प्राचीनकाल से (६३७ ई॰ से) वे यहां रहते आये हैं। यहीं उनका घर रहा है, यहीं उनकी आदि मस्जिद 'उमर की मस्जिद' है—इत्यादि। इन झगड़ों को निपटाने के लिए राष्ट्रसंघ ने एक मध्यस्थ बैठाने की सोची। उधर अन्तर्राष्ट्रीय निर्देश के अनुसार १४ मई १९४८ के दिन ब्रिटिश धरोहर की अवधि समाप्त हुई और इस तारीख को ठीक रात्री के १२ बजे ब्रिटिश हाई कमिश्नर ब्रिटिश फौजों सहित फिलस्तीन देश छोड़ कर चला गया। एक तरफ तो वे गये, दूसरी तरफ यहूदियों ने फिलस्तीन में अपने उपनिवेश 'तेल अवीव' से 'इजराइल' राज्य की घोषणा कर दी। बेनगुरियन इस राज्य का प्रथम प्रधानमन्त्री हुआ। इस घोषणा के समय यहूदियों के आधीन यरुशलम राजधानी, तेल अवीव और हैफा दो बड़े बन्दरगाह और फिलस्तीन की लगभग आधा भाग भूमि थी। शेष हिस्से अरबों के आधीन थे। स्वतन्त्र इजराइल राज्य की सचमुच स्थापना हो गई और इसके कुछ ही महीनों बाद अमेरिका, रूस एवं कई अन्य राष्ट्रों ने इजराइल राज्य को मान्यता दे दी।

फिलस्तीन (इजराइल) की पवित्र भूमि में लगभग १९०० वर्षों के बाद फिर से यहूदी राज्य की स्थापना वास्तव में एक आश्चर्यजनक घटना थी यह एक स्वप्न की पूर्ति थी।

यहूदियों ने अपने देश को संवारा-बंजर भूमि को खेती योग्य बनाया; स्थान-स्थान पर उद्योग-धन्धे स्थापित किये; विद्यालय खोले; अपने बच्चों को विज्ञान और तकनीक की शिक्षा दी; बड़े बड़े यान्त्रिक उद्योग स्थापित किये। उनके पास धन था, मस्तिष्क था, प्रत्येक छोटी से छोटी बात को ध्यान में रखकर किसी भी काम को सुन्दर ढंग से जमाने की सूझ थी, और सर्वोपरि थी लगन। कुछ ही वर्षों में देश स्वस्थ, समृद्ध और शक्तिशाली हो गया। राज्य की स्थापना के केवल आठ ही वर्षों बाद अरबों से फिर झड़प हो गई। सन् १९५६ में स्वेज नहर के प्रश्न को लेकर इजराइल ने मिस्र पर हमला कर दिया; किन्तु संयुक्त राष्ट्र के बीच बचाव से शांति स्थापित हो गई। ऐसी झड़पों को होने से रोकने के लिए इजराइल और पड़ोसी अरब देशों के बीच सीमा पर अन्तर्राष्ट्रीय सेना रहने लगी। अरब देशों के अनुरोध पर मई १९६७ के अन्तिम सप्ताह में अन्तर्राष्ट्रीय सेना हटा ली गई; और उसके हटते ही यहूदियों और अरबों में युद्ध भड़क उठा। कहां छोटा सा इजराइल देश, कहां घेरे हुए विस्तृत अरब देश? केवल दो दिन में इजराइल ने जोर्डन, सीरिया और मिस्र के सिनाई प्रायद्वीप को ध्वस्त कर दिया। अरब देशों ने घुटने टेक दिये सुरक्षा परिषद के आदेश से युद्ध बंद हुआ। इजराइल ने अपने जीते हुए प्रदेशों पर अपनी राजकीय व्यवस्था स्थापित कर दी। संयुक्त राष्ट्र में मामला चल रहा है—जून १९६७ से।

इसी अर्से में रोमन सम्राटों का ध्यान इस बढ़ते हुए संगठित धर्म की ओर गया जिसके अनुयायियों के अनेक समाज संगठित हो चुके थे। सम्राटों को यह भास होने लगा कि ये लोग विद्रोहकारी थे क्योंकि ये रोमन सम्राट "सीजर" को देव-तुल्य नहीं समझते थे और और न "सीजर" के मन्दिर में पूजा करने को तैयार होते थे। साथ ही ये लोग रोमन परम्पराओं, आचार-विचारों की अवहेलना करते थे; ग्लेडियेटर खेलों का विरोध करते थे, ग्लेडियेटर खेल जो कि रोमन सम्राटों के प्रमोद के साधन थे, जिनमें गुलाम पहलवान लोग आपस में लड़कर एक दूसरे को घायल करते थे, मारते थे या जंगली जानवरों से लड़ते थे। अतएव रोमन सम्राट इन ईसाई लोगों से चिढ़ गए थे और उन्होंने इनका दमन करना प्रारम्भ कर दिया। हृदयहीन दमन की सीमा पहुंची सम्राट डायोक्लेशियन के काल में (चतुर्थ शताब्दी के आरम्भ में) जब गिरजाओं की सब धन सम्पत्ति को लूट लिया गया, बाइबिल की पुस्तकें (जो उस काल में सब हस्तलिखित थीं) एवं अन्य धार्मिक लेख जला दिये गये, अनेक कट्टर धर्मावलम्बियों को फांसी दे दी गई और रोमन साम्राज्य में किसी भी ईसाई को किसी भी प्रकार का कानूनी अधिकार नहीं रहा। यह दमन चलता रहा किन्तु ईसाई समाज दब न सका, ईसाई धर्मावलम्बियों की संख्या में अभि-वृद्धि होती रही; विशेषतया शायद इसलिए कि रोमन साम्राज्य में सामाजिक संगठन विशृंखल होता जा रहा था, उसमें विच्छेदन प्रारम्भ हो गया था, कोई एक आदर्श, कोई एक भावना नहीं बच पाई थी जो समस्त समाज को एक सूत्र से बांधे रखती, जो जन-साधारण को प्रोत्साहित और उत्साहित करती रहती कि वे अपने संगठित रूप को बनाये हुए रहते चलें। दूसरी ओर ईसाई समाज में एक संगठित, व्यवस्थित ढङ्ग आने लगा था। एक प्रान्त का ईसाई व्यापारी किसी भी दूसरे प्रान्त में चला जाता था तो ईसाई समाज में उसका स्वागत होता था और उसको हर प्रकार का सहकार मिलता था, मानो साम्राज्य के सब प्रान्तों में किसी एक भावना से प्रेरित, समान आदर्शों से अनुप्राणित सब ईसाई मतावलम्बियों का एक ही समाज हो।

के निसीया नामक नगर में स० ३२५ ई० में एक वृहद् सभा बुलवाई और उसमें अनेक वाद-विवादों के बाद कान्स्टेंटाइन के निर्देशानुसार ईसाई धर्म और मान्यताओं का एक रूप स्थापित किया गया। आज संगठित ईसाई धर्म का जो रूप प्रचलित है वह उसी के अनुरूप है जिसका निर्माण उपरोक्त निसीया सम्मेलन में हुआ था। सन् ३२५ ई० के बाद भी ईसाई समाज को एक सूत्र में बांधे रहने के लिये और सब धार्मिक मान्यताओं का एक रूप कायम रखने के लिए कई सम्मेलन भिन्न-भिन्न रोमन सम्राटों ने बुलाये थे। इनके फल-स्वरूप धर्म सम्बन्धी सब अधिकार चर्च [गिरजा] में केन्द्रीभूत होते गये और चर्च की शक्ति यहां तक बढ़ी कि वह कहीं भी किसी प्रकार के मतभेद को दबा सकती थी। धीरे-धीरे पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक समस्त रोमन साम्राज्य में ऐसी स्थिति आ गई थी कि साम्राज्य के अन्तर्गत सब प्राचीन देवालय, मन्दिर [प्राचीन भिन्न-भिन्न देवताओं के] ईसाई गिरजा बन गये थे और सब पुजारी ईसाई पादरी। प्राचीन मूर्तिपूजक, मन्दिर और पुजारियों का धर्म प्राय: समाप्त हो चुका था। उन देशों में प्राचीन सभ्यतायें [जिनका मानसिक आधार अनेक देवी देवताओं की भयकृत पूजा, पुजारियों की शक्ति में आस्था, इत्यादि था] प्राय; समाप्त हो चुकी थी; यदि प्राचीन सभ्यतायें शेष भी थीं तो परिवर्तित रूप में। उन देशों में वास्तव में अब एक नया मानव बस रहा था।

ईसाई मत की उपरोक्त एकता कायम रही; भिन्न-भिन्न शताब्दियों में यथा चौथी से दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक जितने भी असभ्य लोग यथा फ्रैंक, नोर्समैन, वैन्डल्स, गोथिक एवं वलगर्स लोग जिनका कोई भी संगठित धर्म नहीं था [असभ्य स्थिति में केवल किन्हीं आदिकालीन जातिगत देवताओं में मान्यता थी], रोमन साम्राज्य में उत्तर या उत्तर पूर्व से आते गये, सब ईसाई धर्म में प्रतिष्ठत होते गये। ये ही असभ्य लोग जो ईसाई धर्म में प्रवेश पाते गये आज यूरोप में फ्रांस, जर्मनी, इंगलैंड इत्यादि राष्ट्रीय राज्य स्थापित किये हुए है। किन्तु हम जानते होंगे कि इन समस्त देशों के ईसाई, आज ईसाई धर्म के एक रूप को नहीं मानते। इंगलैंड, जर्मनी, नीदरलैंड इत्यादि प्रोटेस्टेंट धर्म को मानते हैं; ग्रीस, बाल्कन प्रायद्वीप के देश एवं रूस 'ओरथो-डोक्स चर्च', अर्थात् सनातन प्राचीन गिरजा धर्म को जानते हैं एवं इटली, स्पेन, दक्षिण अमेरिका 'रोमन कैथोलिक' धर्म को। यह विभेद कैसे?

सन् १०५४ ई० तक तो ईसाई मत की एकता बनी रही। उस समय रोमन साम्राज्य के दो अंग थे, एक पूर्वीय जिसकी राजधानी कस्तुनतुनिया थी और जहां ग्रीक भाषा और ग्रीक प्रभाव विशेष था, दूसरा पश्चिमी अंग जिसकी राजधानी रोम थी। रोम के चर्च का मुख्य पादरी पोप कहलाता था, उसकी शक्ति बढ़ी चढ़ी थी यहां तक कि 'पश्चिमी पवित्र रोमन साम्राज्य, के सम्राट भी उसके आधीन थे। उसने घोषणा की कि वह समस्त ईसाई समाज का प्रमुख पादरी [पोप] था। पूर्वीय रोमन साम्राज्य में कस्तुनतुनिया की गिर्जा का पादरी और न वहां का सम्राट इस हक को मानने के लिए तैयार थे, अत: वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया। एक छोटी सी बात पर

विवाद हुआ—कस्तुनतुनिया का गिर्जा तो पुरानी प्रचलित मान्यता के अनुसार यह कहता था कि "होली घोस्ट" का आविर्भाव पिता ईश्वर से हुआ था, किन्तु रोमन गिर्जा यह मान्यता रखना चाहता था कि 'होली घोस्ट' का आविर्भाव पिता और पुत्र [ईश्वर और क्राइस्ट] से हुआ था। इसी पर ये दोनों गिर्जा एक दूसरे से सर्वथा पृथक हो गये और उनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहा। कुछ देशों के ईसाई ग्रीक गिर्जा के अन्तर्गत रह गये एवं शेष देशों के ईसाई रोमन गिर्जा के अन्तर्गत।

किन्तु रोम के पोप की महत्वाकांक्षा जबरदस्त थी। सचमुच वह पश्चिमी रोमन साम्राज्य [पवित्र साम्राज्य] के ईसाइयों की आत्मा का एकाधिपति था। साधारण जनता को उसकी धार्मिक शक्ति में निःसंदेह ऐसा विश्वास था कि वह चाहे जिसको स्वर्ग का पासपोर्ट दे दे, चाहे जिसको नर्क में भिजवा दे चाहे जिसको मनमानी सजा दे दे या सम्राट से दिलवादे, जो कोई भी उसको मान्यता न दे उसको जलवा कर भस्म करवा दे इत्यादी। वास्तव में उन शताब्दियों में (१०वीं से १६वीं) इस प्रकार हजारों निर्दोष मानवों की हत्या की गई, उनको जलाया गया, उनकी धन सम्पत्ति लूटी गयी। इन सब कारणों से १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में धार्मिक सुधार की एक लहर फैली जिसके प्रवर्तक जर्मनी के मार्टिन लूथर (१४८३–१५४६ ई.) हुए। मार्टिन लूथर ने पोप और उसके व्यक्तिगत धर्माडम्बरों का विरोध किया, इस प्रकार विरोध करने वाले प्रोटेस्टेंट कहलाये। लूथर के प्रभाव में अनेक देशों की गिर्जाओं ने रोम के पोप से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और उन्होंने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित किया। प्रमुखतः इंगलैंड, जर्मनी, नीदरलैंड इत्यादि देशों की गिर्जाओं ने ऐसा किया—वे प्रोटेस्टेंट चर्च हुईं, इटली, स्पेन इत्यादि की चर्च रोमन पोप के साथ रहीं, ये रोमन कैथोलिक चर्च हुईं।

१४

मोहम्मद और इस्लाम

[MOHAMMAD AND ISLAM]

प्रारम्भिक

जब मिस्र में मिस्र की सभ्यता का, मेसोपोटेमिया में सुमेर और बेबीलोन सभ्यताओं का उदय हुआ था एवं उनका विकास हो रहा था, उसी प्राचीन काल में अरब में कुछ काले-भूरे रंग के लोग जो बोलचाल की कुछ ऐसी भाषा बोलते थे जिससे बाद में हीब्रू (यहूदी), अरबी आदि सेमेटिक भाषाओं का विकास हुआ, रह रहे थे। ये लोग अरब के भिन्न भिन्न भागों में समूह बन कर रहते थे। ये समूह ही समूहगत जातियां थीं। पृथक-पृथक जाती के अपने अपने पूर्वज थे और अपने अपने देवता, ऐसे ही देवता जैसे प्रारम्भिक अर्द्ध-सभ्य मानव में प्रत्येक जाति में पाये जाते हैं। कहते हैं, अरब में भिन्न भिन्न जातियों के सब मिला कर ३४०देवता थे। उस काल में जब मिस्र और बेबीलोन के बड़े बड़े साम्राज्य थे एवं परस्पर खूब व्यापार होता था, अरब में मक्का नगर का विकास हो चुका था। मक्का में एक मंदिर था, इस मन्दिर में एक काला पत्थर स्थापित था। लोग इसे काबा कहते थे, यह काबा ही उपरोक्त सब ३४० देवी देवताओं में सर्वोपरि समझा जाता था और ऐसा विश्वास था कि इसी देवता की संरक्षता में अरब जातियों के अन्य सब देवी देवता रहते थे।

अरब एक रेगिस्तान प्रधान देश है। केवल पच्छिमी तट में एवं सुदूर-दक्षिण-पच्छिम भाग में जिसे यमन कहते हैं कुछ उपजाऊ भूमि खण्ड हैं। अरब के लोग विशेषतः घुमक्कड़ थे और ऊंटों और घोड़ों पर इन लोगों के समूह इधर उधर भोजन की तलाश में जाया करते थे, किन्तु उपजाऊ भूखण्डों में खेती और पशुपालन भी करते थे, घास के मैदानों में भेड़, बकरी और ढोर पाल कर भी रहते थे। अरब के पच्छिम में मिस्र में, उत्तर में मेसोपोटेमिया में एवं पूर्व में ईरान में उच्च विकसित सभ्यताओं एवं बड़े बड़े साम्राज्यों की स्थापना हुई थी, किन्तु अरब में कुछ भी विकास नहीं हो पाया, शायद इसी

लिए कि यहां पर प्राकृतिक सुविधायें नहीं थी। किन्तु याद होगा प्राचीन काल में इन्हीं अरब लोगों की एक जाति ने मेसोपोटेमिया में असीरियन राज्य की स्थापना की थी, इन्हीं अरब लोगों की एक जाति के लोग जो बाद में यहूदी कहलाये अपने पूर्वज अबराहम के साथ लगभग १४०० ई. पू. में इजराइल चले गये थे और वहां यरूशलम में यहूदी राज्य की स्थापना की थी और उन्हीं यहूदी लोगों में द्रष्टा ईसामसीह का जन्म हुआ था जिसके उपदेशों के आधार पर बाद में ईसाई धर्म का संगठन हुआ था; किन्तु अरब देश स्वयं में कुछ भी प्रगति नहीं हुई, बल्कि कभी तो यहां मिस्र साम्राज्य का, कभी ईरान का दबदबा रहता था और फिर ग्रीक और फिर रोमन साम्राज्यों का दबदबा पड़ता रहा। अरब लोगों को उपरोक्त साम्राज्य के शासकों को मान्यता देनी थी, यद्यपि यह मान्यता नाम मात्र की थी क्योंकि कोई भी सम्राट इतनी दूर रेगिस्तान में आने में कुछ तथ्य नहीं देखता था।

छठी-सातवीं शताब्दी में अरब में दो प्रमुख नगर थे, एक मक्का जहां उपरोक्त काबा का मन्दिर था; काबा अर्थात् वह काला पत्थर (सङ्ग-असवद) जिसके विषय में एक विश्वास तो यह था कि वह आकाश से टूटे हुए तारे का अंश था एवं दूसरी मान्यता यह थी कि एक देवदूत ने यह पत्थर अबराहम (इब्राहिम) को, जिसे अरबी लोग अपना पूर्वज मानते थे, दिया था। मक्का इसीलिए अरब लोगों का पवित्र तीर्थ स्थान था। यहां अरब यात्री आते जाते

में इस्लाम के संस्थापक मोहम्मद साहब का जन्म हुआ। पहिले अनेक वर्षों तक गड़रिये का जीवन व्यतीत किया, फिर मक्का में ही रहने वाली एक धनवान व्यापारी की विधवा के यहां नौकरी करली, जिसका नाम खदीजा था। मोहम्मद को उसके व्यापार की देखभाल करनी पड़ती थी। ऐसा अनुमान है कि मोहम्मद व्यापारी काफिले के साथ कई बार यमन, सीरिया और मदीना भी गया था। संभव है वहीं पर वह ईसाई और यहूदी विचार-धाराओं के सम्पर्क में आया और इन धर्मों के विषय में काफी जानकारी हासिल की। मोहम्मद शिक्षित नहीं था, किन्तु बुद्धिमान अवश्य। धीरे धीरे अपनी मालकिन खदीजा से मोहम्मद का प्रेम सम्बन्ध हो गया और फिर बाद में उससे शादी भी करली। उस समय मोहम्मद की आयु कोई २५ वर्ष और खदीजा की ४० वर्ष की होगी।

कहते हैं मोहम्मद अनेक बार रेगिस्तान के नितान्त एकान्त स्थानों में घूमने निकल जाया करता था और वहां गहन मनन किया करता था। गहन आन्तरिक द्वन्द्वों की अनुभूतियां उसे होती होंगी। अवश्य ही उसकी समझ और भावनाओं का विकास शनैः शनैः हो रहा होगा। ४० वर्ष की आयु तक बाह्यरूप से तो उसमें किसी भी विशेषता के आभास नहीं मिलते थे किन्तु इस आयु के बाद उसकी अनुभूतियां अभिव्यक्त होने लगीं अरबी कविताओं के पदों में, जिनकी शैली की जानकारी मक्का में रात्रि के समय एकत्र यात्रियों में होने वाले गान और कविता-पाठों से मोहम्मद को अवश्य हो चुकी होगी।

इन अनुभूतियों की चर्चा पहिले तो मोहम्मद ने केवल अपनी स्त्री खदीजा, एक स्नेही अंतरंग मित्र अबुबकर और अपने जमाई अली के सामने ही की। किन्तु अनुभूतियों की तीव्रता बढ़ती गई और फिर तो मुक्त होकर उन अनुभूतियों का ऐलान वह सबके सामने करने लगा। जो कुछ भी मोहम्मद ने कहा उसके विषय में मोहम्मद ने ऐलान किया कि जो कुछ भी वह कहता है उसका दर्शन अल्लाह के एक दूत ने उसे करवाया है। उसका ज्ञान, उसकी शिक्षायें अल्लाह की देन हैं। अल्लाह एक है, एक के सिवाय दूसरा कोई नहीं। बुतपरस्ती (मूर्तिपूजा) अज्ञान है। जो अल्लाह में विश्वास करेंगे वे स्वर्ग का उपभोग करेंगे, जो अविश्वासी होंगे वे नर्क (दोजख) की आग में जलेंगे। अनेक आदमी मोहम्मद के अनुयायी होने लगे। किन्तु साधारणतया ये ऐलान, ये शिक्षायें मक्कावालों को बर्दाश्त नहीं हो सकती थी, वहां तो ३४० बुत थे, काबा की पूजा सदियों से प्रचलित थी जो अरबी लोगों की भावनाओं और परम्पराओं का केन्द्र थी। आखिर मक्कावालों का निर्वाह भी तो यात्रियों की मक्का यात्रा पर निर्भर था; किस प्रकार वे अपने बुतों, अपनी परम्पराओं, अपनी भावनाओं, अपने काबा को जिसे वे चूमते थे, विनिष्ट होने देते। अतः मोहम्मद और उसके कुटुम्बियों और सहयोगियों को कत्ल करने का उन्होंने इरादा कर लिया। मक्का तो एक पवित्र तीर्थ स्थान समझा जाता था, लोगों की भावना ऐसी थी कि वहां कोई भी दुष्कार्य नहीं किया जाय, अतः वहां कत्ल नहीं हो सकता था। किन्तु मोहम्मद को बर्दाश्त करना भी कठिन था। आखिर उन्होंने एक षडयन्त्र रचा, जिसमें मोहम्मद के परिवार को छोड़ कर मक्का के सभी परिवारों का प्रतिनिधित्व था, जिससे बाद में कोई ...

कह सकें कि मक्का के पवित्र स्थान में किसने यह काम किया किसने नहीं, पाप के साझीदार सभी हो सकें। किन्तु मोहम्मद को षडयन्त्र का पता चल गया। इधर मदीना नगर में जहां पहले से ही यहूदी, ईसाई लोगों के प्रभाव से अनेक जन ऐकेश्वरवादी थे, मोहम्मद के विचारों को सहानुभूति और सहयोग मिले। उन्होंने मोहम्मद को मदीना में आकर रहने के लिए आमन्त्रित किया। पहले तो मोहम्मद ने अपने सब परिवार वालों को (उसकी पहली स्त्री खदीजा की मृत्यु हो चुकी थी) और सहयोगियों को मदीना भेजा और फिर षड़यन्त्र-कारियों से बचकर मोहम्मद स्वयं और उसका अन्तरंग मित्र और सहयोगी अबुबकर गौरव के साथ सन् ६२२ ई० में० २० सितम्बर के दिन मदीना में प्रवेश हुए। मोहम्मद की मक्का से मदीना तक की यह दौड़ हिज्र कहलाती है और उसी दिन से जिस दिन मोहम्मद ने मदीना में प्रवेश किया मुसलमानों का हिजरी सन् प्रारम्भ होता है और वही दिन इस्लाम धर्म का स्थापना दिवस माना जाता है।

कई विधवायें जो आपस में झगड़ती थीं; इस्लाम धर्म और एक सच्चा मुसलमान अबूबकर।

इस्लाम-धर्म

इस्लाम धर्म के संस्थापक मोहम्मद साहब को अवश्य कुछ आंतरिक अनुभूतियां हुई थीं। उनकी एक तात्विक अनुभूति जो उनकी तीव्रतम अनुभूति होगी, यह यही थी कि एक अल्लाह है, परवरदिगार सबका मालिक। बंदा अपनी ख्वाहिश को अल्लाह की ख्वाहिश में मिला दें और अल्लाह के भरोसे अपने आपको छोड़ दे। एक अल्लाह में अदम्य, स्थिर, पूर्ण विश्वास। यह अल्लाह बुत (मूर्ति) में समाया हुआ नहीं है इसलिये मूर्तिपूजा अज्ञान है। मन्दिर, बलि, पूजा, पुजारी सब विमूढता। मुसलमान को चाहिये कि वह इन्हें खत्म कर दे। इस्लाम किसी भी सूरत में मूर्तिपूजा को बर्दाश्त नहीं कर पाया। इस तात्विक बात के अतिरिक्त मोहम्मद ने बतलाया, एक स्वर्ग है (बहिश्त) और एक नर्क (दोजख)। जो अच्छा काम करेंगे वे स्वर्ग में परी और ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे जो बुरे काम करेंगे वे दोखज की आग में जलेंगे। जो एक अल्लाह में विश्वास नहीं करेगा जिसका अर्थ लगाया गया जो मुसलमान नहीं होगा, उसको कभी भी बहिश्त नहीं मिलेगा। मुसलमानों में कोइ भी भेदभाव नहीं होगा–किसी भी प्रकार का भेदभाव, न ऊंच-नीच का, न छोटे बड़े का। खुदा के सामने खुदा की इबादत में सब बराबर होंगे। हर एक मुसलमान एक दूसरे का भाई होगा। कोई भी मुसलमान एक दूसरे की जान माल पर निगाह नहीं डालेगा। इस प्रकार भ्रातृत्व और समानता इस्लामी सामाजिक संगठन की दो बुनियादी चीजें हैं, जो आधुनिक जनतन्त्र-वाद के भी आधार-भूत सिद्धांत हैं। वास्तव में किसी भी मुसलमान इबादत-की जगह (मस्जिद), किसी भी सामूहिक खानपान में देखा जा सकता है कि उनमें बड़े छोटे का, गरीब अमीर का, अफसर नौकर का किंचितमात्र भी भेदभाव नहीं रहता। सब बराबर एक साथ बैठ कर ईश्वर की प्रार्थना कर सकते हैं। सब बराबर बैठकर खा पी सकते हैं। किसी भी नस्ल, किसी भी कबीले या जाति का व्यक्ति हो जब एक बार इस्लाम के संगठित समूह में मिल गया कि उसकी विभेदात्मक सारी विशेषतायें दूर कर दी जाती हैं; और यही बात है कि सामूहिक रूप से वे एक दूसरे के समान भ्रातृत्व के बंधन से जकड़े हुये हैं और अपने आपको शक्तिशाली महसूस करते हैं।

इतिहास में स्यात् मानव का यह प्रथम व्यावहारिक प्रयास था कि समानता और भ्रातृत्व के आधार पर मानव समाज का संगठन हो। इस प्रकार के सगठन का भाव मानव की चेतना में स्यात् पहिले कभी नहीं आया था।

मोहम्मद साहब ने इबादत का ढंग (यथा दिन में पांच समय नमाज पढ़ना), व्रत उपवास (रमजान के महीने में रोजा रखना), शादी विवाह, धन जमीन, आचार विचार के सब नियमों का निर्देश कर दिया था और लोगों को यह ऐलान कर दिया था कि उसका ज्ञान ईश्वर प्रदत्त ज्ञान है, उनकी व्यवस्था

ईश्वरीय है, अतएव सब कालों के लिये अपरिवर्तनीय है। उसने यह भी घोषित किया कि उसके पहिले भी ईश्वरीय ज्ञान के दर्शन कराने वाले पैगाम्बर हुए थे, जैसे अबराहम मूसा, और ईसा। किन्तु वह स्वयं अन्तिम पैगाम्बर था जिसने उस ईश्वरीय ज्ञान को पूर्ण किया। जो कुछ उसने कह दिया उससे न तो कुछ विशेष हो सकता था और न कुछ कम। परमात्मा एक है और मोहम्मद उसका भेजा हुआ रसूल। यही मुसलमानों का कलाम अथवा मूल-मन्त्र है।

मोहम्मद के ये सब उपदेश, उसके शब्द, उसकी वाणियां उसके भक्त और अनुयायियों ने मोहम्मद की मृत्यु के बाद संगृहीत किये, और वे सब संगृहित रूप से "कुरान" कहलाये। कुरान ही मुसलमानों की एक मात्र धर्म पुस्तक है। आज भी दुनियां के अनेक प्राणी कुरान के शब्दों में कट्टर विश्वास रखते हैं।

स्वीकार करने के लिए पत्र लिखे गये थे और दूत भेजे गये थे। दुनियां को अभी मुसलमान बनाना बाकी था। अबुबकर सच्चा मुसलमान था, अपने पैगम्बर का काम उसे पूरा करना था। अरब के मुसलमानों में नया-नया जोश था, उनमें एक तमन्ना थी। वे दुनिया को मुसलमान बनाने के लिए आगे बढ़े।

उस समय दुनियां की क्या दशा थी? पूर्वीय रोमन और ईरान के सम्राटों में अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिए अनेक वर्षों से परस्पर युद्ध हो रहे थे और इस तरह दोनों साम्राज्य जर्जरित थे। इन साम्राज्यों में बसने वाले लोग, यथा सीरिया, मेसोपोटेमिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, एशिया-माइनर, आरमेनिया एवं आधुनिक बाल्कान प्रायद्वीप के देशों के लोग, सब पीड़ित और थके हुए थे। अपने सम्राटों और शासनकर्त्ताओं में उन्हें तनिक भी विश्वास नहीं था और न उनके साथ किसी प्रकार की सहानुभूति। पूर्वीय रोमन साम्राज्य के पश्चिम की ओर, रोम और इटली और समीपस्थ प्रदेशों (जैसे स्पेन, फ्रांस) में कुछ ही शताब्दियों पूर्व भव्य, शक्तिशाली रोमन साम्राज्य स्थापित था, वह अब ध्वस्त हो चुका था; वहां अस्त-व्यस्त राजनैतिक स्थिति में लोग बस रहे थे; वे मुख्यतया ईसाई थे और कई बाह्य धार्मिक मतभेदों को लेकर आपस में लड़ झगड़ रहे थे। इन्हीं प्रदेशों में उत्तर पूर्व से नये असभ्य लोग जैसे फ्रैंक, गोथ, नोर्समैन, इत्यादि आ-आकर बस रहे थे किन्तु अभी तक स्थिर और संगठित रूप में कुछ भी जमाव नहीं हो पाया था। यह तो हुई यूरोप की दशा। उधर एशिया में, इस समय भारत में बौद्ध हर्षवर्धन का राज्य प्रमुख था एवं चीन में तांग वंश के सम्राटों का। दोनों देश उन्नत और समृद्ध थे; यद्यपि हर्षवर्धन के बाद भारत शक्तिहीन दशा में प्रवेश करने वाला था। मध्य एशिया में घुमक्कड़ तुर्क लोग रह रहे थे। इन घुमक्कड़ लुटेरे लोगों पर इस समय चीनी सम्राट का दबदबा था। उस समय की दुनियां में उपरोक्त देशों में ही विशेष मानवीय चहल-पहल थी।

ऐसी दुनियां में—अबुबकर और नये अरबी मुसलमान नये जोश में इस्लामी तलवार लेकर दुनियां में एक खुदा का साम्राज्य स्थापित करने के लिए निकले। सन् ६३२ ई. में उनकी यह विजय यात्रा प्रारम्भ हुयी और ताज्जुब होगा कि कुछ ही वर्षों के अन्दर अन्दर उन्होंने पूर्व में समस्त मेसोपोटेमिया और फिर ईरान परास्त किया। आगे बढ़ते-बढ़ते मध्य एशिया में काबुल, हिरात और बलख तक और भारत में सिंधु प्रान्त तक बढ़ गये और इन समस्त देशों को अपने आधीन कर लिया। अपने पच्छिम में उन्होंने सीरिया, फिलस्तीन (इजराइल) और फिर मिस्र, सूडान और उत्तर अफ्रीका पर विजय प्राप्त की। उत्तर अफ्रीका से आगे, जिब्राल्टर के मुहाने से उन्होंने सन् ७११ ई. में यूरोप में प्रवेश किया और समस्त स्पेन अपने आधीन किया। वे आगे बढ़ते हुए जा रहे थे और संभव है वे सारे यूरोप को पदाक्रांत कर डालते किन्तु ७३२ ई. में फ्रांस में पोईतियर के मैदान में पश्चिमी यूरोप के लोगों के एक संघ ने जो चार्ल्स मार्टेल के नेतृत्व में लड़ रहा था, उनको परास्त किया। इस हार से वे हतोत्साह हो गये और स्पेन

वार के सब लोगों को कत्ल कर डाला और उनके मृतक शरीरों को जमाकर, उनकी एक मेजसी बनाकर उस पर खूब मौज से एक दावत उड़ाई। ७४६ ई. से इसी अब्बासीद परिवार के लोग खलीफा बनते रहे।

इन पारिवारिक झगड़ों की वजह से केन्द्रीय शक्ति शिथिल हो गई थी, अतएव मिस्र, अफ्रीका, स्पेन के प्रान्तीय शासक खुदमुखत्यार बन बैठे थे। किसी ने तो स्वतन्त्र खलीफा की उपाधि धारण कर ली और किसी ने अलग सुल्तान की उपाधि धारण कर ली। उपरोक्त अब्बासीद परिवार में जिसका राज्य अब केवल ईरान, मेसोपोटेमिया (बगदाद), सीरिया, इजराइल और अरब में रह गया था, हारुनल-रशीद नाम का एक खलीफा हुआ। इसकी प्रसिद्धि विशेषत: "अलिफ लैला" अर्थात् अरेबियन नाइट्स की कहानियों की वजह से है। ये अलिफ लैला के किस्से उसी जमाने में अरबी भाषा में लिखे गये थे। उनमें हारुनल-रशीद की राजधानी बगदाद की शान-शौकत, धन ऐश्वर्य के बहुत रोमाञ्चकारी किस्से हैं। हारुनल-रशीद की मृत्यु सन् ८०६ ई० में हो गई। इसके बाद समस्त अरब राज्य शिथिल, पतित और विच्छिन्न हो गया। किसी तरह से इसका नाम चलता रहा। ११वीं शताब्दी में उत्तर पूर्व से तुर्की मुसलमान आये, इन्होंने अरबी साम्राज्य के ईरान, सीरिया और फिलस्तीन देश अपने अधीन किए, अरबी खलीफाओं के अधीन, पैगम्बर मोहम्मद के उत्तराधिकारियों के अधीन, अब केवल बगदाद और उसके चारों ओर की भूमि और अरबिस्तान रह गए। खलीफाओं का बगदाद पर यह अधिकार भी तुर्कों की कृपा से था। वास्तविक शक्ति तो तुर्कों के ही हाथ में थी। १३वीं शताब्दी में पूर्वीय एशिया से मंगोल लोगों के आक्रमण हुए। सन् १२५८ ई० में बगदाद नगर समूल ध्वस्त कर दिया गया और खलीफाओं का जो कुछ राज्य शेष रह गया था वह भी समाप्त हुआ। अरब और अरबी सभ्यता का एक प्रकार से अन्त हुआ। उपरोक्त मंगोल साम्राज्य के विच्छिन्न होने पर १५वीं शताब्दी में पश्चिमी एशिया में ओटोमन (उस्मान) तुर्क लोगों का अभ्युदय हुआ। उन्होंने पूर्वीय यूरोप (बालकन प्रायद्वीप) और पश्चिमी एशिया (अरब, ईराक, इजराइल, सीरिया) में एक साम्राज्य स्थापित किया। सन् १५१२ ई० में एक तुर्की सुल्तान ने जिसका नाम "सलीम" था, खलीफा की भी उपाधि धारण की (खलीफा अर्थात् धार्मिक मामलों में समग्र मुसलमानों के नेता; अब तक अरब के मोहम्मद साहब के वंशज खलीफाओं की परम्परा तो खत्म हो चुकी थी)। १५वीं शताब्दी से २०वीं शताब्दी तक अर्थात् प्रथम महायुद्ध (१६१४–१८) तक अरब उपरोक्त तुर्की साम्राज्य का अङ्ग रहा। महायुद्ध काल में अरबों ने तुर्की राज्य के खिलाफ उपद्रव किए; तभी से अरबों के देश अरब, ईराक, सीरिया इत्यादि प्राय: स्वतन्त्र हैं। इन अरबी देशों के अतिरिक्त मिस्र भी प्राय: ७वीं शताब्दी से अरबी देश हो गया था और याद होगा अरब लोगों ने स्पेन पर भी अपना अधिकार जमाया था। इन दो देशों में अरब लोगों का इतिहास इस प्रकार रहा:—

मिस्र का अरबी शासक सन् ९६९ ई. में बगदाद के केन्द्रीय खलीफा के शासन से पृथक हुआ। वह स्वयं एक स्वतन्त्र खलीफा बना। यह शिया

समुदाय (हरा झण्डा) का मुसलमान था और अपने आपको अली और फातमा का वंशज मानता था। किन्तु सन् ११६६ ई० में एक नए कुर्दिश वंश का एक सुन्नी मुसलमान जिसका नाम सलादीन था मिश्र का सुल्तान बना। सलादीन एक प्रसिद्ध शासक था। फिर मिस्र उस्मानी तुर्क साम्राज्य का अङ्ग रहा; फिर १६वीं शती में मिस्र पर अंग्रेजों का अधिकार हुआ। आज मिस्र स्वतन्त्र है, वहां वैधानिक राजतन्त्र है, मिश्र का बादशाह पालियामेन्ट की अनुमति से राज्य करता है। सन् १९५३ में वैधानिक राजतन्त्र की जगह गणतन्त्र की स्थापना हुई।

स्पेन में अरब लोग सन् ७११ में प्रवेश हुए थे। दो ही वर्षों में उन्होंने समस्त स्पेन और पुर्तगाल पर अपना आधिपत्य जमा लिया। स्पेन में इन्होंने कुर्तबा अपनी राजधानी बनाई। ७४६ ई० तक स्पेन के अरबी शासक केन्द्रीय शासन अर्थात् अरब खलीफा के अधीन रहे किन्तु केन्द्र में पारिवारिक झगड़े और गृह युद्ध होने की वजह से केन्द्र की शक्ति शिथिल हुई और स्पेन का शासक, जो अरब खलीफा का वायसराय कहलाता था, स्वतन्त्र अमीर बन बैठा। सम्पूर्ण स्पेन पर अरब अमीरों का जो अब 'मूर' कहलाते थे १२३६ ई० तक राज्य रहा, जब यूरोप के एक ईसाई राजा केस्टिल ने उनको परास्त किया। अरब (मूर) लोग दक्षिण स्पेन की ओर भागे और वहां उन्होंने ग्रानाडा नामक एक छोटा सा पृथक राज्य स्थापित किया जहां प्रसिद्ध अलहम्ब्रा (लाल महल) अब भी स्थित है। यहां सन् १४६० तक वे राज्य करते रहे। १४६२ में स्पेन के सम्राट और साम्राज्ञी फर्डीनेन्द और ईसाबेला ने उनको परास्त किया और देश से बिल्कुल निकाल दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् ७११ से १४६२ तक समस्त स्पेन या स्पेन के कुछ भागों में प्राय: ७०० वर्षों तक अरबों का राज्य रहा। इन वर्षों में विज्ञान, दर्शन, कला, शिक्षा का देश में खूब विकास हुआ। कुर्तुबा उस समय पश्चिमी दुनियां का सबसे बड़ा नगर और सबसे बड़ा विश्वविद्यालय था, जहां कलात्मक ढंग के अनेक महल, उद्यान, सार्वजनिक स्नानघर, पुस्तकालय और मस्जिदें बनी हुई थीं। दर्शन, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, विज्ञान की हजारों पुस्तकों का अरबी भाषा में निर्माण हो रहा था। कहते हैं स्पेन के अमीर राज्य-पुस्तकालय में कई लाख पुस्तकें थीं किन्तु सन् १४६२ में यह सब समाप्त हुआ, अब अरबी स्पेन की जगह ईसाई स्पेन था और देश आधुनिक युग में प्रवेश कर रहा था।

हिन्दुस्तान:—सन् ७१२ ई० में बगदाद के खलीफा की आज्ञा से मुहम्मद बिनकासिम एक मुसलमान सेनापति सिन्ध की ओर बढ़ा। सिन्ध का हिन्दू शासक दाहिर परास्त हुआ और सिन्ध और मुलतान पर अरबों का राज्य स्थापित हुआ। मुहम्मदबिनकासिम ही बगदाद के खलीफा की ओर से इस प्रान्त का वायसराय रहा। इसका राज्य अच्छा था और यद्यपि हिन्दुओं पर इसने जजिया नामक एक कर लगाया तथापि उनके प्रति इसका व्यवहार अच्छा रहा। अन्य देशों में तो जहां भी अरबी आक्रमण हुए, वहां के सब लोगों को मुसलमान बनाया गया और उनकी भाषा अरबी कर दी गई किन्तु

सिन्ध में ऐसा नहीं हो पाया। सिन्ध केन्द्रीय शासन से दूर पड़ता था अतएव खलीफाओं की दृष्टि इधर न रह सकी। यहां के अधिकारी भी धीरे धीरे सिन्ध में ही हिल-मिल गये। धीरे-धीरे इन अरबी मुसलमानों की शक्ति कम होती गई और ११वीं शताब्दी में सर्वथा खत्म हो गयी। इस आक्रमण से दोनों देशों में सांस्कृतिक सम्पर्क अवश्य बढ़ा, भारत से अनेक संस्कृत ग्रन्थ अरब ले जाये गए जहां उनका अरबी भाषा मे अनुवाद हुआ।

अरब खलीफाओं के समय में सामाजिक दशा

(बगदाद ८वीं से ११वीं शताब्दी)

अबुबकर, उमर और उस्मान, प्रथम तीन खलीफाओं के जमाने तक तो अरबी मुसलमानी राज्य नए जोश में सरल ढग से चलता रहा किन्तु तब तक इतनी विशाल विजयों के फलस्वरूप खूब धन दौलत इकट्ठी हो चुकी थी। पहिले तो खलीफा चुने जाते थे किन्तु बाद में जिसके हाथ में शक्ति होती थी, जो अधिक चालाक होता था वही खलीफा बन बैठता था। ऐश्वर्य और आराम से जिन्दगी बिताना खलीफाओं का काम रह गया था। बड़े-बड़े महल, बाग-बगीचे बनाए जाने लगे और दूर-दूर देशों से ठाठ-बाट की चीजें एकत्र होने लगीं। पहिले मक्का राजधानी थी फिर सीरिया में दमिश्क राजधानी बनाई और फिर ईराक में बगदाद। दमिश्क और बगदाद खलीफाओं के जमाने के दो बहुत ही ऐश्वर्यशाली नगर थे, देश-देश के व्यापारी वहां एकत्र होते थे, खलीफाओं के इन नगरों में बड़े-बड़े महल, उद्यान बने हुए थे। इन नगरों में खलीफाओं का ठाठ प्राचीन रोम और ईरान के सम्राटों के ठाठ को भी मात करता था। राज परिवार में झगड़े चलते रहते थे, साजिशें होती रहती थीं। राज को संगठित करने की, उसको सुधारने की और मजबूत करने की किसी को कुछ नहीं पड़ी थी। साधारण जन वही अपनी खेती करता रहता था और भेड़ बकरी पालता रहता था, कुल लोग व्यापार में व्यस्त थे जिनकी दशा साधारणजन से अपेक्षाकृत ठीक थी और कुछ लोग खलीफाओं के दरबारों में साजिशें करने कराने में व्यस्त रहते थे। जब तक अरब में इस्लाम का प्रचार नहीं हुआ था तब तक औरतें स्वतन्त्र थीं, किसी प्रकार का पर्दा नहीं था; किन्तु इस्लाम धर्म के प्रचार के बाद जिसमें औरत को मिलकियत का एक तिहाई हिस्सा स्वीकृत है किन्तु जिसकी दशा घर की एक बेजान चीज से बेहतर नहीं है. सब मुसलमानों में पर्दे का प्रचलन हो गया और खलीफा लोग अनेक शादियां करके स्त्रियों को हरम में रखने लग गए।

ज्ञान विज्ञान का विकास

यह सब होते हुए भी ये अरबी मुसलमान काफी सहिष्णु थे और उनमें कुछ ऐसे स्वतन्त्र लोगों का विकास हुआ था जो विद्या प्रेमी थे। ७वीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर ११वीं शताब्दी तक अरबी इस्लामी खलीफाओं का इतिहास परस्पर वैमनस्य, ईर्षा, द्वेष, लड़ाई झगड़ों, साजिशों, ऐशोआराम, पर्दे की स्त्रियों और गुलामों से भरा है, किन्तु इन सब के परे हमें एक दूसरी तस्वीर देखने को मिलती है जो वास्तव में बहुत ही गौरवपूर्ण और सराहनीय

है, जिसमें वस्तुतः मानव विकास की कहानी समाहित है। इस पृथ्वी पर सर्व प्रथम ग्रीक लोग ऐसे थे जिन्होंने इस संसार को, संसार के पदार्थों को वस्तु-दृष्टि से, शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से, देखने की कोशिश की थी। पदार्थ और सृष्टि की यथार्थ वस्तु-सत्य समझने की कोशिश की थी और इस प्रकार विज्ञान की नींव डाली थी, वह विज्ञान जिस पर आज का हमारा समस्त ज्ञान भण्डार आधारित है। ग्रीक लोगों ने विज्ञान की नींव डाली, उसकी परम्परा प्रारम्भ की किन्तु ग्रीक सभ्यता के विलीन होने के बाद वह परम्परा भी प्रायः विलीन हो गई। ग्रीक सभ्यता के बाद रोमन सभ्यता आई थी; रोमन सभ्यता बड़ी ठाठ वाली, आवाज करने वाली, बजने वाली थी किन्तु ज्ञान विज्ञान की परम्परा को वह चालू नहीं रख सकी, वाह्याडम्बर और दिखाव में ही वह अपने आप को भूल गई। किन्तु ग्रीस की ज्ञान–विज्ञान की परम्परा को चालू रक्खा अरब ने और आधुनिक काल को उस ज्ञान की टॉर्च पकड़ाई अरब ने। इतिहास की यह एक महत्वपूर्ण बात है।

अरब लोग अपने साम्राज्य के विस्तार में अनेक लोगों के सम्पर्क में आये थे, पहिला सम्पर्क उनका सीरिया के लोगों से था; सीरिया की भाषा में अनेक प्राचीन ग्रीक-दर्शन और विज्ञान के ग्रन्थों का अनुवाद मिलता था। इसी सीरियन भाषा से अरबी भाषा में उन प्राचीन ग्रीक ग्रंथों का अनुवाद हुआ। फिर अरबी सिन्ध के रास्ते से भारतीय मनीषियों के सम्पर्क में भी आये, भारतीय संस्कृत साहित्य के सम्पर्क में आये, फलतः भारतीय आयुर्वेद शास्त्र दर्शन और गणित के अनेक ग्रंथों का अरबी में अनुवाद हुआ और अरबों ने उनसे बहुत कुछ सीखा। अरब राज्य से इधर उधर बिखरे हुए यहूदी लोगों के सम्पर्क में भी वे आये। यहूदी और अरब मस्तिष्कों की टक्कर हुई और अवश्य एक दूसरे ने एक दूसरे को कुछ दिया, कुछ प्रभावित किया। मध्य-एशिया के रास्ते से वे चीन के सम्पर्क मे आये और ऐसा अनुमान है कि चीनियों से ही अरबों ने कागज बनाना सीखा और फिर यूरोप में यह कला अरबिस्तान से ही गई। प्रतीत होता है मानव एक देश में बंद, एक कठघरे में बंद अकेला अपने एक मस्तिष्क स कुछ नहीं कर सकता। लोगों के परस्पर स्वतन्त्र सम्पर्क से ही ज्ञान-विज्ञान का विकास होता है और मनुष्य को प्रकाश मिलता है। उपरोक्त सम्पर्क के प्रभाव से ही अरब ने ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति की।

अरब में कई इतिहासकार पैदा हुए जिन्होंने अरबी भाषा में अपने काल का इतिहास लिखा; इसके अतिरिक्त अनेक रोमांचकारी कहानियां और किस्से लिखे जो आज भी पढ़े जाते हैं और जिन्होंने उस काल में साधारण लोगों को पढ़ना सीखने के लिए प्रेरित किया। इसी काल में अलबेरूनी नाम का एक प्रसिद्ध यात्री भारत की यात्रा के लिए आया; भारत की यात्रा करके वह अपने देश लौटा और जो कुछ उसने भारत में देखा उसका सुन्दर वर्णन लिखा। यह वर्णन उस काल के भारत के इतिहास का एक ऐतिहासिक आधार है। रेखागणित तो ग्रीक गणितज्ञ यूक्लिड ने मानो बहुत कुछ प्राप्त कर लिया था, उस जमाने में उससे अधिक विकास सम्भव नहीं था, किन्तु अरबों

ने त्रिकोणमिति (ट्रिग्नोमेट्री) का विकास किया और ऐसा अनुमान है कि बीजगणित का तो उन्होंने ही आविष्कार किया। कुछ विद्वानों का मत है कि बीजगणित का ज्ञान भी भारत से आया था। आज जो गिनती के अङ्क प्रचलित हैं वे अरबी अङ्कों से ही लिए हुए हैं; अरबों ने ये अङ्क कहाँ से लिये इसका अभी कोई निश्चय नहीं; ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि अरबों ने शायद भारत से ही इन अङ्कों को सीखा था।

चिकित्सा शास्त्र में बहुत कुछ तो अरबों ने प्राचीन ग्रीक पुस्तकों से लिया और बहुत कुछ भारतीय आयुर्वेद शास्त्र से। उस काल में अरब के दवाखानों में, जो बड़े बड़े नगरों में स्थित थे, बड़े बड़े चीरा-फाड़ी के इलाज होते थे और वे सफल होते थे। शरीर विज्ञान और सफाई शास्त्र का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन होता था, इसमें उनका ज्ञान काफी बढ़ा चढ़ा था। रसायन शास्त्र में उन्होंने कई नई चीजें ईजाद कीं जैसे अल्कोहल, पोटाश, नाइट्रिक तेजाब और गन्धक तेजाब। वे लोग शर्बत, सत्व और आसव भी बनाना जानते थे। वनस्पति शास्त्र की भी अनेक बातें जानते थे। वे जानते थे कि खाद का क्या महत्व होता है, किस प्रकार दो जातियों का मेल करके नये पुष्प या नये प्रकार के फल पैदा किये जा सकते हैं जो कि आधुनिकतम विज्ञान का एक अंग है। भौतिक शास्त्र में उन्होंने लम्बक का आविष्कार किया और आंखों की ऐनक के ज्ञान में बहुत कुछ विकास किया। उन्होंने कई वेदशालायें भी बनाईं और नक्षत्रों की चाल इत्यादि देखने के लिए कई यन्त्र भी बनाये, जो आज भी प्रचलित हैं। शिक्षा के प्रसार के लिए और ज्ञान विज्ञान की उन्नति के लिए कई विश्वविद्यालय थे जिनमें बगदाद का विश्वविद्यालय और स्पेन में कुर्दुवा का विश्वविद्यालय प्रमुख थे; वे उस काल में बहुत प्रसिद्ध थे, इनमें दूर दूर से विद्यार्थी पढ़ने आया करते थे। कुर्दुवा विश्वविद्यालय में अनेक ईसाई विद्यार्थी भी पढ़ते थे। बसरा (ईराक), काहिरा (मिस्र) और कूफा में भी विश्वविद्यालय थे। अरब दार्शनिकों में इब्नरुश्द (११२६–११९८ ई.), डाक्टरों में इब्नसीना (९८०-१०३७ ई.) (जो बुखारा मध्य एशिया में रहता था) और गणितज्ञों में इब्नमूसा के नाम उल्लेखनीय हैं। यह सब प्रगति और विकास उस काल में हो रहा था (८वीं से ११वीं शताब्दी में), जब समस्त यूरोप अन्धकारमय था।

१५

यूरोप में मध्य युग

(THE MEDIEVAL EUROPE)

भूमिका

आधुनिक इतिहासकारों ने ई० सन् की लगभग छठी शताब्दी से प्राय: १५ वीं शताब्दी तक के काल को मध्य युग माना है।

प्राचीन रोमन साम्राज्य के पतन के बाद जिस जीवन, जीवन के रहन-सहन, जीवन की गतिविधि का विकास यूरोप में सर्वत्र फैलती हुई और बसती हुई नवागन्तुक नोर्डिक जातियों में रहा था—वह ग्रीक और रोमन जीवन से सर्वथा भिन्न था, यूं कहना चाहिये एक नई सभ्यता का विकास हो रहा था, धीरे-धीरे उस नई सभ्यता का जो आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की पूर्व-पीठिका थी।

मानव जाति के इतिहास को एक सतत प्रवाहित धारा के समान समझना चाहिये। उस धारा में कहीं रोक-टोक हो सकती है, उसकी दिशा में परिवर्तन हो सकता है, किन्तु वह धारा कभी टूटती नहीं, इसलिए जब कहा जाता है कि यूरोप में एक नई सभ्यता का विकास होने लगा, तो हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि पहिले से बहती आती हुई जीवन की धारा में सर्वथा पृथक कोई दूसरी धारा ही प्रवाहित होने लग गई थी—किन्तु यह समझना चाहिये कि उस आदि धारा में ही कोई नया गुण, कोई नई दिशा उत्पन्न हो गई थी, उस आदि धारा के गुण नई सभ्यता को प्रभावित करते रह सकते थे, या कुछ काल तक लुप्त होकर फिर प्रकट हो सकते थे।

मध्य युग का जो कुछ भी व्यक्तिगत सामाजिक और राजनैतिक जीवन है वह समस्त मुख्यतया दो संस्थाओं से प्रभावित है और उन्हीं दो बातों में सीमित भी। वे हैं—सामन्तवाद और ईसाई धर्म। इन्हीं दो बातों के इर्दगिर्द मध्य युग का जीवन घूमता रहा था।

यूरोप के लोगों में तब तक राष्ट्रीय भावना का जन्म नहीं हो पाया था। समस्त यूरोप भिन्न-भिन्न सामन्ती ठिकानों का बना प्राय: एक ईसाई राज्य था। यूरोप में लोगों की गणना इस आधार पर प्राय: नहीं होती थी कि अमुक लोग अंग्रेज हैं, अमुक जर्मन, अमुक फ्रान्सीसी, अमुक स्पेनिश, अमुक डच, अमुक ग्रीक, इत्यादि। वस्तुत: भिन्न-भिन्न राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना

होने में एवं कट्टर राष्ट्रीय भावना जागृत होने में अभी प्रायः एक हजार वर्षों की देर थी। राष्ट्रीय भावना का विकास यूरोप में सोहलवीं शताब्दी से होने लगा।

सामन्तवाद

रोमन कालीन संगठित राज्य और समाज ध्वस्त हो चुके थे। नई नोर्डिक जातियां आ रही थीं, लूटमार करती थीं और धीरे-धीरे अपनी बस्तियां बसाकर जम रही थीं। समाज में कोई व्यवस्था नहीं थी, प्राण और धन के रक्षार्थ कोई संगठन नहीं था। गड़बड़ी और लूटमार का समय था। कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति, अपनी शक्ति और अपने साथियों की सहायता के बल पर किसी भी भूमि का मालिक बन बैठता था और कोई पक्का किला बनवाकर उसमें शरण लेता था। ऐसे बहुत से किले उस काल में बन गये थे। ऐसी अवस्था में धीरे-धीरे संगठित राज्य का विकास होने लगा। उस जमाने की उपरोक्त परिस्थितियों में यह होने लगा कि जो सबसे कमजोर था वह समीपस्थ अपने से अधिक शक्तिशाली व्यक्ति की शरण में जाने लगा और वह शक्तिशाली व्यक्ति अपनी रक्षा के लिए किसी अन्य अपने से अधिक शक्तिशाली व्यक्ति की शरण में जाने लगा और इस प्रकार रक्षित और रक्षक इन दो सम्बन्धों वाले व्यक्तियों की शृंखला सी बन गई।

इस शृंखला में सबसे नीचे तो थे किसान। वे किसान लूटमार से बचने के लिए अपने पड़ोसी किसी सरदार की शरण लेते थे जो अपनी शक्ति से अपने कुछ साथियों के साथ किसी किले या विशेष भूमि का मालिक बनकर बैठ जाता था। यह सरदार किसी अन्य बड़े सरदार की शरण लेता था और वह सरदार अन्त में किसी राजा की। इस प्रकार बहुत अंशों तक एक संगठित सामाजिक प्रणाली का विकास हो रहा था और उस प्रणाली की परम्परायें, नियम और रस्म रिवाज स्थापित हो रहे थे। राजा सब भूमि का स्वामी समझा जाता था और इस दुनियां में ईश्वर का प्रतिनिधि। राजा अपनी यह भूमि अपने अधीन या साथी सरदारों को दे देता था जो सामन्त कहलाते थे। इस भूमि के बदले जो राजा को मिलती थी, सामन्तों को, जब कभी भी राजा चाहता, अपनी सेनाओं सहित राजा के पास उपस्थित होना पड़ता था—किसी बाहरी दुश्मन से राज्य की रक्षा करने के लिये। ये बड़े-बड़े सामन्त अपनी जमीन छोटे-छोटे सामन्तों या जमींदारों को दे देते थे, और वे छोटे-छोटे जमींदार भूमि को जोतने और खेती करने के लिये अपनी भूमि किसानों को दे देते थे। किसान यह मान्यता रखकर कि यह भूमि तो उसे जमींदार या राजा से मिली है, इसके बदले सामन्त को जमीन की उपज का कुछ भाग दे देता था। सामन्त लोगों का किसानों पर पूरा अधिकार रहता था और उपज का विशेष भाग वे ले जाते थे। किसान लोग सर्फ कहलाते थे और वह भूमि जहां वे बसे हुए होते थे और जिसे वे जोतते थे फीफ (Fief) कहलाती थी। सामन्त की ओर से यदि कोई भी चीज जैसे पवन-चक्की इत्यादि, किसी व्यक्ति को चलाने के लिये मिली होती थी, वह भी फीफ कहलाती थी और उसके बदले में सामन्त को लाभ का पर्याप्त भाग मिलता था। जैसा ऊपर कह आये हैं यह

फीफ सामन्त अथवा राजा की देन समझी जाती थी। जब तक किसान भूमि की उपज का हिस्सा सामन्त को देता रहता एवं उस सामन्त के लिए मजदूरी का या अन्य कोई काम जो सामन्त कहता करता रहता, तब तक वह जमीन उसके पास रहती थी अन्यथा छीनी जा सकती थी। सर्फ का यह धर्म था कि सामन्त की सेवा करे और सामन्त का यह धर्म था कि वह सर्फ की रक्षा करे। इसी तरह आगे बढ़कर सामन्तों का राजा के प्रति यह धर्म था कि उनकी सेवायें राजा के लिये उपस्थित रहें क्योंकि राजा ने ही उनको सामन्त या जमींदार बनाया था। सामन्तों को राजा के प्रति पूर्ण स्वामी-भक्ति, युद्ध काल में वीरता और त्याग की भावना का विचार रखना पड़ता था। इस संगठन की भावना तो कम से कम यही थी, यद्यपि व्यवहार में इसके विपरीत भी उदाहरण मिलते हैं। ऐसे सम्बन्ध की परम्परा इन नोर्डिक आर्य लोगों में प्राचीन काल से ही चली आती थी। उत्पादन के साधन भी वही थे—भूमि, हल, बैल, वर्षा, कुएं, नदी—जो सैकड़ों वर्षों से चले आ रहे थे। रहने के लिये मिट्टी, घास-फूस के कच्चे मकान और जहां पत्थर सरलता से उपलब्ध होता वहां पत्थर के मकान, सामन्त के किले के चारों ओर बन जाते थे और इस तरह गांवों का विकास और उनकी वृद्धि होती चलती थी।

ऊपर जिस संगठन का वर्णन किया गया है वही सामन्तवाद कहलाता है। प्रायः ऐसा संगठन मध्य युग में यूरोप में सर्वत्र विकसित हुआ था—स्थानीय विभिन्नतायें तो होती ही थीं। यह संगठन, इसके नियम, इसकी विधियां लिखकर निश्चित नहीं की गई थीं, किन्तु उस काल की परिस्थितियों में भिन्न भिन्न प्रदेशों में अपनी स्थानीय विशेषताओं के साथ ऐसा संगठन अपने आप विकसित हो गया था और उसकी अपनी ही कुछ परम्परायें बन गई थीं। उन दिनों जमीन जोतना और खेती करना ये ही मुख्य काम थे। अतएव भूमि के आधार पर ही उपरोक्त प्रकार से आर्थिक जीवन का संगठन हुआ।

यूरोप के सामंतवाद की भारत और चीन के सामंतवाद से तुलना

उस काल में सामंतवादी संगठन भारत में भी प्रचलित था किन्तु यूरोपीय और भारतीय सामंतवाद में एक बुनियादी फर्क था। भारत में खेती करने योग्य विशाल भूमि पड़ी थी। अतएव जो लोग जिस ओर जितनी भूमि पर खेती करने लग गये थे वह भूमि उन्हीं किसानों की मानी जाने लगी थी। परम्परा या सिद्धान्त से राजा भूमि का स्वामी नहीं समझा जाता था। किन्तु राजा का एक अधिकार सर्वथा मान्य था, वह यह कि जो कोई भी खेती करे उसकी उपज के कुछ अंश पर राजा का अधिकार होता था और किसान को उपज का कुछ भाग या उस भाग जितना रुपयों में मूल्य राजा के पास जमा करा देना पड़ता था। राजा का भाग पैदावार का प्रायः दसवें हिस्से से छठे हिस्से तक होता था। राज्य की मुख्यतया एकमात्र आय भूमि का लगान होती थी। छोटे छोटे भू-भाग सामन्तों के आधीन होते थे और ये सामन्त अन्त में एक राजा के आधीन होते थे। सामन्त लोगों का सम्बन्ध राजा के प्रति स्वामी-भक्ति का होता था और वे राजा को वार्षिक भेंट दिया करते थे एवं युद्ध काल में अपनी सेना से राजा की सहायता करते थे। इन सब बातों में

लिखित नियमों का इतना बन्धन नहीं था जितना रूढ़ि और परम्परागत भावनाओं का। तो हमने देखा कि उस युग में यूरोप में राजा भूमि का सम्पूर्ण सार्वभौम स्वामी माना जाता था और भारत में भूमि पर सम्पूर्ण स्वामित्व किसी का नहीं था—जब तक किसान उचित लगान राजा को देता रहता था तब तक वह उस भूमि का स्वामी था और उसको वहां से कोई नहीं हटा सकता था।

चीन में सब भूमि किसानों में विभक्त थी और अपनी अपनी भूमि पर किसान पूर्ण सत्ताधारी थे। उस पर किसी भी सरदार, शासक या राजा का दखल नहीं था, वैसे धार्मिक भावना में राजा सर्वस्व भूमि का स्वामी समझा जाता था। हरएक प्रदेश या गांव में कुछ भूमि राज्य की अपनी स्वतंत्र भूमि समझी जाती थी और उस भूमि की तमाम उपज राजाओं के पास जाती थी। उस नियुक्त भूमि पर उस गांव या प्रदेश के लोगों को ही खेती करनी पड़ती थी और उसकी तमाम उपज राजा को या शासक को संभलवा देनी पड़ती थी।

यह तो मध्य युग में, यूरोप में समाज के आर्थिक सगठन की रूप-रेखा हुई—जिसकी तुलना उस जमाने के और देशों के आर्थिक संगठन से भी की गई है।

सामंतवाद का सांस्कृतिक पहलू

सामन्तवाद का इस आर्थिक पहलू के अतिरिक्त एक और पहलू भी था जिसे हम सांस्कृतिक पहलू कह सकते हैं। समाज में दो वर्ग तो हो ही गये थे—एक सामन्त और दूसरा सर्फ वर्ग। यह भी सत्य है कि सर्फ वर्ग एक शोषित वर्ग था, किन्तु उस युग में सर्फ वर्ग के लोगों को इस विचार और भावना ने अभी तक परेशान नहीं किया था कि सामन्त लोग उन्हें चूस रहे हैं, उन्हें उत्पीड़ित कर रहे हैं, अतएव सर्फ लोगों में यह ख्याल भी नहीं था कि सामन्त वर्ग का विरोध करना चाहिए और उसे खत्म करना चाहिए बल्कि दोनों वर्ग के लोगों में परस्पर अविरोध का ये ही भाव था और धीरे धीरे वे ही विश्वास करने लगे थे कि जिस प्रकार का भी संगठन है उसमें परिवर्तन का कोई प्रश्न नहीं है। लोग धर्म और ईश्वर में एक सरल विश्वास के सहारे रहते थे।

स्वयं सामन्त वर्ग में कुछ विशेष संस्कारों का विकास हो रहा था। सामन्त लोगों के बड़े बड़े अच्छे २ किले होते थे और उन्हीं किलों में वे अच्छे महल और मकान बनवाने लग गये थे। उनके खाने पीने, वस्त्र परिधान, रहन सहन, उनके घराने की स्त्रियों को किस तरह से बाहर निकलना चाहिये, किस ठाठ से गिरजा में प्रार्थना करने के लिये जाना चाहिये इत्यादि बातों के कुछ निश्चित नियम से धीरे धीरे अपने आप ही विकसित हो गये थे। सामन्त लोग सैनिक रखते थे, नौकर चाकर रखते थे, रक्षादल रखते थे इत्यादि। सामन्त का प्रमुख सैनिक या रक्षक नाइट (Knight) कहलाता था। नाइटों में अपने स्वामी के प्रति संस्कारगत शुद्ध स्वामी-भक्ति और

आत्म-त्याग की भावना होती थी। इन नाइट लोगों के बड़े बड़े खेल (Tournaments) होते थे जिनमें साहसी कार्यों का प्रदर्शन होता था और सचमुच ऐसा होता था कि नाइट लोग किसी सुन्दर स्त्री की प्रशंसा भावना से प्रेरित और अनुप्राणित हो जीवन में कुछ अनोखा वीरतापूर्ण और रोमाञ्चकारी काम कर जाते थे।

मध्य युग के इस प्रेम, साहस और सम्मान व स्त्री के प्रति आदर और उसके लिए त्याग की भावना, इन सब गुणों को एक शब्द शिवेलरी (Chivalry) से निर्देशित किया गया है। सामन्त वर्ग में शिवेलरी की भावना, मध्य-युग की एक विशेषता थी। उस युग के साहित्य में हमें इस भावना के सुन्दर दर्शन होते हैं। यह भाव कि वह आनन्द नहीं जो सम्मान से नहीं आता और वह सम्मान नहीं जो प्रेम का प्रतिफल न हो, उस युग के काव्य में एक अन्तर्धारा की तरह प्रवाहित रहता है। उस युग के साहित्य में जो दूसरी मुख्य धारा प्रवाहित है, वह है ईसाई धर्म की भावना। जैसा हमने प्रारम्भ में कहा था, सामन्ती संस्कृति और धार्मिक भावना ही इस युग के जीवन के आधार हैं। समस्त यूरोप में लोगों के मनोरंजन के लिये और साथ ही साथ इस उद्देश्य से कि मनोरंजन के द्वारा उनको धार्मिक शिक्षा मिले, अनेक नाटक खेले जाया करते थे। ये वास्तव में नाटक नहीं थे किन्तु इन्हें साहित्यिक नाटकों का प्रारम्भिक रूप कह सकते हैं। इन सब का विषय होता था ईसाई धर्म, स्वर्ग, नर्क, ईसाई सन्तों की जीवनियां इत्यादि। इसके अतिरिक्त स्वयं अपने प्रतिभापूर्ण व्यक्तित्व की छाप लिये हुए यूरोप में दो महान् कवि प्रगट हुए जिनके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पहला, इटली का (जहां का साहित्य उस युग में सर्वाधिक समुन्नत था) महाकवि दांते (१२६५-१३२१ई.) जो अपने जीवन के प्रारम्भ काल में बिट्रिस नामक सुन्दर लड़की के प्रेम में मग्न हुआ था और फिर उसी से आविर्भूत होकर जिसने हमारे लिए वह सुन्दर काव्य "दीवाइनी कोमेदिया" प्रस्तुत किया जिसमें गाई है उसने अपनी कहानी, कि किस प्रकार वह जो अपने जीवन में बिट्रिस नहीं पा सका था 'स्वर्गलोक' (भावलोक) में उस सौंदर्यमयी देवी के दर्शन कर सका, प्रेम की उस शक्ति से जिस पर आधारित है सूर्य और नक्षत्र लोकों की गति भी। छापेखानों के प्रचलन के पहिले इस काव्य की ६०० हस्तलिखित प्रतियां तैयार हो चुकी थीं और भिन्न भिन्न यूरोपीय देशों में प्रसारित हो चुकी थीं। दूसरा इंगलैंड का महाकवि चॉसर (१३४०-१४११ ई०) जिसने स्वतन्त्र या स्यात उस युग के प्रसिद्ध इटालियन लेखक बोकेकचो की संसार प्रसिद्ध गद्य कहानी की पुस्तक 'डेकामेरोन' से प्रभावित होकर अपने प्रसिद्ध काव्य "कण्टरबरी टेल्स" की रचना की, जो काव्य उस समय के भिन्न भिन्न पेशेवाले साधारण जन, नाइट, चक्कीवाला, पादरी, हलकारा देने वाला, बाथ की स्त्री के जीवन की मधुर झांकी हमको देता है और जिससे हमको आभास मिलता है कि कितने भिन्न भिन्न रंगों में रंगी हुई है मानव जीवन की यह कहानी।

मध्य युग में ईसाई धर्म और जीवन पर उसका प्रभाव

ईसाई धर्म का प्रसार

उत्तर प्रदेशों से जो नोर्डिक लोग आये थे वे सब मूर्तिपूजक और

बहुदेववादी थे। उनका धर्म एक बहुत ही प्रारम्भिक किस्म का धर्म था। इजराइल से निकल कर ईसाई धर्म प्रचारक सर्वत्र फैल गये। रोमन सम्राट एवं साम्राज्य के लोग तो चौथी शताब्दी में ही ईसाई धर्म ग्रहण कर चुके थे—यह धर्म वहां के समस्त समाज में पैठ गया था और इस धर्म के चारों ओर परम्परायें भी बन गई थीं। साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर पूर्व और उत्तर पश्चिम से जो अर्ध सभ्य लोग आये, उनमें अब इस धर्म का प्रचार होने लगा, कहीं-कहीं तो जबरदस्ती उनको ईसाई बनाया जाने लगा।

रोम के प्रथम पोप ग्रिगोरी ने संत आगसटाइन को इंग्लैंड भेजा—वहां के असभ्य लोगों को सभ्य ईसाई बनाने के लिए। लगभग छठी शताब्दी के अन्तिम वर्षों की यह बात है। धीरे-धीरे वहां के सभी एँग्लो सेक्सन लोग ईसाई बन गये और कैंटरबरी में उनका सबसे बड़ा गिरजा बना। पादरी भिक्षुओं के रहने के लिए कई धर्म मठ भी बने। चारों ओर तो अशिक्षा और अज्ञान का साम्राज्य था किन्तु इन मठों में शिक्षा और अध्ययन के संस्कार जमने लगे थे। मठों में बड़े-बड़े विद्वान् अध्ययनशील और अध्यवसायी भिक्षु पैदा होने लगे थे। इंगलैंड में एक प्रसिद्ध भिक्षु विद्वान हुआ वेनरेबल बीड (६७३-७३५ ई.)। उसने एक महान् पुस्तक लिखी—इंगलैंड में ईसाई पादरियों का इतिहास। इस पुस्तक में उसने तमाम सन् और तारीख ईसा के जन्म दिन के समय की गणना करके लगाई थी। इस पुस्तक का यूरोप में खूब प्रचार हुआ था और तभी से इंगलैंड और समस्त यूरोप में ई. सन् की प्रणाली चली जो आज भी प्रचलित है।

सातवीं और आठवीं शताब्दियों में ट्यूटोनिक और स्लव लोगों को ईसाई बनाने का काम खूब जोरों से चला। शार्लमन महान् जो पवित्र रोमन साम्राज्य का संस्थापक था एक के बाद दूसरे देशों पर विजय प्राप्त करता गया और सब लोगों को अपनी तलवार के बल से ईसाई बनाता गया—यहां तक कि धीरे-धीरे बहुत ही साहसी और लड़ाकू डेनिस और वाईकिंग लोग भी ईसाई बन गये।

छठी शताब्दी से मगयर जाति के मंगोल लोग मध्य एशिया से आकर धीरे-धीरे उस प्रान्त में बसने लगे थे जो आज हंगरी कहलाता है। ये लोग भी एक हजार ई. तक सब ईसाई बन गये थे। इसी तरह वे तुर्क लोग जो धीरे-धीरे बलगेरिया में बस रहे थे, किन्तु जो नोर्डिक स्लव लोगों के साथ घुल मिल गये थे और जिनके राजा बोरिश (८५१-८८४ ई.) के दरबार में अरब साम्राज्य के कई मुसलमान राजदूत आये थे, जो स्वयं एक बार मुसलमान बनने की सोच रहा था, वह भी ईसाई मत के प्रभाव में आया और उसने अपने आपको और अपने राज्य के सब लोगों को ईसाई धर्म के सामने समर्पित कर दिया।

हिन्दू और बौद्ध धर्मों का मुख्य क्षेत्र पूर्व में ही था यथा भारत, पूर्वीय द्वीप समूह और चीन। वे लोग यूरोपीय देशों के निकट सम्पर्क में नहीं आये थे। इस्लाम धर्म जिसकी स्थापना सातवीं शताब्दी में हुई थी वह अरब विजेताओं के साथ आठवीं शताब्दी में स्पेन तक पहुंच चुका था और सम्भव

थी कि स्पेन के आगे बढ़ता हुआ वह समस्त यूरोप में भी फैल जाता। किन्तु याद होगा कि सन् ७३२ ई. में, यूरोप में नव स्थापित फ्रेन्किस राज्य के शासक चार्ल्स मार्टेल ने उनको टूर्स के मैदान में हराया था और तभी से उनका आगे बढ़ना सर्वथा रुक गया था। इसलिए बहुत सम्भावनायें होते हुए भी यूरोप में इस्लाम के पैर नहीं जम पाये। इस प्रकार हमने देखा कि मध्य युग की प्रारम्भिक शताब्दियों में यूरोप में प्रायः सभी लोग आदिम पैगन धर्म को भूलकर ईसाई बन गये थे। उनमें ईसाई धर्म के संस्कार, ईसाई धर्म की भावनायें धीरे धीरे स्थापित हो गई थीं। ईसाई धर्म का संस्कार उनके जीवन और भावनाओं में इतना जम गया था कि १२वीं शताब्दी के आरम्भ में जब इंगलैंड में यरुशलम की पवित्र गिरजा जो उस समय मुसलमानों के हाथ में थी जीतने का प्रश्न चला, उस समय मुसलमानों से धर्म युद्ध करने के लिए समस्त यूरोप के ईसाइयों में एक स्फूर्ति सी पैदा हो गई और सब एक विशाल संगठन बनाकर धर्म युद्धों में जुट पड़े। यूरोप के इतिहास में यह पहिला अवसर था जब साधारण जन एक भावना और एक विचार से प्रेरित होकर, एक सूत्रीय संगठन में बन्धे हों और कोई आयोजित कार्य करने में जुटे हों। यूरोप में ही नहीं किन्तु स्यात् समस्त मानव इतिहास में यह पहिला अवसर था जब साधारण जन ने स्वयं अपना एक संगठन बनाकर कुछ कार्य किया।

रोम के पोप का महत्व

यूरोप के मध्य युग के इतिहास में पोप का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। यहां तक कहा जा सकता है कि साधारण जन के सरल विश्वास के आधार पर उनकी शक्ति यहां तक बढ़ गई थी कि मानो वह सब लोगों की आत्माओं का अधिनायक हो। पोप की शक्ति का दूसरा आधार था सब गिर्जाओं का एक अपूर्व अन्तर-प्रान्तीय और जहां तक यूरोप का सम्बन्ध है एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन। समस्त पश्चिमी और मध्य यूरोप गिर्जाओं के संगठन के लिए, प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्त में सबसे बड़ा धार्मिक पादरी आर्चबिशप होता था—प्रान्त जिलों में विभाजित थे, जिले [Dioccs] का सबसे बड़ा पादरी बिशप होता था। जिले गांवों [Parishes] में विभक्त थे, जहां साधारण पादरी गांव के गिर्जा में लोगों के धार्मिक जीवन का संचालन करता था। गांवों में प्रायः गिर्जा ही एक पक्की इमारत होती थी और गांव का पादरी थोड़ा बहुत शिक्षित व्यक्ति—अन्यथा मीलों तक पक्के मकान और शिक्षित व्यक्ति का मिलना कठिन था। पहिले तो यरुशलम, रोम, कोन्स्टेन्टिनोपल इत्यादि प्रमुख गिर्जाओं के बिशप पद में प्रायः बराबर माने जाते थे; फिर यरुशलम और कोन्सटेनटिनोपल के बिशप अपने को सबसे बड़ा मानते थे किन्तु धीरे-धीरे लोगों में यह विश्वास फैल गया था कि ईसाई धर्म का प्रथम सन्त पीटर ही रोम का सर्वप्रथम बिशप था और उसकी अस्थियां, जिनके अवशेष रोम में थे, चमत्कारिक काम कर सकती थीं—जैसे अन्धों को सुआंखा कर देना, कोढ़ियों को स्वस्थ कर देना इत्यादि; और यह चाबी [illegible] दरवाजा रोम के बिशप के हाथ में था। ऐसी परिस्थितियों

में सन् ५६० ई. में उच्च वर्ग का एक धनिक व्यक्ति जिसका नाम ग्रिगोरी था, रोम का पादरी निर्वाचित हुआ, उसे समस्त गिर्जाओं का अधिपति घोषित किया गया और वह पोप कहलाया। ईसाई धर्म में यह पहिला पोप था— जिसकी परम्परा आज भी रोम में चली आ रही है और जो अपने निवास स्थान वेटिकन पेलेस से रोमन कैथोलिक ईसाइयों का धार्मिक नेतृत्व करता रहता है। ग्रिगोरी जब पोप बना तब उसके पास अपनी स्वयं की काफी लम्बी-चोड़ी भूमि थी और इटली में उसका काफी प्रभाव था। धीरे-धीरे एक के बाद दूसरे पोप आने लगे और पोप लोगों के धन, जायदाद और प्रभाव क्षेत्र में विस्तार होने लगा,—पूर्वीय रोमन साम्राज्य को छोड़कर समस्त पश्चिमी और मध्य यूरोप के लोगों पर, गिर्जाओं और पादरियों पर तो पोप का धार्मिक प्रभाव था ही किन्तु धीरे धीरे राजनैतिक शक्ति भी पोप में केन्द्रित होने लगी और उसका राजनैतिक प्रभाव भी बढ़ने लगा।

ईसामसीह के इन वाक्यों से कि समस्त संसार में ईश्वरीय राज्य हो, अनेक पादरी और सर्वोपरि पोप यह विचार मन में लाने लगे थे कि सारे संसार में ईसाई धर्म का प्रचार हो और लोग एक राज्य के सूत्र में बंध जायें। विशाल रोमन साम्राज्य, जिसकी स्मृति अभी बनी हुई थी, की कल्पना करके ये लोग भी एक धर्म साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। ऐसा अवसर आया भी। यह याद होगा कि सन् ८०० ई० में पोप लियो तृतीय ने शार्लमन महान् को गिर्जा में राज-मुकुट से आभूषित किया था और यह घोषित किया था कि वह पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रथम सम्राट है (रोम नाम की महा-मता चली आ रही थी; इसलिए इस साम्राज्य का नाम रोमन रखा गया)। पवित्र रोमन साम्राज्य स्थापित हुआ। पोप ग्रिगोरी सप्तम (१०७३–१०८५ ई.) के समय से प्रारम्भ होकर, जिसने गिर्जा, पादरियों इत्यादि के संगठन में अनुपम व्यवस्था और अनुशासन स्थापित किया, लगभग डेढ़ शताब्दी तक पोप और गिर्जा की शक्ति में खूब वृद्धि हुई। पोप लोग अपना यह अधिकार मानते थे और बहुत अंशों तक शासकों को यह अधिकार मान्य भी था कि वे अर्थात् पोप ही राजाओं को राज्य करने का अधिकार देते हैं और वे ही उनको शासनारूढ़ करते है। जो राजा या शासक पोप और धर्म की अनुमति के अनुकूल नहीं चलता था उसका वे समस्त समाज द्वारा बहिष्कार करवा सकते थे। पोप की सत्ता सर्वमान्य थी।

ईश्वरीय राज्य की सम्भावना जो प्राप्त न की जा सकी

इतनी अटूट श्रद्धा लोगों की पोप और गिर्जा थी, इतना स्वाभाविक उनका विश्वास था, इतनी जबरदस्त सत्ता पोप और गिर्जा में निहित थी। जन-जन अपने कल्याण के लिये उनकी ओर ताकता था। ईसाई धर्म, पोप और गिर्जा को एक स्वर्ण अवसर मिला था कि वे सचमुच एक ईश्वरीय साम्राज्य इस दुनियां में स्थापित कर लेते, एक ऐसा साम्राज्य जिसके सब सदस्य बिना किसी भेद भाव के एक भ्रातृत्व भावना से अनुप्राणित हों और सद्भावनापूर्ण वातावरण में लोगों का सहज मानवीय और नैतिक विकास होता चले। किन्तु धर्म, गिर्जा और पोप ने इस मौके को खो दिया; सामान्य

पन तो तैयार था उठने को किन्तु 'धर्म' (गिर्जा और पोप) ने ही उसको गिरा दिया। इस चिन्ता के बजाय कि जन-जन की आस्तिक भावना और श्रद्धा के सहारे उनको आध्यात्मिक उत्थान की ओर अग्रसर करे और उनका कल्याण चाहे पोप यह चिन्ता करने लगा कि किसी तरह उसकी सत्ता और भी बढ़े; किसी तरह वह, न कि राजकीय सम्राट साम्राज्य का संचालन करे। ठीक है कभी-कभी प्रतिभावान पोप या पादरी सत्तारूढ़ होते थे और वे ईश्वरीय राज्य का आदर्श अपने सामने रखते थे, ऐसी भावना समस्त ईसाई दुनियां में प्रसारित करने का प्रयत्न भी करते थे किन्तु ऐसा बहुत कम होता था। वस्तुतः तो पोप प्रजाजनों के मन और हृदय में अपना स्थान बनाने की बजाय उनको भयातुर करके उन पर अपना आधिपत्य जमाने की कोशिश करने लग गये थे। जो कोई भी जन पोप और पादरियों के विचार और इच्छा के जरा भी प्रतिकूल होता उसको वे जला कर भस्म करवा देते थे। उन्होंने अपनी स्थिति राजकीय शासनकर्ताओं जैसी बना ली थी। जगह-जगह पर बड़े पादरियों के आधीन न्यायालय और जेलखाने थे, जिन सब के ऊपर रोम में पोप का प्रधान न्यायालय था। पोप ने सब जगह एक प्रकार का कर लगा रखा था जिसे टाइथ कहते थे, जिसका आशय था कि भूमि की उपज का दसवां हिस्सा गिर्जा में जमा करवाया जाना चाहिए। पोप ने यह भी अधिकार प्राप्त कर लिया था कि वह चाहे जिसको विशेष नियमों या अनुशासन के पालन से मुक्त करदे जिसका यह अर्थ था कि वे पादरी जो पोप के मित्र और सम्बन्धी होते थे विवाह करने एवं भूमि और धन संग्रह करने की आज्ञा पा लेते थे जो उचित नहीं था। पोप ने लोगों पर यह विश्वास जमाया कि चूंकि वह इस पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है इसलिए उसमें यह क्षमता है कि वह किसी भी पापी या कुकर्मी को क्षमापत्र देकर नर्क की यातनायें भोगने से बचा सकता है। लोगों से प्रचुर धनराशि लेकर पोप ने ऐसे क्षमापत्र बेचना प्रारम्भ कर दिया था। उसने अपनी अहम्मन्यता यहां तक बढ़ा ली थी कि वह किसी को भी ईसाई-मत-विरोधी एवं नास्तिक घोषित करके सूली पर चढ़वा सकता था। इस अधिकार के फलस्वरूप यूरोप में तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दियों में बहुत ही मर्मान्तक और क्रूर घटनायें घटित हुईं। जहां कहीं भी देखो यूरोप में सैकड़ों नहीं सैकड़ों आदमियों को जलाया जा रहा है और नृशंसता से मारा जा रहा है और उनका अपराध केवल यही कि वे पोप की सत्ता के विरुद्ध कुछ बोलते होंगे, पोप की सत्ता का आदर नहीं करते होंगे।

प्रतिक्रिया हुई। धीरे-धीरे लोग यह महसूस करने लग गये कि गिर्जा और पोप तो धर्म, वादविवाद और राजनैतिक सत्ता के द्वन्द्व के क्षेत्र बनते जा रहे हैं। पोप तथा गिर्जाओं के प्रति राजाओं तथा साधारणजन के हृदय पर धर्माधिकारियों ने जो एक सरल और विश्वासमूलक आधिपत्य जमा हुआ था वह हिलने लगा। उसका प्रथम संकेत मिला पवित्र रोमन साम्राज्य के फ्रेडरिक द्वितीय के शासन काल में, जब उसने पोप को एक खुला पत्र लिखा कि यह स्पष्ट समझा कि वह धर्म और राज्य दोनों का अधिपति बना रहे अनुचित है, और यह कि संसारी (लौकिक) राज्य के क्षेत्र में पोप का अधिकार न होकर राजा का ही अधिकार होगा। सम्राट फ्रेडरिक ने यूरोप के अन्य राजाओं

को यह भी आभास करवाया कि राज्य के क्षेत्र में पोप का कोई भी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। पोप के प्रति धीरे-धीरे अवज्ञा और रोष की भावना यहां तक फैली कि सन् १३०२ ई. में फ्रांस के राजा ने अपने सामन्तों और साधारणजनों की अनुमति से स्वयं पोप को उसके महल में जाकर गिरफ्तार कर लिया था। इस प्रकार मध्य युग में ही जो एक धर्म प्रधान युग था पोप की पोपडम के विरुद्ध आवाज उठाने लग गई थी। मध्य युग के बाद पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार के युग में और तदनन्तर अनेक राजनैतिक विचारधाराओं के उद्भव होने से धीरे-धीरे स्वभावतः ही यह बात मानी जाने लगी थी और स्पष्ट हो गई थी कि गिर्जा, पोप और धर्म (बाह्य धर्म) का राज्य और राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु इस स्पष्ट बात को भी मान्यता मिलने में यूरोप में कई शताब्दियां लग गई थीं।

मध्य युग की सन्त परम्परा

ऊपर गिर्जाओं के संगठन, पोप लोगों के अधिकार और सत्ता लोलुपता इत्यादि की जो बातें लिखी गई हैं उनसे यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिये कि ये ही बातें उस युग की भावनाओं की परिचायक हैं। इन सब ऊपरी बातों के परे, राजाओं और पोप लोगों की महत्वाकांक्षाओं के परे अनेक साधारण जन और गांव के पादरी ऐसे थे जिनकी आत्मा और हृदय को सचमुच ईसा की आत्मा और भावना प्रेरित करती थी। उनका जीवन सरल और प्रेममय था। इसके अतिरिक्त कई सच्चे सन्त लोगों का उस युग में आविर्भाव हुआ था। इन सन्त लोगों ने धन वैभव के परे सरल धार्मिक सेवामय जीवन व्यतीत करने के लिए कई विहारों की स्थापना की थी। ऐसा एक सन्त था बेनेदिक्त (४८०-५४४ ई.) जिसने रोम से लगभग पचास मील दूर एक निर्जन स्थान में कई वर्षों तक समाज और संसार से दूर एक सरल और तपस्यामय जीवन व्यतीत किया था। तदनन्तर इसने मानव समाज में आकर अनेक विहारों की स्थापना की। इन विहारों में ब्रह्मचारी (ईसाई भिक्षुक) त्याग, नियम पालन और ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके अपना शेष जीवन आत्मा-कल्याणार्थ ईश्वर की आराधना में बिताते थे।

एक दूसरे सन्त हुए जिनका नाम केसियोडोरस (४६०-५८५ ई०) था। इसने अपने विहारों में अनेक अनुयायियों को यही मुख्य आदेश दिया कि वे प्राचीन साहित्य का संग्रह करें, उसकी रक्षा करें एवं सत्य धार्मिक साहित्य की हस्तलिखित प्रतियां बनायें जिससे कि लोगों में धर्म और ज्ञान का प्रसार हो। इन्हीं लोगों के प्रयास से कई विद्यालयों की स्थापना हुई; जो धीरे-धीरे विकसित होकर मध्ययुग के विश्वविद्यालय बन गये थे। एक और सन्त हुए, असीसी के सन्त फ्रांसिस (११८१-१२२६ ई.)। इस सन्त के अनुयायी भिक्षुओं ने जो फ्रायर कहलाते थे, पीड़ित बीमार जनों की, मुख्यतया कोढ़ियों की प्रेममय सेवा में अपना जीवन व्यतीत करने की अपूर्व सराहनीय प्रथा चलाई थी। इन फ्रायर लोगों का जीवन वास्तव में त्यागमय, सेवामय तथा दिव्य होता था। यदि पोप की नगरी में और गिर्जाओं के संगठन में धर्म के बाह्य रूप की चकाचौंध, ठाठ और ऐश्वर्य के दर्शन होते थे तो इन भिक्षुकों

१२वीं शताब्दियों में हुई थी—११५८ ई. में इटली के बोलोगना विश्व-विद्यालय की; १२५३ ई. में सोरबोन (पैरिस) विश्वविद्यालय की एवं १२वीं ही शताब्दी में इंगलैंड के प्राचीनतम विश्वविद्यालय ऑक्सफोर्ड की; १२९० ई. में केम्ब्रिज की। १५०० ई. तक यूरोप में ७९ विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे।

मध्य-युगीय यूरोप में विज्ञान की हलचल प्रारम्भ होने का श्रेय दिया जाता है अरबी विद्वानों को सिसलीक के शासक फ्रेडरिक द्वितीय, स्पेन के शासक ऐलफान्वा—(१२२१–१२८४ ई.) की संरक्षता में अनेक अरबी ग्रन्थों के लेटिन तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद किये गये। कई विद्वान अरबी विज्ञान के सम्पर्क में रहकर विज्ञान के अध्ययन में और उसकी खोज में लगे हुये थे। इसी के फलस्वरूप इंगलैंड के प्रसिद्ध ईसाई भिक्षु रॉजर बेकन (१२१४—१२९४ ई.) और इटली के प्रसिद्ध कलाकार लिओनार्दो दाविन्ची (१४५२–१५१९ ई.) लेखक या कलाकार होते हुए भी वैज्ञानिक खोजों में संलग्न हुए।

यूरोप में मध्य युग के निम्न आविष्कार हुए : १. घोड़े के लोहे की नाल लगाने का आविष्कार (इसके पहले रोमन लोग चमड़े की नाल लगाते थे इसलिये न तो वे अधिक बोझा ढो सकते थे और न पक्की सड़कों पर अधिक काम में लाये जा सकते थे—भारी बोझा मानव द्वारा ढोया जाता था)। २. पतवार का आविष्कार (इसके पहिले रोमन जहाज़ डांडों के सहारे खेये जाते थे)। ३. १५८८ ई. में इंगलैंड में जहाजों के चलाने में मानव शक्ति की जगह वायु-शक्ति का प्रयोग हुआ। यह प्रयोग सबसे पहिले स्पेन के जहाजी बेड़ों में हुआ। इसके पूर्व प्रायः मानव मजदूर डांडों से जहाज चलाते थे। ४. यांत्रिक घड़ी का आविष्कार अन्धकार युग में निश्चित रूप से एक ईसाई मठ में हुआ। ५. यूरोप के इतिहास में रोमन साम्राज्य के अन्तिम वर्षों में मोसेली नदी के किनारे बनायी गयी पहली पनचक्की का नाम आता है। हवा चक्की भी अन्धकार युग के आविष्कारों में से है। १२वीं सदी आते-आते हम यूरोप के विभिन्न स्थानों में हवा चक्की का इस्तेमाल देखते हैं। रोमन काल में चक्कियां गुलामों या गदहों द्वारा चलाई जाती थीं।

सन् १२८५ ई. में आंखों के चश्मे का आविष्कार अलबसेंदर-द-स्पीना ने किया। सन् १३७० ई. के लगभग कागज, बारूद, चुम्बक और मुद्रण की कलायें चीन से यूरोप में मंगोल लोगों द्वारा लाई गईं। १५वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कई मुद्रणालय यूरोप में खुल गये। इंगलेंड में सर्वप्रथम छापाखाना सन् १४५५ ई. में खुला। पुनर्जागृति काल में विज्ञान की नींव नए सिरे से पड़ी और तभी से चमत्कारिक आविष्कार होने लगे।

मध्य युग में व्यापार और यातायात

व्यापार की स्थिति और व्यापारिक मार्गों की सुविधायें सभी प्रदेशों में एक सी नहीं थीं। साधारण तौर पर इतना कहा जा सकता है कि मध्य युग में यातायात बहुत कठिन और धीमा था। यह तो स्पष्ट है कि बिना पशु या आदमी की शक्ति के किसी भी प्रकार की भौतिक शक्ति

बढ़ गया था कि शासकों को भी धन के लिए इन व्यापारियों से प्रार्थना करनी पड़ती थी। पश्चिमी यूरोप में विशेषकर इङ्गलैंड और फ्रांस में ११ वीं से १५ वीं शताब्दी तक, "गोथिक भवन निर्माण रीति के," विशालता, ऊंची-ऊंची मीनारें एवं कई कई मेहराब जिसकी विशेषतायें होती थीं, अनेक सुन्दर और भव्य गिर्जा बने। इटली और स्पेन में भी इसी प्रकार के अनेक भवन बने। इनमें पहिले तो गिर्जाओं का रुपया लगता था—तदनन्तर राजा और व्यापारिक लोग भी इनमें खर्चा करने लगे थे। अद्भुत यह एक भावना थी जिससे प्रेरित होकर विशाल धन राशि, ऐसे धार्मिक भवन बनाने में सहर्ष व्यय कर दी जाती थी। १४ वीं १५वीं शताब्दियों में गोथिक रीति के अनुसार ही यूरोप के प्रायः सभी नगरों में नगर-पालिका-भवन बने। इन भवनों को सुन्दर बनाने में प्रत्येक नगर गौरव की अनुभूति करता था। उस जमाने के ये भवन अब भी नगर-पालिकाओं के दफ्तर का काम देते हैं।

व्यापारिक मार्ग एवं आवागमन के साधन इत्यादि का जो वर्णन ऊपर किया गया है वैसी ही स्थिति प्रायः दुनियां के अन्य देशों में थी; जैसे भारत और चीन में भी। किन्तु उस युग में भारत और चीन के नगर यूरोप के नगरों की अपेक्षा बहुत अधिक धनी समृद्धिशाली और सुन्दर थे। इन देशों की सभ्यता, विद्या, साहित्य, कला-कौशल भी यूरोप की अपेक्षा बहुत अधिक समुन्नत और विकसित थी।

उपसंहार

मानव इतिहास की गति का अनुशीलन करते करते हम उस काल तक आ पहुंचे है जो हम लोगों से केवल चार सौ–पांच सौ वर्ष ही पुराना है। मध्य युग का समाज एक स्थिर सा समाज था जिसमें आन्दोलन और गति इतनी धीमी थी कि सहज ही दृष्टिगोचर नहीं होती थी,–वह समाज एक रूढ़िगत समाज था जहां सामन्तिक परम्पराओं और भावनाओं का साम्राज्य था; धर्म के प्रति भी एक रूढ़िगत विश्वास था जिसमें बुद्धि का प्रकाश नहीं के बराबर था। किन्तु फिर भी कहीं कहीं खूब गति शील व्यक्ति आविर्भूत हो जाते थे, फिर भी कहीं कहीं समाज के रूढ़िगत संस्कारों से मुक्त हो मानव स्वतन्त्र राह पर चलने के लिए निकल जाता था; फिर भी कहीं कहीं मानव धर्म के अन्ध विश्वासी रूप को पार करके धर्म की आत्मा तक पहुंच जाता था।

मध्य युग की ऐतिहासिक गति में कहीं समरसलय दिखलाई देती है तो वह उस युग की संत परम्परा में, सन्तों की गहन धार्मिक अनुभूति में और जन मानस पर उनके सात्विक प्रभाव में।

मध्य युग के मानव और समाज में से हमारा और हमारे समाज का विकास हुआ। उस युग का कोई भी व्यक्ति आज हमारी विज्ञान की दुनियां में सहीप्रर्यानक आकर उपस्थित हो जाय तो उसे प्रत्येक क्षेत्र में यथा धार्मिक,

सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, व्यापारिक, सब में, सचमुच चौंका देने वाली अनेक कल्पनातीत नई चीजें मिलेंगी। किन्तु फिर भी वह अपने आपको बिल्कुल एक ऐसी दुनियां में तो नहीं पावेगा जिससे मानों उसका कोई सम्बन्ध ही न हो, जिससे मानो उसके जमाने की दुनियां का कोई तारतम्य ही नहीं बैठता हो। मध्य युग की परम्पराओं से मानव और उसका समाज आज भी सर्वथा मुक्त नहीं है।

ईसाई और मुसलमान धर्म-युद्ध

[THE CRUSADES]

(१०९५-१२४९ ई.—लगभग १५० वर्ष)

भूमिका

ईसा मसीह की प्रेरणा थी इस पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य स्थापित हो। फिर ६३२ ई. में मोहम्मद साहब की प्रेरणा हुई कि इस दुनिया में एक-खुदा की सल्तनत कायम हो। ईसा का मतलब था मनुष्य का अन्तःकरण पवित्र हो, प्रेममय हो, वहीं अपने अन्तर में वह ईश्वर का राज्य स्थापित करे, ईश्वर की अनुभूति करे। मोहम्मद का मतलब था कि सब दुनिया में लोग केवल एक परमात्मा में विश्वास करने वाले हों। ईसाइयों ने समझा बस सारी दुनिया के लोग ईसाई हो जायं और ईश्वर का राज्य स्थापित हो जायेगा, मुसलमानों ने समझा बस सारी दुनिया के लोग मुसलमान हो जायं और दुनिया में खुदा की सल्तनत कायम हो जायेगी।

ईसा के बाद संत पाल ने संगठित ईसाई धर्म की स्थापना की। धीरे-धीरे व्यक्तिगत सम्पर्क से इस धर्म का प्रसार होने लगा। रोमन साम्राज्य के देशों में अनेक लोग इसके अनुयायी हुए, फिर चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में रोमन सम्राट कोन्सटाइन ने ईसाई धर्म स्वीकार किया, फिर तो इसके प्रभाव से फिलस्तीन, एशिया-माइनर, ग्रीस, मिस्र, उत्तर अफ्रीका, रोम, इटली, स्पेन देशों के प्रायः सभी लोग ईसाई हुये और फिर धीरे-धीरे वे असभ्य नोर्डिक आर्य जातियों के लोग जैसे गोथ, फ्रैंक, नोर्समैन, स्लाव इत्यादि जो उत्तर पूर्व से रोमन साम्राज्य की ओर अनेक झुण्डों में आये वे भी धीरे धीरे ईसाई होते गये। इन सब ईसाइयों का धार्मिक केन्द्र रोम था। प्राचीन रोमन साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो चुका था:—(१) पूर्वीय रोमन साम्राज्य जिसकी राजधानी कुस्तुनतुनिया थी, जो ग्रीक भावना प्रधान था और जिसकी भाषा भी ग्रीक थी। (२) पश्चिमी रोमन साम्राज्य जो लेटिन प्रधान (रोमन प्रधान) था और जिसकी भाषा लेटिन थी। यह पश्चिमी रोमन साम्राज्य छिन्न भिन्न हो चुका था। उत्तर पूर्व से आने वाले उपरोक्त असभ्य नोर्डिक लोगों ने इसको खतम कर दिया था, किन्तु इसके भग्नावशेषों पर इसी की परम्परा में एक अन्य रोमन साम्राज्य स्थापित हो रहा था—"पवित्र रोमन साम्राज्य" जिसके संस्थापक वही उपरोक्त उत्तर पूर्व से आये हुए नोर्डिक

बगदाद में स्थित केन्द्रीय शासक अरबी खलीफा के आधीन थे, स्वतन्त्र होने लगे थे। स्पेन स्वतन्त्र हो चुका था और वहां का प्रांतीय शासक अलग ही सुल्तान बन बैठा था, इसी तरह उत्तर अफ्रीका और मिस्र में हुआ। यहां तक कि ११वीं शताब्दी में बगदाद के चारों ओर की कुछ भूमि को छोड़कर अन्य समस्त प्रदेश केन्द्रीय खलीफा के हाथ से निकल चुके थे और छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य कायम हो चुके थे। ये सब निष्प्राण से थे।

ऐसी दशा में उधर यूरोपीय ईसाई राज्य समझ बैठे थे कि मुस्लिम शक्ति का सर्वदा के लिए ह्रास हो चुका है, किन्तु इस्लाम का एक नया शक्तिशाली दौर आया। यह दौर था तुर्की मुसलमानों का। ये तुर्की मुसलमान कौन थे? तुर्क लोग मंगोलियन प्रजाति की एक विशेष प्रशाखा के लोग थे, इस मंगोलियन प्रजाति की अन्य उपशाखायें थीं—हूण, मंगोल, फिन्स इत्यादि। अब तक मध्य एशिया, तुर्किस्तान एवं मंगोलिया प्रदेशों में जो मानव बसे हुए थे, असभ्य थे, घुमक्कड़ प्रकृति के। समय-समय पर इन लोगों के समूह प्रचण्ड प्रवाह की तरह कभी पूर्व (चीन) की ओर बह जाते थे, कभी पश्चिम (यूरोप) की ओर और कभी दक्षिण (भारत) की ओर। यह याद होगा कि जब अरब मुसलमान दुनिया को मुसलमान बनाने निकले थे तो उनका एक प्रवाह ईरान होता हुआ मध्य एशिया तक भी आया था और वहां के समस्त तुर्क लोगों को (जो पहले किसी भी प्रकार के संगठित धर्म से परिचित नहीं थे, केवल जातिगत देवों की पूजा किया करते थे) मुसलमान बनाया गया था। इन्हीं तुर्क मुसलमानों का दौर अब पच्छिम की तरफ हुआ। भिन्न-भिन्न समूहगत जातियां सभी प्रारम्भिक मानवों में मिलती हैं। तुर्क लोगों में भी इस प्रकार की अनेक जातियां थीं जो आपस में लड़ा झगड़ा करती थीं। इन लड़ाइयों में क्रूरता, षड्यन्त्र और चालाकियां सब कुछ चलती थीं। इस समय जब का हम जिक्र कर रहे हैं, अर्थात् ११वीं शताब्दी में, सेलजुक जाति के तुर्क लोग जोरों में थे और इन्हीं लोगों के झुण्ड एक के बाद दूसरे अरबी खलीफा साम्राज्य की ओर ईरान के रास्ते मे बढ़े। ईरान, ईराक, सीरिया, फिलस्तीन (यरुशलम) इत्यादि प्रदेशों पर कब्जा करने में कुछ भी देर नहीं लगी। बगदाद के खलीफा को बगदाद का शाह बने रहने दिया, किन्तु केवल नाम मात्र के लिए, वास्तव मे शासन तुर्कों ने अपने हाथ में ले लिया। ये लोग दक्षिण अरब (रेगिस्तान) की ओर एवं मिस्र और अफ्रीका की ओर नहीं बढ़े। किन्तु उनकी दृष्टि एशिया-माइनर की ओर गई जो अभी तक रोमन साम्राज्य का एक अंग था, उधर ही सेलजुक तुर्क बढ़े। रोमन साम्राज्य की राजधानी कस्तुनतुनिया दूसरे किनारे पर थी, उसके ठीक सामने इधर एशियाई किनारे पर उनका नीसिया शहर था। नीसिया तक तुर्क लोग पहुंच गये।

धर्म युद्ध

बस इसी बिन्दु पर पहुंचने पर ईसाई और मुसलमानों की भिड़न्त हुई। बढ़ते हुए मुसलमान-तुर्कों को देखकर पूर्वीय रोमन साम्राज्य के सम्राट ने फौरन रोम के पोप को सहायता के लिए लिखा और कहा कि ईसाइयों की धर्मस्थली यरुशलम और पवित्र गिर्जा को मुसलमानों से विमुक्त करना चाहिये।

१७

मंगोल और विश्व के इतिहास में उनका स्थान

(THE MANGOLS & THEIR PLACE IN WORLD HISTORY)

भूमिका

प्राचीन काल से लेकर लगभग १२वीं शताब्दी तक के मानव इतिहास का अवलोकन हम सरसरी नजर से कर आये हैं। इस काल में अनेक सभ्यताओं का उद्भव, विकास और फिर पतन हुआ। हमने देखा जहाँ-जहाँ भी जब-जब भी किसी सभ्यता का विकास हुआ, उसका अन्त बाहर से आने वाले घुमक्कड़ चरवाहे अथवा बनजारे असभ्य लोगों द्वारा हुआ। सभी सभ्यताओं एवं संगठित समाजों का ऐसा ही इतिहास रहा। प्राचीन काल में सुमेर में संगठित समाज और सभ्यता का विकास हुआ, उसको ध्वस्त किया बाहर से आकर घुमक्कड़ सेमेटिक असीरियन लोगों ने। क्रीट द्वीप एवं ईजीयन द्वीप समूहों में विकसित प्राचीन मायोजियन सभ्यता का अन्त किया अपेक्षाकृत असभ्य ग्रीक लोगों ने जिनके समूह उत्तर-पूर्व से इन प्रदेशों में दाखिल हुए थे; और इन्हीं ग्रीक लोगों ने फिर प्राचीन मिस्र की सभ्यता पर अपनी सभ्यता का आरोप किया। कालान्तर में पश्चिम एशिया में, फारस और मेसोपोटेमिया में जब प्राचीन ईरानी सभ्यता स्थापित थी और मिस्र में रोमन साम्राज्य, उनको ध्वस्त करते हुए निकले घुमक्कड़ अरब लोगों के प्रवाह; और, फिर रोम, रोमन साम्राज्य और रोमन सभ्यता का अन्त किया उत्तर पूर्व से आते हुए घुमक्कड़ नोर्डिक आर्य लोगों ने। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल में किसी भी संगठित सभ्यता और समाज के लिए हर समय यह भय बना रहता था कि कहीं कोई असभ्य जाति बाहर से आकर उनका विकाश न कर दे। उस समय की स्थिति ऐसी थी मानो जिस किसी प्रदेश या भूभाग में सुसभ्य समाज संगठित है और उच्च सभ्यता का विकास है, वह एक नखलिस्तान के समान है जिसके चारों ओर रेगिस्तान फैला हुआ है-कौन जाने कब धूल का बवंडर

उठ खड़ा हो और उस नखलिस्तान को कब खत्म कर डाले। इसका यह अर्थ नहीं कि उस संगठित सभ्यता या समाज के विनाश का कारण केवल वह बाहरी आक्रमण ही होता था। वस्तुतः कुछ आन्तरिक कमजोरी उत्पन्न हो जाने पर ही—जैसे शासक वर्ग में सामाजिक भावना का अभाव, ऐश्वर्य एवं स्वार्थ और सत्ता लोलुपता, बाहरी दुनिया कि अनभिज्ञता इत्यादि—बाहरी आक्रमण सफल होते थे। *उस स्थिति की तुलना कीजिये आधुनिक ससार की स्थिति से।* आज पृथ्वी पर जहां कहीं भी मानव रहते हैं लगभग उन सभी स्थानों पर सभ्यता; संगठित सामाजिक जीवन-प्रणाली, आधुनिक यातायात और सम्पर्क के साधन इत्यादि प्रसारित हैं—यदि कुछ भू-भाग ऐसे भी हैं जहां के मानव सभ्य न हों, तो वे इतने सबल नहीं कि अपने चारों ओर प्रसारित सभ्यता को दबा सकें। आज दुनिया में सभ्यता को बाहरी किसी खतरे का डर नहीं—यदि इसको कुछ चीज ध्वस्त कर सकती है तो इसकी कुछ आन्तरिक कमजोरियां या आन्तरिक बुराइयां ही।

१२वीं शताब्दी तक भिन्न-भिन्न सभ्यताओं पर असभ्य घुमक्कड़ लोगों के जो ध्वंसात्मक आक्रमण हुए उनका निर्देश करने के बाद अब हम मानव इतिहास में बंजारे लोगों के अन्तिम आक्रमण का वर्णन करते हैं। यह बवंडर अपने से सब पूर्व बवंडरों की अपेक्षा अधिक प्रसारित, अधिक ध्वंसकारी एवं ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्वशाली भी है; हमारे युग के अधिक निकट, इसीलिए इसकी स्मृति भी अधिक ताजा।

यह तूफानी बहाव था मंगोल लोगों का, जो मध्य एशिया के उत्तर-पूर्व में मंगोलिया इत्यादि प्रदेश में फैले हुए थे और जो पूर्व में प्रशान्त महासागर के किनारे से पश्चिम में यूरोप तक जहां कहीं भी गये, सब कुछ अपने पीछे समेटते गये और सब कहीं अपना अधिकार स्थापित करते गये।

ये मंगोल लोग कौन थे ?

ये लोग नोर्डिक एवं नीग्रो प्रजातियों से भिन्न मंगोल जाति के लोग थे; हूण, तुर्क और तातार लोगों से मिलते जुलते जिनके आक्रमण भिन्न-भिन्न शताब्दियों में दक्षिण-पश्चिमी प्रदेशों में हुए थे—वे ही हूण जिनके आक्रमण ई. पू. शताब्दियों में चीन पर होते रहते थे और जिनको रोकने के लिए महान् दीवार बनाई गई थी; वे ही हूण जिनके नेता अटिला के चौथी-पांचवीं शताब्दी में पूर्वीय यूरोप में अपना साम्राज्य स्थापित किया था और जिनके एक अन्य नेता मिहिरगुल ने ६ठी शताब्दी के आरम्भ में भारत पर लूटमार का आतंक जमाया था,—वे ही तुर्क जिन्होंने ११वीं शताब्दी में अरबी खलिफाओं को विनष्ट कर फारस, ईराक, सीरिया इत्यादि पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। वास्तव में हूण तुर्क, तातार, मंगोल—ये सब लोग एक ही मंगोलियन उपजाति के लोग थे, जिनके झुंड भिन्न-भिन्न युगों में इधर-उधर जाते रहते थे।

ये घुमक्कड़ (बंजारे) लोग थे, जो भेड़, बकरी, घोड़े पालते थे, चरागाहों में इधर-उधर चराते फिरते थे और शिकार करते थे, ठण्ड के दिनों में

दक्षिणी भागों में आ जाते थे, गर्मियों में उत्तर की ओर चले जाते थे। तम्बुओं में अपना जीवन व्यतीत करते थे, घोड़ी का दूध और मांस इनका मुख्य भोजन होता था। जीवन सरल और साहसी होता था। यूराल आल्टिक (मंगोल) परिवार की भाषाओं-तुर्की-मंगोल इत्यादि की बोलियों का ये प्रयोग करते थे-जिनके लिखित रूप का अभी विकास नहीं हुआ था। वे इस बात से परिचित ही नहीं थे कि भाषा और बोली का लिखित रूप भी होता है। शैमिनिज्म एक प्रकार का आरम्भिक धर्म जिसमें 'आकाश देव' या अन्य देवताओं की पूजा होती थी उसी का ये पालन करते थे किन्तु यह धर्म उसके जीवन में कोई महत्व की वस्तु नहीं थी, उस समय की दुनिया में प्रचलित, संगठित एवं सुविकसित बौद्ध, हिन्दू, ईसाई, इस्लाम धर्मों से ये सर्वथा अपरिचित थे। छोटी-छोटी समूहगत जातियों में ये विभक्त थे-प्रत्येक जाति का एक नेता या सरदार होता था, जिसके आदेश का पालन होता था।

१३वीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तरी चीन में जिन (तातार) लोगों का साम्राज्य था, उन्हीं के आधीन ये थे—उन्हीं के आधीन रह कर संगठित सेना संचालन का काम इन्होंने सीखा था। धीरे-धीरे ये लोग इनके एक नेता चंगेजखां के नेतृत्व में संगठित हुए। चंगेजखां के नाम से यह अनुमान नहीं लगाना चाहिये कि वह मुसलमान था। अभी तक अपने शैमिनिज्म मत के अतिरिक्त और किसी मत को ये नहीं जानते थे। चंगेजखां ने एक कुशल सेना का संगठन किया। १३वीं शती के प्रारम्भ होते ही उसने अपना विजय प्रयाण प्रारम्भ किया।

१३वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दुनियां की क्या हालत थी ?

सुदूरपूर्व में चीन दो राज्यों में विभक्त था, उत्तर में तातार वंशज किन साम्राज्य था और दक्षिण में शुंग साम्राज्य। हिन्दचीन, स्याम, पूर्वीय द्वीप समूहों में चीनी एवं भारतीय बौद्ध और हिन्दु उपनिवेश थे। उत्तर भारत में गुलाम वंश के मुसलमान बादशाहों का राज्य था। भारत के उत्तर पच्छिम में भारतीय सीमा से लेकर मध्य एशिया, समस्त फारस और मेसोपोटेमिया के कुछ भागों में मुसलमानी खीवान वंश के बादशाहों का राज्य था। मिस्र, सीरिया, इजराइल में मिस्र के प्रसिद्ध सुल्तान सलादीन के वंशजों का राज्य था और उत्तर अफ्रीका एवं दक्षिण स्पेन तक अन्य मुसलमानी राज्य थे। एशियामाइनर में तुर्क लोगों का राज्य था, जिनकी संरक्षता में बगदाद का खलीफा मेसोपोटेमिया के कुछ भागों में राज्य कर रहा था। चीन साम्राज्य के पच्छिमी छोर से लेकर पच्छिम में यूराल पर्वत और कालासागर तक के विशाल घास के मैदानों में बनजारे तातार एवं मंगोल फैले हुए थे। यूरोप में पूर्वीय रोमन साम्राज्य बाल्कन प्रायद्वीप एवं एशिया-माइनर के पच्छिमी भागों में स्थित था कस्तुनतुनिया उसका केन्द्र था; उत्तरी इटली, जर्मनी, बेल्जियम प्रान्तों में पवित्र रोमन साम्राज्य प्रसारित था। इङ्गलैण्ड व फ्रान्स में द्वन्द्व चलता था; पोलेण्ड, हंगरी, नार्वे, स्वीडन राज्यों का धीरे धीरे उद्‌भव हो रहा था, उत्तरी स्पेन में कई सामन्ती शासकों का राज्य था; पूर्वीय यूरोप में रूस राज्य का भी उद्‌भव हो रहा था जिसके उत्तर में नेवोगोरोड प्रजातन्त्र

स्थापित था और दक्षिण में कीफ का राज्य।

दुनिया का उपरोक्त जो चित्र दिया गया है उससे यह तो अनुमान लगाया जा सकता है कि संसार के किसी भाग में कोई शक्तिशाली सुसंगठित राज्य कायम नहीं था और न उनको उस बात का सुस्पष्ट ज्ञान था कि मध्य एशिया कोई विशाल भूभाग है जहां अनेक लोग रहते हैं। पूर्व में चीनी शुंग साम्राज्य अवश्य था किन्तु इसकी शक्ति इस समय क्षीण थी। इस चीनी साम्राज्य को छोड़कर बारूद और बन्दूकों का ज्ञान भी दुनियां में अन्य किन्हीं लोगों को नहीं था। मंगोल लोग चीन के इस आविष्कार से परिचित हो चुके थे और अपने आक्रमणों में इन्होंने इसका प्रयोग भी किया।

(१) मंगोलों के आक्रमण (१३वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध)

१३वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में चंगेजखां[1] का तूफानी दौरा प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम वह पूर्व की ओर बढ़ा, चीन के उत्तरी किन साम्राज्य का अन्त किया और मंचूरिया जीता। स्यात् इतने साम्राज्य से ही वह सन्तुष्ट हो जाता किन्तु ईरान के बादशाह ने कुछ मंगोल व्यापारियों को लूट लिया और चंगेजखां के भेजे हुए राजदूतों को मार डाला, इस पर चंगेजखां भयंकर प्रतिकार की भावना से ईरान पर चढ़ आया, भयंकर गर्जते हुए काले बादलों की तरह सन् १२१९ में उसकी सेनायें समस्त प्रदेश पर छा गई। समृद्धिशाली प्रसिद्ध समरकन्द, बुखारा, कोरंद नगरों को उसने धुल में मिला दिया, ऐसा साफ कर दिया मानो वे कभी बसे हुए ही नहीं थे, लाखों आदमियों को नृशंसता से मार डाला गया और इस प्रकार एक तूफान की तरह वह आगे बढ़ता गया। संपूर्ण तुर्किस्तान पर अपना राज्य स्थापित करता हुआ, ईरान की ओर बढ़ा, उसे अपने राज्य में सम्मिलित किया और फिर आरमेनिया और फिर पश्चिम में यूरोप की ओर वोल्गा नदी को पारकर कालासागर के उत्तर तक उसने अपना राज्य स्थापित कर लिया।

इस प्रकार पश्चिम में कालासागर से लगातार पूर्व में प्रशान्त महासागर तक उसके राज्य का विस्तार हो गया। चंगेजखां ने मंगोलिया के छोटे से नगर कराकोरम को ही इस विशाल साम्राज्य की राजधानी रक्खा। राजधानी में ईरान, यूरोप, तुर्किस्तान, चीन, मेसोपोटेमिया इत्यादि सभी देशों के व्यापारी और विद्वान लोग आकर एकत्र होते थे। यद्यपि चंगेजखां अशिक्षित था, किन्तु बहुश्रुत था, देश देश की बातें सुनने का उस बहुत शौक था, यहां तक कि जब उसको ज्ञान हुआ कि बोलियों का कोई लिखित रूप भी होता है तो उसने चाहा था कि मंगोल लोगों के जितने रस्म-रिवाज हैं उनको लिखित रूप दे दिया जाय। येल्यू चुत्सई चीन का एक शिक्षित राजनैतिक, चंगेजखां का सलाहकार था, उसके प्रभाव की वजह से अनेक नगरों, कलाकृतियों और साहित्य की रक्षा हो सकी।

---

1. रूसी पुरातत्ववेत्ता प्रो० सर्ज किसलेफ ने पता लगाया है कि चंगेजखां का जन्म ११६२ ई० में बेकाल झील के पूर्व में चित्रा ओव जास्त नामक स्थान में हुआ था।

(२) १३वीं शताब्दी मध्य

सन् १२२७ में उस समय जब चंगेजखां अपनी विजय की उच्च शिखर पर था, उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र चगताई को जाति के सामन्तों और सरदारों द्वारा खां कि उपाधि दी गई और वह विशाल साम्राज्य का सम्राट बना। विजय यात्रा जारी रही। सर्वप्रथम यूरोप की ओर प्रयाण हुआ। सन् १२४० में दक्षिण रूस की राजधानी कीफ का पतन हुआ,–फिर पोलैंड और जर्मनी की सम्मिलित फौज के साथ मध्य यूरोप में लिबनिज स्थान पर मंगोलों का युद्ध हुआ–पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट फ्रेडरिक महान भी कुछ नहीं कर पाया। जर्मन और पोल लोग परास्त हुए, समस्त दक्षिणी रूस में मंगोलों का राज्य स्थापित हो गया। उपरोक्त युद्ध की विजय के बाद मंगोल लोग पश्चिमी यूरोप की ओर भी बढ़ते–जर्मन और पोलिश लोगों की सम्मिलित शक्ति की हार के बाद कोई भी यूरोपीय शक्ति नहीं थी जो उनको रोक सकती थी किन्तु घर पर सम्राट की मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी के प्रश्न पर कुछ झगड़ा होने के समाचार पाकर, मंगोल फौजें यूरोप से अपने घर कराकोरम राजधानी की ओर लौट आईं, पश्चिमी यूरोप बच गया। पूर्व में अब तक समस्त चीन साम्राज्य–सुंग साम्राज्य सहित मंगोलों के आधीन हो चुका था।

सन् १२५२ ई० में मंगुखां साम्राज्य का अधिनायक बना। उसने भिन्न–भिन्न प्रान्तों में गवर्नर शासक नियुक्त किये जिनमें सबसे प्रसिद्ध चीन का गवर्नर कुबलेखां था। ईरान का गवर्नर हुलागु था। बगदाद के खलीफा ने मंगोल गवर्नर को किसी बात पर नाराज कर दिया, इससे क्रोधित होकर मंगोल गवर्नर ने बगदाद पर आक्रमण कर दिया और इस प्राचीन नगरी को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अरब खलीफाओं के पिछले ५०० वर्षों के राज्यकाल में जो कुछ भी कला, साहित्य, धन, ऐश्वर्य वहां एकत्र हुए थे सब धूल में मिला दिए गये। बगदाद के अतिरिक्त बुखारा एवं अन्य अनेक नगर भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिए गये। इस प्रकार सन् १२५८ ई० में जब बगदाद का पतन हुआ, मोहम्मद के वंशज खलीफाओं का और जो कुछ भी छोटा मोटा अब्बासीद वंश का राज्य बचा था वह समूल नष्ट हो गया। मेसोपोटेमिया में मंगोल लोगों ने केवल नगर ही बरबाद नहीं किये किन्तु हजारों वर्षों से सिचाई की जो अनुपम प्रणाली वहां चली आ रही थी, वह भी नष्ट कर डाली। सम्राट मंगुखां का राज्य दरबार कराकोरम में ही लगा करता था। यहां, जैसा कि मंगोल लोगों का स्वभाव था, मंगोल सम्राट ने कोई बड़ा नगर बसाने का प्रयत्न नहीं किया और न कोई बड़े–बड़े महल बनवाये। बंजारे लोगों की तरह तम्बुओं के अन्दर उसका राज्य दरबार लगा करता था, देश विदेश से व्यापारी, राजदूत, कलाकार, विद्वान, ज्योतिषी इत्यादि एकत्र होते थे। मंगुखां सब लोगों से परिचय प्राप्त करता था। उसने ईसाईयों के पोप की भी बातें सुनीं। ईसाई, मुसलमान, बौद्ध इत्यादि धर्म प्रचारक इसके दरबार में आये और सबने यह प्रयत्न किया कि सम्राट उनका धर्म अपना लें। वे समझते थे कि जिस धर्म को खां ने स्वीकार कर लिया वह धर्म संसार में अधिक शक्तिशाली

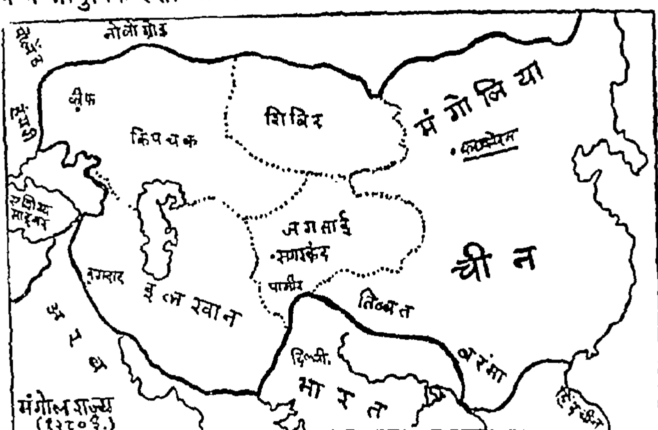
हो जायगा। कहते हैं, एक बार खां ने ईसाई धर्म ग्रहण करने का इरादा भी कर लिया था किन्तु यह बात सुनकर कि रोम का पोप ही सर्वमान्य और सर्वशक्तिशाली पुरुष है, उसने यह विचार छोड़ दिया। अन्त में मंगोल लोगों ने जहां जहां वे बसे हुए थे वहां वही धर्म ग्रहण कर लिया जो उन स्थानों में प्रचलित था। मध्य एशिया और मंगोलिया में जो लोग बसे हुए थे उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और रूस और हंगरी में जो लोग बसे हुए थे सम्भवतः उन लोगों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया।

मंगुखां की मृत्यु के बाद चीन का मंगोल गवर्नर कुबलेखां मंगोल साम्राज्य का सम्राट बना। कुबलेखां पर चीनी सभ्यता और स्वभाव का बहुत प्रभाव पड़ चुका था। मंगोल लोगों की क्रूरता उसमें नहीं थी। वह उन लोगों में इतना घुल मिल गया था कि चीनी लोग उसको अपनी ही जाति का एक व्यक्ति समझने लग गये थे और वास्तव में उसने चीन में चीनी युआन राज्य-वंश की नींव डाली। समस्त चीन तो उसके साम्राज्य में आ ही चुका था, इसके अतिरिक्त हिन्द-चीन, बर्मा भी उसने अपने साम्राज्य में मिला लिए। जापान और मलेशिया (पूर्वीय द्वीप समूह) पर भी उसने राज्याधिकार करना चाहा, किन्तु मंगोल लोग नव-सेना युद्ध में और जहाजरानी में दक्ष नहीं थे। इसलिए इस काम में वह सफल नहीं हो सका। कुबलेखां के राज्य-काल में (१३वीं शती में) इटली से दो व्यापारी चीन में आये थे। कुबलेखां पर उनका काफी प्रभाव पड़ा था। कुबलेखां ने उनसे कहा था कि वे अपने देश में जायें और वहां पोप से प्रार्थना करके १०० ईसाई धार्मिक विद्वान् चीन में पहुंचवायें। ये दोनों व्यापारी लौट कर रोम आये। पोप से १०० विद्वानों को चीन भेजने की बात कही गई। विद्वान् उपलब्ध नहीं थे, आखिर दो पादरी इन व्यापारियों के साथ भेजे गये। वे चीन की राजधानी पेकिंग आये। इनके साथ एक व्यापारी का लड़का भी था। अपनी यात्रा में इसने चीनी भाषा अच्छी तरह से सीख ली थी। खां पर इसका खूब प्रभाव पड़ा और उसे खां के राज्य में बहुत ऊंचा पद मिला। १२ वर्ष तक वह वहां रहा, फिर दक्षिण भारत, ईरान होता हुआ वह अपने देश इटली में आया जहां उसने १२९८ में अपनी यात्राओं का एक विषद वर्णन लिखा। यह विलक्षण व्यक्ति मार्को पोलो था।

कुबलेखां की समस्त शक्ति चीन में लग जाने के फलस्वरूप मंगोल साम्राज्य के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के गवर्नर शासक धीरे-धीरे स्वतन्त्र होते जा रहे थे। सन् १२९२ ई० में जब कुबलेखां की मृत्यु हुई उस समय साम्राज्य में कोई ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति नहीं था जो इतने बड़े साम्राज्य का एकाधिपत्य स्वामी बन सकता। अतएव उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर कई भागों में विभक्त हो गया। साम्राज्य के मुख्यतः ५ भाग बने:—

( ) चीन—जिसमें तिब्बत, मंगोलिया, मंचूरिया इत्यादि सम्मिलित थे [illegible] सन् [illegible]३६८ ई० तक कुबलेखां द्वारा स्थापित युआन वंश का राज्य चल[illegible] [illegible]गान्त शुद्ध चीनी मिंग राज्य वंश की स्थापना हुई।

(२)-(३) सुदूर पच्छिम में किपचक और शिविर साम्राज्य (जो रूस के दक्षिणी भाग में स्थित थे)। इन प्रदेशों में धीरे-धीरे अधिकतर मंगोल लोगों ने समयानुकूल घुमक्कड़ जीवन ग्रहण कर लिया और वे इन प्रदेशों में पूर्व स्थित अन्य घुमक्कड़ जातियों, जैसे इन्डोसिथियन, काकेशियन इत्यादि के साथ हिल-मिल गये, किन्तु पूर्व-स्थित नगरों जैसे कीफ, मास्को आदि के ड्यूकों (सरदारों) से कर वसूल करते गये। अन्त में सन् १४८० ई० में मास्को के ड्यूक आईवन तृतीय ने खां का आधिपत्य मानने से इन्कार कर दिया। साथ ही उसने उत्तर में स्थित नोवोग्रोड प्रजातन्त्र को जीतकर अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार इन प्रदेशों में मंगोल आधिपत्य समाप्त करके आइवन तृतीय ने आधुनिक रूसी राज्य की नींव डाली।



(४) पामीर प्लेटो की भूमि में जगताई, मंगोल साम्राज्य का एक विभाग बना। यहां के मंगोल लोगों ने भी धीरे-धीरे जंगली चरावाह एवं घुमक्कड़ जीवन ग्रहण कर लिया। कभी-कभी किसी शताब्दी में उन लोगों का छोटा मोटा साम्राज्य कायम रहा किन्तु धीरे-धीरे इस विभाग का पूर्वीय भाग तो चीन साम्राज्य में मिल गया और शेष भाग रूसी साम्राज्य में।

(५) मंगोल इलखान साम्राज्य जो कि ईरान और मेसोपोटेमिया में स्थित था। १४वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में पच्छिमी तुर्किस्तान में एक और घुमक्कड़ लोगों का ववंडर उठा जिसका नेता तैमूरलङ्ग था। तैमूरलङ्ग माता की ओर से चंगेजखां के वंशजों में से ही था। तैमूरलङ्ग के पिता ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था इसलिए तैमूर मुसलमान था, वह बहुत ही असभ्य और क्रूर आदमी था। मंगोल इलखान साम्राज्य के ईरान और मेसोपोटेमिया पर धुआंधार की तरह तैमूर चढ़ कर आया, जो कुछ भी रास्ते में मिला उसे ध्वंस करता गया। उसने एशिया-माइनर समस्त ईरान, मेसोपोटेमिया, दक्षिणी तुर्कीस्तान एवं अफगानिस्तान में अपना साम्राज्य स्थापित किया और सन् १३९८ ई० में जब महमूद तुगलक देहली के सिंहासन पर था भारत में लूट-मार करने के लिए भयङ्कर आक्रमण किये। भारत की राजधानी में कई दिनों तक उसने लूटमार की. लाखो आदमियों को मार डाला और जहां जहां गया बरबादी फैला दी। भारत से लौटते समय हजारों कैदियों और अटूट धनराशि

लूटकर ले गया। सन् १४०५ ई० में उसकी मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न होगया, मेसोपोटेमिया में १३वीं शताब्दी में श्रोटोमन (उसमान) तुर्क लोगों का राज्य हुआ और फारस में कुछ ही वर्ष बाद एक अन्य तुर्की वंश का राज्य कायम हुआ।

इस प्रकार १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मंगोल लोगों की जो आंधी चली थी, वह समस्त एशिया, यूरोप पर भयङ्कर रूप से छाती हुई, १५वीं शताब्दी में कहीं जाकर साफ हुई। उसके बाद मंगोल लोगों की संगठित स्थिति दुनिया में कहीं नहीं रही। हां इन्हीं मंगोल लोगों से कुछ सम्बन्धित जातियों द्वारा एक ओर तो एशिया-माइनर और यूरोप में और दूसरी ओर भारत में कुछ महत्वपूर्ण आक्रमण हुए जिनका वर्णन संक्षेप में कुछ आगे किया जायेगा।

मंगोल आक्रमणों का विश्व इतिहास पर प्रभाव

मंगोल आक्रमक पूर्व में चीन से लेकर पच्छिम में यूरोप तक पहुंचे थे। यूरोप में इन आक्रमकों ने जर्मनी और पौलेण्ड को भी अछूता नहीं छोड़ा था, अतएव चीन, मध्य-एशिया, तुर्किस्तान, ईरान एवं यूरोपीय देशों में पर्याप्त निकट सम्पर्क स्थापित हुआ। दो शताब्दियों तक पूर्व से पच्छिम और पच्छिम से पूर्व तक व्यापारिक मालों से लदे बड़े-बड़े काफिले निशंक होकर घूमे थे, भिन्न-भिन्न देश के अनेक विद्वानों, ज्योतिषियों, धर्मज्ञों में भी सम्पर्क स्थापित हुआ था, मंगोल खां के दरबार में ये सब लोग मिलते थे—भारत के बौद्ध भिक्षुक, चीन के कनफ्यूशियन, अरब के मुसलमान, यूरोप के ईसाई।

यूरोप अभी अन्धकारमय युग में से होकर गुजर रहा था—विज्ञान प्रकाश में नहीं आया था। पूर्व और पच्छिम के उपरोक्त सम्पर्क से यूरोप को चार बहुमूल्य चीजें मिलीं—कागज, छपाई, जहाजी कुतुबनुमा एवं बारूद की बन्दूकें। इन चारों वस्तुओं से चीनी लोग अति प्राचीन काल से परिचित थे-यहीं इनका आविष्कार हुआ था। हम कल्पना कर सकते हैं कि कागज ने और छपाई की कला ने यूरोप में कितना युगान्तरकारी परिवर्तन कर दिया होगा। वास्तव में यूरोप का उत्थान तभी से होने लगा जब कागज और छपाई की कला वहां पहुंच गई। इन सबसे अधिक महत्वशाली प्रभाव था—मार्को पोलो की प्रसिद्ध पुस्तक (मार्को पोलो की यात्रायें) का, जो उसने अपने पूर्वीय देशों में भ्रमण और चीन में १२ वर्ष के अनुभव के आधार पर लिखा थी। इस पुस्तक में पूर्वीय देशों के धन, वैभव, स्वर्ण, मोती, जवाहरात मसाले इत्यादि का अपूर्व एवं रोमांचकारी वर्णन किया गया था एवं यह भी निर्देश किया गया था कि पूर्वीय देशों में ईसाई राज्य स्थापित हैं जो बहुत ही ऐश्वर्यशाली हैं। इस रोमांचकारी पुस्तक ने यूरोप में इटली, स्पेन, पुर्तगाल और फ्रांस में एक क्रान्ति सी पैदा करदी एवं परोक्ष या अपरोक्ष रूप से अनेक जनों के मन में एक महत्वाकांक्षा पैदा करदी कि वे भी भिन्न-भिन्न पूर्वीय देशों में भ्रमण करें। उधर जहाजी कुतुबनुमा का पता लग ही चुका था—बस कुछ ही वर्षों में यूरोपीय जातियों ने सामुद्रिक रास्तों से पूर्वीय देशों की खोज प्रारम्भ कर दी, जिसने दुनिया के इतिहास ही को बदल डाला।

१८

यूरोप में पुनर्जागृति

[THE RENAISSANCE IN EUROPE]

रिनेसां की भूमिका

१५ वीं शती में यूरोप में रिनेसां (पुनर्जागृति) वह मानसिक एवं बौद्धिक आन्दोलन था जिसने मानव को उन रूढ़िगत धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक मान्यताओं की शृंखलाओं से मुक्त किया जो उसके 'मानस' को अनेक शताब्दियों से जकड़े हुए थीं और जिन्होंने उसके मन को भय के भार से दबा रक्खा था। मानसिक दासता और आत्मिक भीरुता से मुक्त होने के लिये मानव गतिमान हुआ,—मानव विकास के इतिहास में यह अनुपम घटना थी। ठीक किस वर्ष से यह गति प्रारम्भ हुई—यह कहना कठिन है, इतना ही कहा जा सकता है कि १५ वीं शती के उत्तरार्ध में यह गति स्पष्ट दृष्टिगोचर हुई, और इसने उस दृष्टिकोण की नींव डाली जिसे वैज्ञानिक या आधुनिक दृष्टि-कोण कहते हैं। मानसिक, बौद्धिक मुक्ति की ओर मानव का यह प्रयाण था, मानव अभी तक अपने गन्तव्य तक नहीं पहुंचा है-उसकी ओर अभी तक वह गतिमान है।

मध्य युग का जीवन मुख्यतः दो मान्यताओं से सीमित था। सामाजिक, आर्थिक क्षेत्र में सामन्तवाद की भावना परिव्याप्त थी; मानसिक धार्मिक क्षेत्र में, रूढ़िगत स्वर्ग, नरक, प्रलय, गिरजा, पोप, पाप आदि की भावना। लोग अपना जीवन मानो मृत्यु की छाया के नीचे बिताते थे और हर समय उनके मन पर इस बात का भार रहता था कि किस प्रकार इस जीवन में अपने शरीर को कष्ट देकर वे अपना परलोक सुधारलें। वस्तुतः उनका यह विश्वास था कि पृथ्वी के नीचे आकाश को पार करके नरक है जहां शैतान और उसके साथी रहते है; और पृथ्वी के ऊपर आकाश पार करके स्वर्ग है, जहां ईश्वर और उसके आज्ञाकारी दूत रहते हैं। स्वर्ग, नरक, शैतान, दूत इत्यादि का एक वास्तविक सा चित्र उनके दिमाग में रहता था-प्रत्यक्ष दुनिया के दृश्यों से भी अधिक स्थूल और वास्तविक। रिनेसां ने मानव मन को इन बातों के भार से मुक्त किया और उसे इसी जीवन और इसी लोक में सुख, सौंदर्य और वास्तविकता ढूंढ़ने के लिए प्रेरित किया। स्वर्ग, नरक, परलोक

जिनको मानव ने वास्तविक मान रक्खा था वे तो वहम की बातें और अवास्तविक हो गईं और यह दुनिया और लौकिक जीवन जिनको उसने तुच्छ मान रक्खा था, पूर्णतः वास्तविक और सत्य हो गईं। पुरानी विचारधाराओं, मान्यताओं और विश्वासों में उच्छेदन प्रारम्भ हुआ,—उनके स्थान पर नये विचार, नई भावनायें, नई मान्यतायें आने लगीं। मानव स्वर्ग, नरक, प्रलय, आत्म-मुक्ति आदि की मान्यताओं और भय से मुक्त हो, प्रकृति और जीवन की ओर सीधा, वैज्ञानिक परीक्षण की दृष्टि से देखने लगा। पुनर्जागृति के ऐतिहासिक कारण व कई दिशाओं से इस गति को शक्ति मिली।

(१) १२ वीं से १५ वीं शती तक संसार में घुमक्कड़ मंगोल जाति का प्रभाव रहा था—समस्त पूर्वीय यूराप में चीन में, पश्चिम एशिया में, उत्तर भारत में। इन्हीं मंगोल के सम्पर्क से यूरोप में चीन के तीन आविष्कार पहुंचे यथा:—कागज और मुद्रण, समुद्रों में मार्गदर्शन के लिए कुतुबनुमा एवं युद्ध में प्रयोग करने के लिए बारूद। इन आविष्कारों के ज्ञान ने यूरोपीय लोगों के जीवन में एक अभूतपूर्व परिवर्तन कर डाला। 'पश्चिम' 'पूर्व' के सम्पर्क से गतिशील बना; कागज और मुद्रण से जन साधारण में ज्ञान का प्रकाश पहुंचा; कुतुबनुमा से नये नये सामुद्रिक रास्तों की खोज होने लगी एवं बारूद से सामन्ती शक्ति को ध्वस्त किया गया; केन्द्रीभूत राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना होने लगी।

(२) सन् १४५३ ई. में उस्मान तुर्क लोगों की बढ़ती हुई शक्ति ने पूर्वीय रोमन साम्राज्य के अन्तिम स्थल कस्तुनतुनिया पर हमला किया। तुर्क सुल्तान मोहम्मद द्वितीय ने नगर के चारों ओर घेरा डाला; ईसाई सम्राट कोन्सटेनटाइन हाथ में तलवार लिए हुए युद्ध क्षेत्र में मारा गया। नगर की एक लाख जनसंख्या में से केवल ४० हजार बचे। नगर के प्रसिद्ध 'सेंट सोफिया' के गिरजे पर सलीब (Cross) के स्थान पर, 'चन्द्रतारा' का इस्लामी झंडा फहराने लगा। अनेक ग्रीक विद्वान् पंडित, जिनके पास प्राचीन ग्रीक एवं रोमन साहित्य के संग्रह थे—सब अपनी बौद्धिक सम्पत्ति लेकर पूर्व की ओर भागे, इटली में जाकर उन्होंने शरण ली, क्योंकि पड़ोसी बालकान प्रायद्वीप समस्त प्रान्तों पर तो तुर्क अधिकार स्थापित हो चुका था। ग्रीक और रोमन विद्वान जो अपने साहित्य को लेकर इटली पहुंचे उससे प्राचीन ग्रीक ग्रंथों के अध्ययन का प्रचार हुआ और लोगों में उस प्राचीन ज्ञान के पुनरुत्थान की एक धुन सी लग गई। इटली पुनरुत्थान का केन्द्र बना। उस समय यूरोप की राजनीतिक स्थिति इस प्रकार थी :—१५ वीं शती तक यूरोप में मंगोल लोगों का प्रभाव प्रायः समाप्त होकर, आधुनिक युग का प्रारम्भ राष्ट्रीय एक-तंत्रीय (राजाओं के) राज्यों के विकास से प्रारम्भ हुआ। कई देशों में सामन्तवादी शक्तियों का विरोध हुआ और शक्तिशाली केन्द्रीय राजाओं की स्थापना हुई। फ्रांस में राजा लुई ११ वें ने फ्रांस के भिन्न-भिन्न सामन्ती प्रांतों का एकीकरण किया, स्पेन में इसी प्रकार राजा फर्डीनिन्ड और रानी इसाबेला ने प्रान्तीय राज्यों को मिला कर एवं मुसलमानों के अन्तिम राज्य ग्रनाडा को पराजय कर स्पेन का एकीकरण किया, इङ्गलैंड में यही काम हेनरी सप्तम

ने किया, किन्तु जर्मनी का तथाकथित पवित्र रोमन साम्राज्य [illegible] सूत्र में नहीं बंध सका—यही हाल इटली का था, जहां के [illegible] के शासक परस्पर प्रतिद्वन्द्विता का भाव रखते थे, अतः [illegible] नहीं हो सकते थे।

(३) ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मध्य युग में [illegible] प्रकृति की खोज की परम्परा बिलकुल लुप्त थी। प्रतिभाशाली [illegible] एवं ग्रीक मूल ग्रंथों से अरबी भाषा में अनुवादित ग्रन्थों [illegible] ग्रन्थों का यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद कर रहे थे—विशेषतया [illegible], चिकित्सा एवं भौतिक विज्ञान के ग्रन्थों का। इसी प्रकार विज्ञान की [illegible] जो समूल नष्ट नहीं हो चुकी थी, अनुकूल परिस्थितियां पाकर [illegible] ११ वीं से १३ वीं शतियों में जो धर्मयुद्ध (Crusades) हुए थे उनसे [illegible] यूरोपवासियों का सम्पर्क पूर्वीय देशों से बढ़ा था।

(४) १४ वीं शती के मध्य में संसार पर एक भयकर आफत छाई। यह आफत 'प्लेग बीमारी' की थी—जो इतिहास में 'काली मृत्यु' (Black death) के नाम से प्रसिद्ध हुई। स्यात् मध्य एशिया या दक्षिणी रूस से इसने फैलना शुरू किया और कुछ ही महीनों में एशिया-माइनर, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका होती हुई समस्त यूरोप और इङ्गलैंण्ड पर और पूर्व में चीन पर इसकी भयंकर काली छाया छा गई। पल-पल में बेतहाशा आदमी मरने लगे—एक बार ऐसा प्रतीत होने लगा था मानो मनुष्य जाति ही विनिष्ट होने जा रही हो। करोड़ो प्राणी कुछ ही महीनों में 'मौत के मुंह में समा गये। इस दुःखदाई घटना की इतिहास पर कई प्रतिक्रियायें हुई। यूरोप में मानव ने समझा कि यह उसको चेतावनी है कि वह प्रकृति और प्रकृति के नियमों को समझे और उनको समझ कर प्रकृति के अनिष्टकर शक्तियों से मोर्चा ले। मजदूरों की कमी हो गई थी अतः समस्त यूरोप में मध्यकालीन युग में खेतों पर काम करने वाले जो दास (Serfs=भूमिहीन मजदूर) थे उन पर जमींदारों, बड़े-बड़े भूपतियों की ओर से जोर पड़ा कि वे अधिक परिश्रम करें और किसी भी जमीन को बिना जोते न छोड़े। उस दुख की घड़ी में भूमिहर (Serfs) मजदूरों ने मजदूरी की दर में वृद्धि चाही; जमीदारों ने इसका विरोध किया और किसानों पर अत्याचार करने प्रारम्भ किये। अब तक तो गरीब दास (किसान) यह समझते आये थे—और यही उनका धर्म, उनके धर्म-गुरु और धार्मिक नेता उनको बताते आये थे—कि दुनियां में यदि सामाजिक असमानता है—कोई धनी है, कोई गरीब है, कोई भूपति है, कोई मजदूर,—यह सब दैवी व्यवस्था है—ईश्वरीय करनी है—इसमें मनुष्य का कहीं भी कुछ भी दखल नहीं। किन्तु अब पीड़ित किसानों को भान होने लगा कि सामाजिक संगठन मनुष्य की ही कृति है—सामाजिक असमानता अन्याय है—अतः इस काल में यूरोप में स्थल-स्थल पर किसान विद्रोह हुए। इङ्गलैण्ड में एक गरीब पादरी जोहन बॅल ने गरीब किसानों की मूक भावनाओं को प्रखर वाणी दी और २० वर्ष तक जगह जगह वह मानव अधिकारों की समानता की घोषणा करता फिरा। उसने कहा—"जब आदम खेती करता था और हौवा कातती थी, तब कौन

सज्जन साहूकार था ?" अर्थात् सब प्राणी समान हैं—कोई ऊंचा नीचा नहीं। क्या अधिकार है भूपतियों को कि वे गरीब किसानों के कड़े परिश्रम पर मजे उड़ायें—किसान मेहनत करें और कुछ खायें नहीं—और वे मेहनत कुछ न करें और हथियालें सब कुछ।" इसी प्रकार की भावनायें कई देशों में अभिव्यक्त हुई और १४ वीं १५ वीं शतियों में कई किसान विद्रोह। वे सब क्रूरता से दबा दिये गये–किन्तु मध्य–युगीन सामंतशाही की जड़ उन्होंने उखाड़ फेंकी। संगठित समाज के प्रति जिसका आधार धर्म और ईश्वर बन चुके थे—इस प्रकार की विरोध भावना का प्रदर्शन—मानव इतिहास में पहली घटना थी।

प्राय: उपरोक्त ३—४ दिशाओं के झोंकों से कुछ होश में आकर यूरोप में पुनर्जागृति की लहर पैदा हुई जिससे आधुनिक मानस और आधुनिक युग का आगमन हुआ। जीवन के सभी क्षेत्रों में यह हुआ— इसका अध्ययन हम निम्न ४ धाराओं में करेंगे—१. मानसिक-बौद्धिक विकास। २. नई दुनियां नये देश एवं नये मार्गों की खोज। ३. सामाजिक एवं राजनैतिक मान्यताओं में परिवर्तन। ४. धार्मिक सुधार—जिसका विवेचन पृथक अध्याय में होगा।

१. मानसिक बौद्धिक विकास

प्रकृति में किसी परा (अलौकिक) प्रकृति-शक्ति का नियंत्रण नहीं है इस बात को मानकर प्रकृति का अध्ययन करना, उसका विश्लेषण करना यह काम प्राचीन ग्रीस में ही प्रारम्भ हो गया था, जब वहां के मानव ने मुक्त मानस और मुक्त चिन्तन का आभास दिया था। ग्रीक सभ्यता के पतन के साथ साथ यह मुक्त चिन्तन समाप्त हो चुका था। उसके बाद मुक्त चिन्तन द्वारा वैज्ञानिक छानबीन का कुछ काम मिस्र में टोलमी ग्रीक राजाओं द्वारा स्थापित अलेक्जेन्ड्रिया नगर में हुआ। मध्य-युग में ये बातें प्राय: समाप्त हो चुकी थीं यद्यपि कहीं कहीं अरब लोगों ने भारत और प्राचीन ग्रीक साहित्य के सम्पर्क से वैज्ञानिक परम्परा चालू रक्खी थी। ऐसा भी नहीं कि मध्य युग में इस परम्परा का एक भी नक्षत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ हो। मध्य युग के ही इटली का कलाकार लियोनार्दो दा विंची, इंजीनियरिङ्ग एवं वैज्ञानिक प्रवृत्तियों में भी व्यस्त था लिओनार्दो—मध्य युग एवं आधुनिक युग के बीच मानो एक कड़ी है। फिर मध्य युग में ही गिर्जाओं पादरियों के विहारों अथवा आश्रमों में अनेक वाद-विवाद होते थे, जो कि धार्मिक नैयायिक विवाद (Scholasticism) कहलाते थे। इनमें पादरी और धर्म-गुरु यही सिद्ध करने का प्रयत्न करते थे कि जितने भी ईसाई धर्म के सिद्धान्त हैं एवं इस धर्म से सम्बन्धित प्राचीन धर्म ग्रन्थों में जो सृष्टि सम्बन्धी तथ्य वर्णित हैं वे सब विज्ञान के अनुकूल हैं। इससे और कोई बात स्पष्ट हो या न हो, कम से कम इतना आभास तो अवश्य मिलता है कि उस युग में भी कुछ विचारक अवश्य ऐसे होंगे जो बुद्धिवाद के आधार पर बातों को सोचते होंगे। उपरोक्त विचारकों में रोजरबेकन का नाम उल्लेखनीय है। रोजरबेकन (१२१४–१२९४ ई) इङ्गलैण्ड में ओक्सफोर्ड का एक पादरी था। उसने मानव जाति को पुकार पुकार कर आदेश दिया कि प्रयोग करो, प्रयोग करो; प्राचीन विश्वासों और शास्त्र प्रमाणों से परिचालित मत हो। दुनियां की ओर देखो। रस्मरिवाज,

शास्त्रों के प्रति अन्ध आदर भाव एवं यह आग्रह कि ऐसी कोई भी नई बात जो शास्त्रोक्त न हो ग्रहण नहीं करना ये ही अज्ञान के मूल में है। इन संकीर्णताओं को दूर करोगे तो हे मनुष्यों तुम्हारे सामने असीमित शक्ति की एक नई दुनियां के द्वार खुल जायेंगे। उसी ने कहा था कि ऐसी मशीनों वाले जहाज बनना संभव है जो बिना मल्लाहों के भयंकर से भयंकर समुद्रों को पार सकें, ऐसी गाड़ियां संभव हैं जो बिना बैल, घोड़ों की सहायता के चल सकें और हवा में उड़ने वाली ऐसी मशीनें संभव हैं जिनमें मानव आकाश की यात्रा कर सके। वस्तुतः रोजरबेकन उस युग का एक प्रतिभ वान व्यक्ति था। १३ वीं १४ वीं शताब्दियों में ही कुछ ऐसे अर्ध वैज्ञानिक थे जो साधारण धातुओं यथा तांबा पीतल से अनेक प्रयोग करके स्वर्ण बनाने की फिक्र में थे एवं अनेक ऐसे ज्योतिष विद थे जो मनुष्यों का भाग्य बतलाने के लिए नक्षत्रों का अध्ययन किया करते थे। उनके उद्देश्यों में कोई तथ्य नहीं था, किन्तु उस बहाने कुछ वैज्ञानिक प्रयोग और अध्ययन अवश्य होता रहता था।

मध्य युग की इस पृष्ठभूमि में ग्रीक भावना, ग्रीक साहित्य, दर्शन और विज्ञान से यूरोप के मानव का १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सम्पर्क हुआ। लगभग इसी काल में कागज और मुद्रण का प्रचलन यूरोप में हुआ। यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि ये दोनों कलायें मंगोल और अरब लोगों के द्वारा चीन से पच्छिम में आई थी। इन बातों-बातों ने यूरोप में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। इन्हीं से यूरोप का पुनरुत्थान हुआ। १३वीं शती तक कागज बनाने की कला इटली तक पहुंच गई और वहां कई कागज के मील खुल गये। १४वीं शती के अन्त तक जर्मनी इत्यादि देशों में कागज का पर्याप्त उत्पादन होने लगा, इतना कि यदि पुस्तकें मुद्रणालयों में हजारों की संख्या में भी छपें तब भी पर्याप्त होगा। इसी के साथ-साथ इन्हीं वर्षों में मुद्रण-यन्त्रों का आविष्कार हो गया। सन् १४४६ ई. के लगभग कोस्टर (१३७०—१४४० ई.) नामक व्यक्ति होलेंड में एवं गूटनबर्क (१३९७—१४६८ ई.) नामक व्यक्ति जर्मनी में चलनशील अक्षरों यानी टाइप से मुद्रण कर रहे थे। सन् १४५४ ई. में लेटिन भाषा की पहिली बाइबल मुद्रित की गई। अकेले इटली के वेनिस नगर में दो सौ से अधिक मुद्रणालय हो गये इनमें एल्डीन का मुद्रणालय प्रसिद्ध था। यहां इटली के कवि, साहित्यकार और विचारक एकत्रित होते थे। मुद्रण और कागज की सहायता से ज्ञान का विस्तार हुआ, अनेक प्राचीन पुस्तकें छप-छप कर साधारण जन में फैल गई। उससे मानव मन को ज्ञान का आलोक प्राप्त हुआ। वह ज्ञान जो एक गुप्त रहस्य माना जाता था एवं पंडितों तक ही सीमित था, अब जन साधारण की निधि बन गया। यूरोप के मानव की बुद्धि प्रयास करने लगी अपनी मुक्ति और अभिव्यक्ति के लिए। १७वीं शती में पेरिस, ओक्सफोर्ड और बोलोना विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और उनका विकास हुआ। उनमें दार्शनिक वाद-विवाद होते थे और प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों यथा प्लेटो और अरस्तु का, धर्म शास्त्र एवं जस्टीनियन कानून का अध्ययन होता था। इसी युग में आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं जैसे अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, स्पेनिश तथा इटेलियन आदि का अभूतपूर्व विकास और उन्नति हुई। इटली, फ्रांस, इङ्गलैण्ड में मानव-मानस जो मानो बद्ध था,—मुक्त

होकर अब उल्लासमयी कल-कल धारा में प्रवाहित हो चला।

इटली में वहां के महाकवि दान्ते से प्रारंभ होकर (जिनका जिक्र अन्यत्र आ चुका है) लेखक पीट्राक (Petrarch) (१३०४-१३७३ ई.) की कविताओं में और बोकेटचो (१३१३-१३७५ ई.) (Boccaccio) की डेकामीरोन (Decacmeron) कहानियों में वहां की प्रतिभा प्रस्फुटित हुई। इस प्रतिभा की सबसे अधिक उदात्त और सुन्दर अभिव्यक्ति हुई वहां के कलाकारों में यथा लिओनार्डो डा विंची (१४५२-१५१६ ई.), माइकेल एन्जेलो (१४७५-१५६४ ई.) एवं रैफेल (१४८३-१५२० ई.) में। डा विंची के 'मोनालिसा' (Mona-lisa) चित्र को आज भी मानव चकित आंखों से देखता है। स्पेन में महान् साहित्यकार सरवेंटीज (१५४७-१६१६ ई.) (Cervanties) ने प्रसिद्ध शेखचिल्ली चरित्र डोन क्विक्सोट (Don Quixote) की, नाटककार कालडेरोन (१६००-१६८१ ई.) (Calderon) ने रोमांच की, एवं चित्रकार विलासक्वीज (१५९९-१६६० ई) (Velazquez) ने सुन्दर चित्रों की रचना की। नीदरलैंड, (हालैंड, बेलजियम) यद्यपि कोई महान् साहित्यकार पैदा नहीं कर सका, किन्तु वहां के चित्रकारों ने अपने देश के प्राकृतिक दृश्यों को चित्रित कर उनमें एक नये जीवन की उद्भावना की। जर्मनी में नव जागृति विशेषतः धार्मिक क्षेत्र में हुई; यहां बुद्धिवाद प्रखर रूप में प्रकट हुआ। फ्रांस में उत्पन्न हुए प्रसिद्ध लेखक रबेलास (Rebelais), निबंधकार मोंटेन (१५३३-१५९२ ई.) (Montaigne) जिनके निबन्ध सहज सरल मानवीय भावनाओं से हंसते हैं, नाटककार कॉर्नेल (१६०६-१६८४ ई.) (Corneille), रेसीन (Racine) और मोलयेर (१६२२-१६७३ ई.) (Moliere) एव कवि ब्वेलो (१६३६-१७११ ई.) (Boileau)।

इङ्गलैंड में सबसे प्रखर मानवीय वाणी उद्भापित हुई संसार के महाकवि शेक्सपियर (१५६४-१६१६ ई.) (Shakespeare) की। इसी लोक और प्रकृति की घटनाओं और मानवीय-चरित्र के आधार पर सत्य मार्मिक हृदयगत भावों के एक अद्भुत लोक की रचना उसने अपने नाटकों में की जो आज भी मन को उदात्त भावनाओं से आप्लावित और अनुप्राणित करता है, और युग-युग में करता रहेगा। सचमुच आश्चर्य होता है कि वह कौनसी उसके मस्तिष्क में और अन्तरलोक में चेतना की विभूति थी कि वह इतने वास्तविक किन्तु अनोखे सौन्दर्यमय लोक की सृष्टि कर सका। उसके रोमियो जूलियट (Romeo Juliet), ऐज यू लाइक इट (As you like it), मरचेंट आफ वेनिस (Merchant of Venice) और फिर ओथेलो, मैकबेथ, किंग लीयर, हेमलेट और टेम्पेस्ट (Othello, Macbeth, King Lear, Hamlet, & Tempest)—नाटक जिनमें जीवन और लोक की व्याख्या के अतिरिक्त अनुपम काव्य-सौन्दर्य भी है एवं उसके मुक्त गीत मानव चेतना को हर युग में आनंदानुभूति कराते रहेंगे। फिर १७वीं शती के उत्तरार्द्ध में महा कवि मिल्टन (१६०८–१६७४ ई.) का नाम उल्लेखनीय है जिसमें बुद्धिवाद, सात्विक धर्म और सौंदर्य भावना का अनुपम सामंजस्य है। उसके पेरेडाइज लोस्ट (Paradise Lost), पेरेडाइज रिगेंड (Paradise Regained) महा-

काव्य ईसाई धर्म की पृष्ठभूमि में मानव की आध्यात्मिक आकांक्षाओं को व्यक्त करने वाले उदात्त काव्य ग्रन्थ हैं। साथ ही साथ उस काल के मानवतावाद के प्रवर्त्तकों में से एक विशेष व्यक्ति थौमस मूर (Thomas Moore) (इङ्गलैंड १६०५—१६७२ ई. तक) का नाम उल्लेखनीय है। उसने ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के रिपब्लिक [Republic] के समान एक आदर्शात्मिक राज्य की कल्पना यूटोपिया [Utopia] नामक ग्रन्थ में की। "यूटोपिया" वस्तुतः एक काल्पनिक द्वीप था। जहां पर सब लोग मंगलमय मानवीय प्रकृति से प्रेरित होकर, वस्तुओं का समान बंटवारा करके, प्रत्येक प्रकार की असमानता से रहित स्वस्थ और सुखी जीवन बिताते थे। उस युग में जब अन्ध धार्मिक विश्वासों का आधिपत्य था, ऐसे साम्यवादी समाज की कल्पना करना जहां पर हर एक काम और व्यवस्था किसी भी परोक्ष सत्ता की मान्यता से मुक्त हो,—सचमुच एक साहस भरा काम था।

इस युग के यूरोपीय देशों के प्रायः सभी साहित्यकारों में ये विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं कि उनके विचार मध्य-युगीय नैयायिक अर्थात् धर्म सम्बंधी वाद-विवादों एवं मान्यताओं से मुक्त हैं। धार्मिक [Theological] सत्ता के प्रति उनमें विरोध भावना है, नये आकाश और नई पृथ्वी के प्रति जिसका दर्शन लोगों को तत्कालीन नक्षत्र-विद्या-वेत्ता एवं साहसी मल्लाह करा रहे थे, उनमें रोमांच का भाव है; एवं ग्रीक और रोमन साहित्य में और उसके द्वारा जीवन में उन्हें विशेष सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। मध्य-युग में न तो साहित्य का इतना ज्ञान था, न इतना विकास और प्रसार, और जो कुछ भी था वह एकाध को छोड़कर विशेषतः रूढ़िगत धार्मिक शास्त्रों और विचारों की सीमा में बद्ध था।

१६ वीं १७ वीं शताब्दियों में यूरोप में अनेक प्रतिभावान व्यक्तियों का उद्भव हुआ जिनका नाम विज्ञान के क्षेत्र में स्मरणीय है। इटली के लिओनार्डो डा विंची का नाम जो एक कलाकार होने के साथ-साथ प्रकृति विज्ञानवेत्ता एवं वनस्पति-शास्त्री भी था, पहिले भी आ चुका है। पोलेण्ड के विज्ञानवेत्ता कोपरनिकस (१४७३—१५४३) ने आकाश के नक्षत्रों की चाल का गहन अध्ययन किया और यह सिद्ध किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है न कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर जैसा ईसाई धर्मी लोग विश्वास करते थे। इटली के विज्ञान-वेत्ता गेलिलियो (१५६४—१६४२) ने 'गति विज्ञान' (Science of motion) की नींव डाली और सबसे पहला दूर-दर्शक-यन्त्र (Telescope) बनाया। फिर संसार के महान् वैज्ञानिक न्यूटन ने (१६४२—१७२६) भौतिक विज्ञान की दृष्टि से इस विश्व की एक रूप-रेखा प्रस्तुत की और नक्षत्रों में आकर्षण शक्ति के सिद्धान्त का आविष्कार किया। विज्ञान की प्रगति की विधिवत् जानकारी रखने के लिये लन्दन में सन् १६१२ ई० में 'रोयल-सोसायटी' की स्थापना हुई और फिर कुछ ही वर्ष बाद फ्रांस में भी ऐसी ही एक अन्य संस्था की स्थापना हुई। दार्शनिक क्षेत्र में दो महान् व्यक्ति हुए जिन्होंने सब प्रकार की 'परोक्ष, परा-प्रकृति' शक्ति से अबाधित और मुक्त, प्राकृतिक और सृष्टि विज्ञान की नींव डाली थी। दो व्यक्ति थे—इंगलैंड के फ्रांसिस बेकन (१५६१-१६२६) और फ्रांस के देकार्त (Descartes-१५९६—१६५० ई०)।

उन्होंने वतलाया कि यह दृश्य संसार एक वास्तविक सत्य वस्तु है। इसके रहस्यों का उद्‌घाटन प्रायोगिक ढङ्ग से होना चाहिये। ऐसे विचारों के प्रभाव से ही मानव मन स्वर्ग, नर्क, देव, भूत इत्यादि के अनेक निर्मूल भयों से मुक्त हुआ और वह अपने सुख दुःख का कारण इसी प्रकृति और समाज संगठन में ढूंढने लगा न कि किसी देव या भूत में।

२. नई दुनियां एवं नये मार्गों की खोज

[मानव के भौगोलिक ज्ञान में वृद्धि]

प्राचीन काल में क्या भारत, क्या चीन एवं क्या ग्रीस और रोम में, कहीं भी लोगों को पृथ्वी की भौगोलिक स्थिति एवं पृथ्वी पर स्थल भाग और जल भाग की स्थिति का स्पष्ट ज्ञान नहीं था। वहुधा यही विश्वास था कि पृथ्वी चपटी है गोल नहीं। प्राचीन भारत में चीनी और ग्रीक यात्रियों के भारत-यात्रा के वर्णन मिलते हैं किन्तु वे एक देश विशेष और वहां की सामाजिक स्थिति के वर्णन हैं न कि कोई भौगोलिक वर्णन। धर्म ग्रन्थों में दुनिया के मानचित्रों का वर्णन मिलता है, किन्तु वह सब धार्मिक, आध्यात्मिक दृष्टि से किया हुआ वर्णन है। उससे इस पृथ्वी और इसके देशों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं होता, न तत्कालीन भिन्न—भिन्न देशों के सही मानचित्र का। प्राचीन हिन्दू जैन साहित्य में एवं यहूदी वाइवल और ईसाई वाइवल और अन्य धर्म पुस्तकों में भिन्न-भिन्न लोकों का जिक्र आता है किन्तु उन लोकों की कल्पना धार्मिक अथवा आध्यात्मिक आधार पर की हुई है। अनेक नगरों एवं देशों का भी जिक्र आता है किन्तु वह जिक्र भारत, मध्य एशिया, ग्रीस, रोम, चीन, पूर्वीय द्वीप समूह (वृहत्तर भारत), पश्चिमी एशिया एवं उत्तरी अफ्रीका तक ही प्रायः सीमित है। यह केवल जिक्र है, उस वक्त में देशों के मानचित्र, प्राकृतिक दशा आदि का सुसंगठित ज्ञान नहीं। मध्य अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, प्रशांत महासागर, व उसमें स्थित अनेक अन्य द्वीप एवं अमेरिका उस काल में अज्ञात थे। प्राचीन काल में केवल मिस्र के ग्रीक शासक टोलमी, के जमाने का भौगोलिक विज्ञान संवधी एवं मानचित्र वनाने की विज्ञान कला का कुछ साहित्य उपलब्ध होता है और कुछ नहीं।

वस्तुतः तो १५ वीं १६वीं शताब्दी में जब से यूरोप के मानव की दृष्टि इसी दुनिया और प्रकृति की ओर अधिक आकृष्ट हुई तभी से पृथ्वी के देशों का अन्वेषण होने लगा, उनके आन्तरिक भागों की खोज होने लगी। उनके संवंध में भौगोलिक ज्ञान सगृहीत किया जाने लगा और वैज्ञानिक ढङ्ग से (अक्षांश देशान्तर के आधार पर) दुनिया और देशों के मानचित्र वनाये जाने लगे। सन् १४७४ में इटली के टोस्कानेली (Toscanelli) ने यह चार्ट तैयार किया जिससे मार्ग-दर्शन पाकर अटलांटिक महासागर के पार नाविकों ने यात्रायें की और नये द्वीपों और नये देशों का पता लगाया। इस दुनिया एवं प्रकृति की खोज के प्रति पूर्व का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। पूर्वीय देशों के लोग इस वात में काफी पिछड़ गये। १८वीं शती के उत्तरार्द्ध में जब भारत में एक तरफ अंग्रेजों का प्रभुत्व वढ़ रहा था और दूसरी ओर भारतीय मराठों की शक्ति भी वढ़ रही थी तब मराठा शासकों ने भारत का एक मानचित्र तैयार

करवाया था और उसी समय में कुछ अंग्रेज अन्वेषकों ने, जो विदेशी थे अतः जिनका भारत का भौगोलिक ज्ञान भारतीयों की अपेक्षा जो भारत में ही हजारों वर्षों से रह रहे थे बहुत कम होना चाहिये था, भारत का एक मानचित्र तैयार किया। अंग्रेज अन्वेपकों ने जो नकशा तैयार किया था वह आज के भौगोलिक ज्ञान के प्रकाश में जब हम देखते हैं तो सही निकलता है और जो नकशा मराठा शासकों ने तैयार करवाया था वह गलत। यह तो यूरोप में पुन: जागृति काल के बाद की बात है किन्तु मध्य युग में तो वह एक स्थिर गतिहीन स्थिति में था, बद्ध अन्धकारमय स्थिति में।

मध्ययुग में यूरोपवासी समुद्र यात्रा से प्राय: बहुत डरते थे। तत्कालीन विद्वान यह समझते थे कि समुद्रों के आगे भूत प्रेतों का देश है, यहां पर नरक के द्वार हैं, राह में जलती हुई अग्नि है। पुनर्जागृति काल में मानसिक मुक्ति के साथ साथ तथ्यहीन विश्वास खत्म हुआ और अनेक साहसी लोग समुद्र की अनेक लम्बी यात्राओं पर निकल पड़े। इन लोगों में खोज का उत्साह था। मध्य युग में फारस की खाड़ी, लाल सागर, अरब सागर और भूमध्य-सागर में विशेषतया अरब मुसलमान मल्लाहों के जहाज चलते थे। अरब मुसलमानों का पीछा करते हुए, ईसाई मजहब फैलाने के विचार से यूरोपीय मल्लाह कई दिशाओं में निकल पड़े। इस समय कस्तुनतुनियां पर तुर्क लोगों का अधिकार होने की वजह से और भूमध्यसागर में तुर्क लोगों की शक्ति बढ़ने से यूरोपीय लोगों को यह भी जरूरत महसूस हुई कि वे भूमध्यसागर के अतिरिक्त कोई दूसरा सामुद्रिक रास्ता पूर्व को जाने का ढूंढ निकालें। यूरोपीय देशों में परस्पर प्रतिस्पर्धा हुई कि पूर्व के साथ उनका व्यापार एक दूसरे की अपेक्षा खूब बढे। इस काम में सर्वाधिक अगुआ दो देश रहे–पुर्तगाल और स्पेन। पुर्तगाल में एक शासक हुआ जिसका नाम हेनरी था। इतिहास में वह नाविक (१३९४-१४६० ई०) Henry the Navigator के नाम से प्रसिद्ध है। उसने यूरोप के लोगों को वह प्रेरणा दी जिससे समस्त संसार उनके ज्ञान और अनुभव की परिधि में आ गया।

(१) अमेरिका की खोज

इटली के जिनोआ नगर के वासी कोलम्बस (१४४६–१५०६) ने इस विचार से कि दुनियां गोल है, भारत तक पहुँचने के लिए यह सोचा कि यदि वह पच्छिम की ओर समुद्र पर चलता रहा तो किसी न किसी दिन वह भारत पहुंच जायेगा। उसके इस साहसी काम में पहिले किसी ने मदद नहीं की, किन्तु बाद में स्पेन के कुछ व्यापारियों ने कोलम्बस की मदद की, और स्पेन के राजा और रानी फर्डीनेंड और ईसाबेला ने उसको आज्ञा पत्र दिया। तीन जहाज उसने तैयार किये और ८८ आदमियों को लेकर वह अज्ञात समुद्रों पर यात्रा के लिए निकल पड़ा। अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए लगभग सवा दो महिने की खतरनाक यात्रा के बाद ११ अक्टूबर सन् १४९२ के दिन वह नई दुनियां के किनारे पर जा लगा। कोलम्बस ने तो सोचा यह भारत था किन्तु वास्तव में यह यह एक नई दुनियां थी—अमेरिका महाद्वीप, जहां पर उस समय तांबे के रंग के असभ्य लोग रहते थे जो (Red Indians)

कहलाए। दुनियां के इतिहास में यह एक अपूर्व घटना थी।

सन् १५०० ई० में पुर्तगीज नाविक पेड्रो ने अमेरिका के उस भाग की खोज की जो ब्राजील कहलाता है। सन् १५१९ ई० में स्पेनिश नाविक कोर्टेज अमेरिका की ओर बढ़ा और उसने वहां के उस भाग में प्रवेश किया जो आज कल मैक्सिको है। वहां के आदि निवासी रेड इन्डियन (Red Indian) थे और जिनमें सौर-पाषाणी सभ्यता से मिलती जुलती ऐजटेक (Aztec) सभ्यता प्रचलित थी—उनको पदाक्रान्त किया और मैक्सिको में स्पेन का झण्डा फहराया। इसी प्रकार सन् १५३० में एक अन्य स्पेन नाविक पिजारों ने अमेरिका के उस भाग में जो आधुनिक पीरु है, स्पेन का झण्डा फहराया और वहां प्रचलित पीरुवियन सभ्यता को ध्वस्त किया। फिर तो यूरोपीय लोगों का तांता बंध गया और दो सौ वर्षों के अन्दर–अन्दर उत्तर और दक्षिण अमेरिका में यूरोपीय जाति के लोगों के बड़े बड़े राज्य स्थापित हो गये।

(२) अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत के नये सामुद्रिक राह की खोज

सन् १४९८ ई० में पुर्तगाल निवासी वास्कोडिगामा अफ्रीका का चक्कर काट कर भारत पहुंचा और इसी रास्ते में यूरोपीय देशों का भारत और पूर्व के अन्य देशों से व्यापार होने लगा। सन् १८६९ ई० तक जब एक फ्रांसीसी इंजिनियर द्वारा निर्मित स्वेज नहर खुली, यूरोप का व्यापार भारत और चीन से इसी राह से हुआ। इसी सिलसिले में सन् १५१५ ई० में कई पुर्तगाली जहाजें मलक्का, जावा, सुमात्रा आदि पूर्वीय द्वीपों में पहुँच गईं। समुद्र की राह से पूर्व का रास्ता खुल गया और पूर्व और पश्चिम का धीरे धीरे सम्पर्क बढ़ने लगा।

(३) दुनियां की परिक्रमायें

(अ) सन् १५१८ ई० में एक रोमांचकारी घटना हुई। एक पुर्तगाली नाविक जिसका नाम मेलन (१४८०–१५२१ई०) (Magellan) था, स्पेन के बादशाह से सहायता लेकर, पांच जहाज और २८० आदमी अपने साथ लेकर दुनियां को ढूंढने के लिये स्पेन से निकल पड़ा। भयंकर महासमुद्रों को पार करता हुआ, अटलान्टिक महासागर और फिर दक्षिण अमेरिका होता हुआ, फिर प्रशान्त महासागर पार करता हुआ लगभग आठ महिनों की खतरनाक यात्रा के बाद वह कुछ अज्ञात द्वीपों पर पहुँचा। ये द्वीप फिलीपाइन द्वीप थे। इस प्रकार मैंजेलन को ही फिलीपाइन द्वीपों का खोज करने वाला माना जाता है। मैंजेलन तो फिलीपाइन द्वीपों में वहां के आदि निवासियों द्वारा मारा गया किन्तु उसके पांच जहाजों में से एक जहाज जिसका नाम विट्टोरिया था, और उसके कुछ साथी सन् १५२२ ई० में सारी पृथ्वी का चक्कर लगा कर फिर से स्पेन पहुँचे। इतिहास में यह सर्वप्रथम जहाज था जिसने सम्पूर्ण पृथ्वी की परिक्रमा की।

इंगलैण्ड का प्रसिद्ध नाविक सर फ्रांसिस ड्रेक (Sir Francis Drake) सन् १५७७ ई० में सामुद्रिक राह से विश्व की परिक्रमा करने के लिए निकला।

अटलान्टिक महासागर को पार करता हुआ, दक्षिण अमेरिका के मगेलन अन्तरीप के समीप पहुंचकर किनारे किनारे चलता हुआ उत्तर अमेरिका के केलीफोनिया प्रान्त तक पहुंचा। वहां से उसने विशाल प्रशान्त महासागर में प्रवेश किया। उसको पार करता हुआ, पूर्वीय द्वीप समूहों के नजदीक चलता हुआ वह हिन्द महासागर में दाखिल हुआ; वहां से अफ्रीका का चक्कर काटता हुआ तीन वर्ष की शानदार यात्रा के बाद सन् १५८० ई० में अपनी जन्मभूमि इंगलैंड पहुंचा।

(४) अफ्रीका

वैसे तो अफ्रीका अति प्राचीन काल से ही एक ज्ञात देश था, किन्तु उसके केवल भूमध्यसागर तटीय प्रदेश एवं वहां की नील नदी की उपत्यका में स्थित मिस्र देश ही विशेष ज्ञात थे, इस महाद्वीप की शेष विशाल भूमि अज्ञात थी, अन्धकार से आच्छादित। प्राचीन युग में मिस्र के फेरो निशो की प्रेरणा से उसके नाविकों ने समस्त अफ्रीका तट की परिक्रमा की थी किन्तु वह एक पुरानी बात हो गई थी और प्रायः भुला दी गई थी। आधुनिक युग में सर्वप्रथम स्पेन के नाविक दीआज (१४५०-१५०० ई०) (Dias, सन् १४८६—८७ ई० में स्पेन से रवाना होकर आधुनिक सम्पूर्ण पश्चिमी तट का चक्कर लगा कर दक्षिण छोर तक पहुंचा, तभी से उस सुदूर दक्षिण छोर का नाम आशा अन्तरीप हुआ। किन्तु अब तक भी समस्त आंतरिक प्रदेश अज्ञात ही था; आंतरिक प्रदेशों की खोज १९वीं शती के मध्य मे जाकर हुई। इङ्गलैंड के डेविड लिविंगस्टोन (१८४९-७३) ने अफ्रीका में दूर अन्दर तक प्रदेशों की कई यात्रायें कीं और उन प्रदेशों की वैज्ञानिक ढङ्ग से जानकारी हासिल की। वृक्षों की घनता में छिपे हुए सांप अजगरों की फूंकार से फुस-फुसाते हुए, मृत्यु रूपी सिंह, चीतों की दहाड़ से गरजते हुए, मलेरिया मच्छरों से आच्छादित भयावह अंधियारे जंगलों में और फिर हजारों वर्ग मील लम्बे चौड़े सूखे, तप्त निर्जल रेगिस्तानों में पग-पग घूम कर उन प्रदेशों की खोज करना, मानव इतिहास की सचमुच एक रोमांचकारी कहानी है।

(५) आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड एवं तस्मानिया

डच नाविक अबेलटास्मन (१६०२-१६५९ ई०) (Abel Tasman) ने १७ वीं शती में सर्वप्रथम न्यूजीलैण्ड का पता लगाया। १७ वीं शताब्दी में कई यूरोपीय खोजकों ने आस्ट्रेलिया और तस्मानिया के तटों का भी पता लगा लिया था किन्तु अभी तक इन देशों के अन्दरूनी हिस्सों में कोई भी नहीं पहुंचा था। १८ वीं शती में केपटन कुक (१७२८-१७७९ ई०) ने आस्ट्रेलिया के पूर्वीय तटों की खोज की किन्तु तब भी कोई भी यूरोपीय लोग वहां जाकर नहीं बसे। १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सुदूर मध्य आस्ट्रेलिया को छोड़ कर शेष प्रायः समस्त आस्ट्रेलिया का नकशा खोज करके बना लिया गया था। उसी जमाने में आस्ट्रेलिया अंग्रेजों का एक उपनिवेश बना।

(६) खोज की वह परम्परा जो रिनेसां युग में प्रारम्भ हुई, अब तक चालू है और निःसन्देह मानव इस परम्परा को बनाये रखेगा। १९ वीं

शताब्दी के मानव ने प्रायः सारी पृथ्वी की खोज कर डाली थी किन्तु अभी तक वह पृथ्वी के उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव तक नहीं पहुंच पाया था। यह काम भी मानव ने किया। ६ अप्रेल सन् १९०९ के दिन अमरीका देश का साहसी यात्री पियरी (१८५६-१९२० ई०) (Robert Edwin Peary) भयंकर ठंडे, सदा बर्फ से ढके हुए उत्तरीय ध्रुव में पहुंचा, और इसी प्रकार ठण्डे दक्षिणी ध्रुव पर नार्वे के साहसी नाविक आमनसेन (१८७२-१९२८) (Amundsen) ने दिसम्बर १९११ ई० में विजय प्राप्त की। नाविकों एवं वायुयान उड़ाकुओं की पृथ्वी के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव की यात्रायें मानव साहस की रोमांचकारी गाथायें हैं।

इस प्रकार नये मार्गों, नये देशों एवं नये प्रदेशों की खोज में सर्वप्रथम स्पेन और पुर्तगाल के नाविक निकले एवं १५-१६ वीं शताब्दियों में विशेष उनका ही प्रभाव रहा, किन्तु फिर इस साहसी कार्य की ओर डच (होलेण्ड) अंग्रेज और फ्रांसीसी लोगों का भी ध्यान गया, जब उन्होंने देखा कि स्पेन-वासी और पुर्तगीज तो बहुत धनिक हो रहे हैं। जर्मनी उस समय तक एक पृथक राज्य नहीं बन पाया था, वह पवित्र रोमन साम्राज्य का ही एक अंग था अतः उसका ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं हो सकता था। धीरे-धीरे अंग्रेज, फ्रांसीसी, स्पेनिश, डच और पुर्तगीज लोगों के इन नये देशों में, यथा उत्तर अमेरिका, दक्षिण अमेरिका, पच्छिमी द्वीप समूह, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड, फिलीपाइन द्वीप, पूर्वीय द्वीप समह में अनेक उपनिवेश और बड़े-बड़े राज्य स्थापित हो गये। यूरोपीय लोगों के आने से पूर्व ये विशाल देश सर्वथा भयंकर जंगलों से आच्छादित थे। कह सकते हैं कि वे अन्धेरे में पड़े थे, मानव निवास के सर्वथा अयोग्य। यूरोपीय लोगों ने अथक परिश्रम और अध्यवसाय से जंगलों को साफ किया, भूमि को रहने योग्य बनाया और तब कहीं ये देश प्रकाश में आये। इन देशों के आदि निवासी सर्वथा असभ्य थे। कहीं-कहीं जैसे पीरु मैक्सिको, पूर्वीय द्वीप समूह में सोरपाषाणी सभ्यता से कुछ मिलती-जुलती सभ्यता प्रचलित थी। ये आदि निवासी संख्या में बहुत कम थे, इनको पदाक्रान्त करके या कहीं-कहीं इनको सर्वथा विनिष्ट करके (जैसे तस्मानिया में) ही यूरोपीय लोगो ने अपने उपनिवेश बसाये। अमरीका के रेडइण्डियन और अफ्रीका के हब्शी आदि निवासी आज तो काफी सभ्य स्थिति में हैं और वे दूसरी सभ्य जातियों के साथ कन्धा से कन्धा जुड़ा कर चलने की तैयारी में हैं।

कह नहीं सकते कि अपनी इस पृथ्वी के सभी द्वीपों की खोज कर ली गई है। सम्भव है महासागरों में इधर उधर अब भी अनेक टापू अज्ञात पड़े हों। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उपरोक्त देशों और द्वीपों की खोज ने मानव की इस दुनिया को विस्तृत बना दिया और उसके इतिहास में एक नई गति पैदा कर दी।

३. सामाजिक एवं राजनैतिक मान्यताओं में परिवर्तन

मध्य युग में आर्थिक संगठन का मुख्य रूप था-सामन्तवाद। उसमें दो वर्गों के लोग थे। उच्च वर्ग-जमींदार, राजा और पादरी, निम्न वर्ग-किसान

मजदूर (सर्फ)। इन्हीं दो वर्गों के इर्द-गर्द साधारण हस्त-उद्योग में लगे हुए भी कुछ लोग होते थे। आधुनिक युग के प्रारम्भ होते होते व्यापार और हस्त-उद्योग में पर्याप्त वृद्धि हुई—इस वृद्धि में मुख्य सहायक दो बातें थीं—नये देशों और नये व्यापारिक मार्गों की खोज। इसके फलस्वरूप व्यापारियों के एक स्वतन्त्र मध्यवर्ग का विकास हुआ—इसी वर्ग के उत्पन्न होने के फलस्वरूप सामन्तवादी व्यवस्था शनैः-शनैः विच्छिन्न हो गई। अब तक सामन्तों की शक्ति पर ही राजा की शक्ति आधारित थी—क्योंकि सामन्त लोग ही फौजी सिपाही रखते थे—किन्तु अब गोला बारूद का आविष्कार हो चुका था—राजा को विशाल व्यापारिक संस्थाओं, बैंकों से रुपया मिल सकता था—अतः उसे सामंतों पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रही। इसलिए राजा सामन्तों को धीरे-धीरे खत्म कर सके और शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य स्थापित कर सके। अपने अपने प्रदेशों का व्यापार बढ़ाने की आकांक्षा से स्थानीय एवं तदुपरान्त राष्ट्रीय भावना का विकास होने लगा एवं सामन्ती व्यवस्था के स्थान पर राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना होने लगी। एक सामन्तवादी ईसाई यूरोपीय राज्य की जगह—या पवित्र रोमन राज्य के विचार के बदले, अब पृथक-पृथक राष्ट्रीय राज्यों—यथा इङ्गलैण्ड, फ्रांस, होलैंड स्पेन, पुर्तगाल इत्यादि की उद्‌भावना हुई। साथ ही साथ राष्ट्रीय राज्यों के राजाओं में पूर्ण एकतन्त्रवाद का विचार घर करने लगा—अतः द्वन्द्व का भी एक नया कारण समाज में उत्पन्न हो गया यथा राजा की सत्ता और प्रजा के अधिकारों में द्वन्द्व। इन्हीं परिस्थितियों में इटली के फ्लोरेंस नामक नगर में प्रसिद्ध राजनैतिक विचारक मकयाविली (१४६९-१५२७ ई०) (Machiavelli) का उदय हुआ—जिसने प्रिन्स (Prince) नामक ग्रन्थ की रचना की—जिसका मुख्य उद्देश्य राजाओं को यही राजनैतिक सबक सिखाना था कि वे (राजा लोग) किन्हीं भी साधनों से नैतिक हो अथवा अनैतिक, पूर्ण शक्तिमान बने रहें—वे पूर्ण सत्ताधारी हों। इस विचार ने पोप की अथवा गिरजा की शक्ति को ध्वस्त करने में और राजाओं द्वारा एकतन्त्रवादी निरंकुश सत्ता स्थापित किये जाने में बड़ी सहायता दी। सचमुच मकयाविली की विचारधारा ने यूरोप में निरंकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy) का एक युग ला खड़ा किया।

आधुनिक युग का आगमन

एक सिंहावलोकन—मध्य युग की अंतिम शताब्दियों में, यथा १४ से १६ वीं शताब्दियों में यूरोप में मानव चेतना में नव जागृति आई। वह मानव जो अपने आप को अकिंचन समझे हुए था, जिसके विचारों का क्षेत्र गिरजा की चार दिवारी तक ही सीमित था, उठा और उसमें अपनी क्षमता, अपनी शक्ति के प्रति आत्मविश्वास पैदा हुआ, उसमें एक स्फूरणा उत्पन्न हुई विशाल कर्म और विचार क्षेत्र में स्वतन्त्र विचरण की अनेक शताब्दियों से प्रचलित सर्फडम, सामन्तवादी समाज और सामन्तवादी राजनैतिक संगठन ध्वस्त हुए, व्यक्ति ने जो धार्मिक व सामाजिक अन्धविश्वासों का गुलाम था व्यक्तित्व, स्वतन्त्रता की अनुभूति की, एक स्वतन्त्र मध्यवर्गीय जन का उत्थान हुआ और सामन्ती राज्य की जगह केन्द्रीभूत राष्ट्रीय राज्यों का। कला, साहित्य में

नये सौन्दर्य, दर्शन में स्वतन्त्र विचारणायें और सर्वोपरि प्रकृति का निरीक्षण करते हुए, विज्ञान में नई उद्‌भावनायें उत्पन्न हुई। नये मार्गों, नये देशों, नये संसार की खोज हुई। मानव का दृष्टिकोण विशाल बना उसकी बुद्धि स्वतन्त्र और वह स्वयं उल्लसित और गतिशील। आधुनिक युग में मानव प्रविष्ट हुआ और उसने अपनी यात्रा प्रारम्भ की। सन् १६०० ई० की यह बात है। मानव की यह महानता, उसका यह मुक्त भाव, जागृति की यह आत्म अभिव्यक्त हुई, अपने सुन्दरतम रूप में उसी युग के महानतम कवि में, जब उसने मुक्त भाव से यह गाया।[1]

"मनुष्य भी क्या एक अद्‌भुत कृति है! बुद्धि में कितना श्रेष्ठ, प्रतिभा में कितना अनन्त! गठन और चाल में कितना प्रभावोत्पादक और प्रशंसनीय! कार्य में कितना देव सम! अन्तस में ईश्वर तुल्य! सृष्टि का सौन्दर्य, प्राणियों में महान!" —शेक्सपीयर

1. "What a piece of work is a man! how noble in reason! how infinite in faculty! in form and moving how express and admirable! in action how like an angel! in apprehension how like a God! the beauty of the world! the paragon of animals!" —Shakespeare

१६

यूरोप में धार्मिक सुधार (१५००-१६४८)

(THE REFORMATION IN EUROPE)

पूर्व अध्याय में कहा जा चुका है कि यूरोप में किस प्रकार मानव चेतना पुनर्जागृत हुई, प्रत्येक तथ्य को वह अन्वेषक की दृष्टि से देखने लगी। कई शताब्दियों से संसार में जमे हुए धार्मिक विश्वासों को भी उसने इसी दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया। इस स्वतन्त्र चिंतन से मानव जब प्रेरित हुआ तो उसने देखा कि धार्मिक-विश्वास के कई प्रचलित रूपों में-कई रस्मों में विशेष तथ्य नहीं है—केवल इतना ही नहीं—वे बाह्यारूप और रस्म पतित हो चुके हैं।

सुधार की आवश्यकता

(१) चर्च में बुराइयां

इस युग के पोप, बड़े बड़े गिरजाओं के बड़े-बड़े बिशप (पादरी इत्यादि) सब धन एवं पार्थिव सत्ता संगृहीत करने में एवं राजाओं की तरह सत्ता का क्षेत्र विस्तृत करने में व्यस्त थे, सच्ची धार्मिक भावना उनमें लुप्त थी। रोम का पोप जो समस्त ईसाई दुनियां का एकमात्र धर्मगुरु और अधिनायक था, धन एकत्रित करने के लिए अपने अधीनस्थ पादरियों के द्वारा समस्त ईसाई देशों के नगर-नगर गांव-गांव में ऐसे पाप-विमोचन 'प्रमाण-पत्र' (Indulgences) बेचा करता था जिनका आशय यह था कि जो कोई भी उनको खरीद लेगा, मानो वह अपने पापों और दुष्कर्मों के फल से मुक्त हो जायेगा। ऐसी दशा थी सर्वसाधारण जन में। धर्म, ईसा, पोप और चर्च के प्रति ऐसी अटूट श्रद्धा। धार्मिक मामलों में स्वतन्त्र विचार और स्वतन्त्र विश्वासों की कोई गुन्जाइश नहीं थी।

(२) राजनैतिक कारण

यूरोप में कृषि योग्य भूमि के विशाल भागों का पट्टा भिन्न-भिन्न गिरजाओं के नाम था, जिसकी सब आय पादरियों के पास जाती थी और

उस आय का एक मुख्य भाग रोम के पोप के पास। इस व्यवस्था से राजाओं को बड़ी अड़चन महसूस होने लगी—जब कभी युद्धादि के लिए उन्हें धन की आवश्यकता होती थी तो इन गिरजाओं के आधीन विशाल क्षेत्रों की आय से वे महरूम रहते थे—इससे कई राजनैतिक प्रश्न खड़े हो गये और राजाओं और पोप में परस्पर विरोध का एक कारण उपस्थित हो गया। साथ ही साथ यूरोप के भिन्न भिन्न प्रदेशों में पृथक पृथक प्रादेशिक राष्ट्रीय भावना का उदय होने लगा था और प्रादेशिक राजा अपने अपने क्षेत्र में रोम के पोप और धार्मिक पादरियों की सत्ता से मुक्त अपने स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्य कायम करने की उत्कंठा में थे। वे इस प्रयत्न में थे कि चर्च और पादरी उनकी राजकीय सत्ता में बाधक न हों, बल्कि वे उनके आधीन रहें।

सुधारक लूथर

प्रोटेस्टेनिज्म (Protestanism)

ऐसी परिस्थितियों में जर्मन में एक महान् सुधारक का उदय हुआ जिसका नाम मार्टिन लूथर (१४८३—१५४६) था। एक किसान के घर में उसका जन्म हुआ था। अपने जीवन का प्रारम्भिक भाग उसने एक ईसाई-विहार में कठोर संयम नियम से व्यतीत किया। १५१० में उसने रोम की यात्रा की जहां पोप की पोल स्वयं उसने अपनी आखों से देखी, उसे प्रेरणा मिली। सच्ची भावना से प्रेरित हो धर्म सुधार का उसने निश्चय किया। परिस्थितियां अनुकूल थी हीं। अपने अदम्य उत्साह से धार्मिक सुधार की एक लहर उसने पैदा कर दी—पहिले जर्मनी में और फिर समस्त यूरोप में। वैसे लूथर के उदय होने के पूर्व भी धार्मिक गिरावट के विरुद्ध कुछ साहसी आत्माओं ने आवाज उठाई थी जिसमें इंगलैंड के विक्लिफ (मृ० १३८४ ई०), बोहेमिया (जर्मनी) के जीहनहस (१३६९—१४१५ ई.), फ्लोरेंस (इटली) के सवोनारोला (१४५२—१४९८ ई.) उल्लेखनीय हैं। कैथोलिक चर्च की कट्टरता इतनी जबरदस्त थी एवं धार्मिक स्वतन्त्रता इतनी अमान्य समझी जाती थी कि हस और सवोनारोला को तो जिन्दा जला दिया गया था।

लूथर के सुधार

पोप का भेजा हुआ एक पादरी जर्मन में "पोप विमोचन प्रमाण पत्र" बेचने आया। लूथर ने इसका घोर विरोध किया। उसने लेख और पुस्तकें प्रकाशित की और घोषणा की कि पोप (जो पाप-मुक्त एवं गलतियों से परे माना जाया करता था) भी पाप से मुक्त नहीं है, वह भी गल्ती कर सकता है। "पोप विमोचन प्रमाण-पत्र" एवं रोमन चर्च की अनेक अन्य मान्यतायें पाखंड है। बाइबिल ही केवल एक प्रमाण है, वही एक सत्य वस्तु है। प्राचीन रोमन कैथोलिक चर्च में अंग भंग हुआ, बहुत से ईसाई इसके प्रभाव से निकल कर लूथर के अनुयायी बन गये जो प्रोटेस्टेंट कहलाये। रोमन कैथोलिक चर्च से पृथक प्रोटेस्टेन्ट चर्च की स्थापना हुई। अब तक तो समस्त ईसाई प्रदेशों में रोमन कैथोलिक चर्च की, जिसका अधिनायक रोम का पोप था, सार्वभौम सत्ता

थी, अब इस सार्वभौम सत्ता से मुक्त जिन देशों ने प्रोटेस्टेनिज्म स्वीकार किया, उन्होंने अपनी अपनी पृथक राष्ट्रीय चर्चें स्थापित कर लीं। इंगलैंड, नोर्वे, स्वीडन, डेनमार्क, उत्तरी जर्मन एवं कहीं-कहीं फ्रांस में प्रोटेस्टेन्ट चर्चें स्थापित हुईं। इटली, स्पेन, फ्रांस, दक्षिणी जर्मनी, पोलैंड, हंगरी, आयरलैंड, कैथोलिक चर्च के साथ रहे। पूर्वीय यूरोप में सुधार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। ग्रीस, बुलगारिया, रुमानिया, समस्त रूस पृथक "ग्रीक चर्च" के साथ रहे। इसका उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है। लूथर ने तो एक लहर पैदा कर दी थी, उसके प्रभाव से अन्य सुधारक भी पैदा हुए। स्वीटजरलैंड में जोन कालविन (John Calvin) (१५३६-१५५४) ने इस विश्वास से प्रेरणा पाकर कि मनुष्य ईश्वर पर ही पूर्णतः आश्रित है, जन्मकाल से ही मनुष्य का भाग्य ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट कर दिया जाता है—चर्च का लोकतन्त्रीय आधार पर सगठन किया। रोमन कैथोलिक चर्च में तो पोप या उच्चाधिकारी पादरी सर्वेसर्वा थे, उसकी व्यवस्था में जनता का कुछ भी अधिकार नहीं; प्रोटेस्टेन्ट चर्च के संगठन में राज्य (State) का अधिकार रहा; कालविन ने ऐसा संगठन बनाना चाहा जिसमें चर्च राज्य की दखलअन्दाजी से मुक्त हो किन्तु साधारण जन का उसकी व्यवस्था में अधिकार हो। कालविन द्वारा संगठित चर्च प्रेसबाइटेरियन चर्च कहलाई। स्वीटजरलैंड एवं स्कॉटलैंड में ऐसे चर्चों की स्थापना हुई।

धार्मिक सुधार होने के लिए क्या विशेष कारण उपस्थित हो गये थे इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है यथा चर्च, पादरियों, धर्माचार्यों इत्यादि में गिरावट पैदा हो जाना एवं राजनैतिक शासन क्षेत्र में राजाओं में यह महत्वाकांक्षा उत्पन्न होना कि चर्च की सत्ता उन पर न रहे। इन्हीं कारणों के फलस्वरूप सुधार की लहर ने भी मुख्यतया दो दिशाओं की ओर प्रगति की। पहिली दिशा यह थी कि चर्च और धर्माचार्यों की गिरावट की प्रतिक्रिया-स्वरूप आदि चर्च अर्थात् रोमन चर्च से पृथक प्रोटेस्टेन्ट गिरजाओं की स्थापना हुई जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आदि रोमन चर्च को भी कुछ होश आया और उसने अपनी आंतरिक स्थिति सुधारने का और अपनी गिरावट दूर करने का प्रयत्न किया। सन् १५४० ई. में स्पेन के एक सिपाही इगनेटियस लोयोला (१४९१–१५५६ ई.) (Ignatius Loyola) ने ईसा के नाम पर सोसाइटी ऑफ जीसस (Society of Jesus) की स्थापना की।

इसी सोसाइटी से प्रभावित होकर तत्कालीन रोम के पोप पाल तृतीय ने इटली के ट्रेंट नामक स्थल पर रोमन केथोलिक ईसाईयों की एक सभा बुलवाई जो ट्रेंट की सभा कहलाई। इस सभा की बैठकें उपरोक्त सोसाइटी के एक सदस्य की अध्यक्षता में सन् १५४५ से १५६३ तक होती रहीं। इसी के तत्वावधान में रोमन कैथोलिक चर्च के सिद्धान्तों में कई परिवर्तन किये गये जो उसके संगठन के आज तक आधार माने जाते हैं।

"जीसस-सोसाइटी" के सदस्य पादरी होते थे और इसका संगठन बहुत ही अनुशासन पूर्ण। इस भावना से ये सदस्य अनुप्राणित होते थे कि

संस्था के कठोर अनुशासन में रहते हुए आत्म-त्याग का पालन करते हुए, ईसाई मत (रोमन कैथोलिक) और शिक्षा के प्रचार के लिये दुनिया भर में फैल जायें; और वास्तव में संसार भर में शिक्षा के क्षेत्र में इनका काम अद्वितीय रहा है। शनैः शनैः ये लोग चीन, भारत, जापान, पूर्वीय द्वीप समूह इत्यादि प्रदेशों में फैल गये, वहां ईसा का संदेश पहुंचाया और सुन्दर ढंग से व्यवस्थित शिक्षण संस्थायें स्थापित कीं। यूरोप में इसने प्रोटेस्टेन्ट सुधारवाद की बाढ़ को रोका।

धार्मिक युद्ध

दूसरी दिशा जिस ओर सुधार की लहर की प्रतिक्रिया हुई—वह थी राजनैतिक भूमि। यूरोप के देशों के शासकों में सुधार के प्रश्न को लेकर अनेक झगड़े हुए—इन झगड़ों में धार्मिक सुधार की बात तो रहती ही थी—कोई राजा तो रोम के साथ सम्बन्ध विच्छेद करना चाहता था, कोई नहीं—किन्तु उनका ऐसा चाहना नहीं चाहना किसी धार्मिक प्रेरणा से नहीं होता था। वह होता था उनकी राजनैतिक स्वार्थों की भावनाओं से। यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में उपरोक्त प्रश्नों को लेकर समय समय पर लगभग एक शताब्दी तक युद्ध होते रहे। ये युद्ध और इन युद्धों के पीछे जो भी धार्मिक मतभेद और विचार थे सन् १६४८ में जाकर यूरोपीय राष्ट्रों में वेस्टफेलिया की संधि के साथ सर्वथा समाप्त हो गये।

इंगलैंड में कभी तो कोई शासक प्रोटेस्टेन्ट मतवादी हो जाता था और कभी रोमन कैथोलिक। जब शासक प्रोटेस्टेन्ट होता था तो वह रोमन कैथोलिक लोगों पर अत्याचार करता था और जब शासक रोमन कैथोलिक होता था तो वह प्रोटेस्टेन्ट लोगों पर अत्याचार करता था। अन्त में इंगलैंड में एक नई चर्च ने ही जन्म लिया जो न तो सर्वथा रोमन कैथोलिक सिद्धांतों को मानती थी और न सर्वथा प्रोटेस्टेन्ट सिद्धान्तों को। अंग्रेजी चर्च (Church of England) एक नया ही मजहब बन गया। यह मजहब आदि चर्च के सेकरामेण्ट (Sacrament) के सिद्धांत को अर्थात् यह सिद्धांत की पूजा के भोजन या प्रसाद में ईसा की उपस्थित होती है, मृतकों के लिये प्रार्थना करने से उनका कल्याण होता है एवं स्वर्ग में एक ऐसा स्थान है जहां पाप-मोचन होता है, आदि बातों को नहीं मानता था। अब तक इंगलैंड में प्रार्थना रोम की तरह लेटिन भाषा में होती थी। इंगलैंड की चर्च स्थापित हो जाने के बाद, प्रार्थना अंग्रेजी में होने लगी और उसके लिए अंग्रेजी में एक पुस्तक भी बनाई गई। रानी एलिजाबेथ के राज्यकाल में यह चर्च सम्बन्धी कानून और भी सख्त बना दिये गये, जिससे पूजा की विधि और पादरियों के जीवन पर राजकीय कानून का और भी अधिक दखल हो गया। यह बात अनेक धर्मात्मा लोगों को अरुचिकर मालूम हुई जिससे अनेक लोगों ने इंगलैंड की चर्च के सिद्धान्तों को मानने से मना कर दिया। ये लोग नोन कनफोर्मिस्ट [Non Conformists] कहलाये। नोन कनफोर्मिस्ट लोगों में भी दो शाखायें हो गईं। एक प्यूरिटन लोगों की जो धर्म की दृष्टि

से अधिक कट्टर सुधारवादी थे और जो चर्च के संगठन में पूर्ण क्रांति च हते थे। दूसरे सेपेरेटिस्ट (पृथकतावादी) लोग जो पूजा की विधि पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं चाहते थे, जो अपनी पूजा विधि में पूर्ण स्वतन्त्र रहना चाहते थे। इन लोगों ने इंगलैण्ड की चर्च से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया था और आत्मा की स्वतन्त्रता के लिए कष्ट सहन करने को तैयार थे। इनमें से अनेक लोग तो इंगलैण्ड छोड़ कर होलेण्ड चले गये। उस समय तक अमेरिका का पता लग चुका था। जब होलैंड में इनको अपनी पूजा विधि में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं मिलती दिखी तो लोग होलैंड छोड़कर अमेरिका को प्रस्थान कर गये। जिस जहाज में बैठ कर ये लोग गये वह मेफ्लावर (Mayflower) कहलाया और वे स्वयं यात्री पिता [Pilgrim father] कहलाये। सन् १६२० की यह घटना थी। म.नव में धार्मिक स्वतन्त्रता की आकांक्षा प्रकट करने में इस घटना का महत्व है।

जिस समय इंगलैंड में प्रोटेस्टेन्ट मतवाली रानी एलिजावेथ (१५५८-१६०३) का राज्य था उस समय स्कॉटलैंड में रोमन कैथोलिक रानी मेरी स्टयूअर्ट का राज्य था। इसी समय स्पेन का राजा फिलिप द्वितीय था जो कट्टर रोमन कैथोलिक था। फिलिप यह चाहता था कि एलिजावेथ के स्थान पर मेरी इंगलैंड की साम्राज्ञी बनें और इंगलैंड में प्रोटेस्टेन्ट धर्म को समूल नष्ट किया जाये, जिसके लिये एक षड़यन्त्र भी रचा गया, जिसका पता लग गया और फलस्वरूप मेरी को प्राणदंड दिया गया। इस पर स्पेन का राजा फिलिप क्रुद्ध हुआ और उसने सैनिक जहाजों का एक जङ्गी वेड़ा [Armada] एकत्रित करके इंगलैंड पर चढ़ाई करने का इरादा किया। उस समय समस्त संसार में स्पेनिश जहाजी वेडे की तूती बोलती थी। इस जहाजी आक्रमण की बात सुनकर इंगलैंड घबरा गया; किन्तु इंगलैंड ने मुकाबला किया और भाग्य ने उसका साथ दिया। एक भयंकर तूफान आया जिससे अनेक स्पेनिश जहाज टकरा कर नष्ट हो गये और इंगलैंड की इस सामुद्रिक युद्ध में विजय हुई (१५८८)। स्पेन व इंगलैंड के इस सामुद्रिक युद्ध का मूल कारण तो धर्म ही था किन्तु इससे जो परिणाम निकला उसका महत्व राजनैतिक है। स्पेनिश जहाजी वेड़े की इस हार से तत्कालीन देश इंगलैंड की जहाजी शक्ति को जबरदस्त मानने लगे और स्पेन की जहाजी शक्ति नष्ट प्रायः हो गई। अतः सामुद्रिक व्यापार एवं उपनिवेशों के प्रसार में इंगलैंड आगे बढ़ा।

फ्रांस में सुधारवादियों का एक नया दल खड़ा हुआ जो अपने आप को ह्यूजनोट कहते थे। फ्रांस के शासक रोमन कैथोलिक होते थे और वे ह्यूजनोट लोगों पर भयंकर अत्याचार करते थे। १५७५ ई० में २-३ दिन में ही हजारों ह्यूजनोटों का क्रूरता से संहार कर दिया गया। अन्त में फ्रांस के शासकों और ह्यूजनोट लोगों में एक गृह युद्ध छिड़ गया जो लगभग ८ वर्ष तक चलता रहा। फ्रांस में सुधारवाद सफल नहीं हो पाया किन्तु वहां के मजहवी युद्ध इतिहास में एक काला टीका छोड़ गये। मज़हब के नाम पर लगभग दस लाख प्राणी और कई सौ नगर नष्ट कर दिये गये थे।

नीदरलैंड का धार्मिक एवं स्वतन्त्रता युद्ध

नीदरलैंड का उत्तरी भाग होलेंड कहलाता था और वहां के निवासी डच। दक्षिणी भाग बेलजियम कहलाता था। होलेंड निवासियों पर धार्मिक सुधार का प्रभाव था और वे सब प्रायः प्रोटेस्टेन्ट हो चुके थे। बेलजियम निवासी रोमन कैथोलिक ही बने रहे। १६वीं शताब्दी में नीदेरलैंड पर स्पेन का शासन था। स्पेन का राजा फिलिप द्वितीय (१५५६–१५९८) कट्टर रोमन कैथोलिक था। उसने होलैंड के प्रोटेस्टेन्ट लोगों पर अत्याचार करना प्रारम्भ किया। वहां अपने ही धर्म पादरी नियुक्त करना शुरू किया जो "धर्म–विचार सभायें" करते थे और प्रोटेस्टेन्ट लोगों को नास्तिक ठहरा कर जिन्दा जला दिया करते थे। इस धार्मिक अत्याचार से एवं अन्य कई व्यापारिक एवं आर्थिक कारणों से जिनसे डच लोगों के सरदारों और व्यापारियों की सत्ता और उन्नति में अनेक नियन्त्रण लग गये थे, होलेंड में विदेशी स्पेनिश लोगों के विरुद्ध एक आग सी भड़क उठी। होलेंड के लोगों ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह के नेता थे विलियम ओफ ओरेंज (१५३३-१५८४ ई०) (William of Orange)। स्पेन और होलेंड में यह युद्ध अनेक वर्षों तक चलता रहा। अनेक विद्रोहियों को फांसी दी गई। होलेंड-वासियों को विशाल आत्म त्याग करना पड़ा। अन्त में १६०९ में एक संधि द्वारा स्पेन को होलेंड की स्वाधीनता स्वीकार करनी पड़ी और सन् १६४८ में वेस्टफेलिया की संधि के अनुसार होलेंड सर्वदा के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बी होलेंड तो स्वतन्त्र हो गया, किन्तु बेलजियम अभी तक स्पेन के ही आधीन रहा।

जर्मनी में तीस वर्षीय धर्म युद्ध

आधुनिक जर्मनी उस समय पवित्र रोमन राज्य का एक अंग था। यह राज्य अनेक छोटे छोटे हिस्सों में बटा था। इन हिस्सों के अलग अलग राजा थे। धर्म सुधार की लहर के बाद कई राजा तो प्रोटेस्टेन्ट मतवादी हो गये एवं कई रोमन कैथोलिक ही रहे। अपने–अपने धर्म का प्रभाव बढ़ाने की आकांक्षा से इन उपरोक्त जर्मन राज्यों में परस्पर युद्ध हुए। सन् १६१८ से १६४८ तक ये युद्ध चलते रहे। उस समय पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट हेब्सबर्ग (Habsburg) वंशीय फर्डीनेन्ड द्वितीय था, जो आस्ट्रिया का भी शासक था। वह चाहता था कि रोमन कैथोलिक देशों, जैसे, स्पेन की मदद से वह साम्राज्य के समस्त छोटे-छोटे राज्यों को मिला कर एक शक्तिशाली राज्य स्थापित कर ले। सम्राट की इस आकांशा ने यूरोप में एक अन्तरदेशीय या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पैदा कर दी। फ्रांस जो स्वयं एक रोमन कैथोलिक देश था सोचने लगा कि यदि जर्मनी (पवित्र रोमन सम्राट) की शक्ति बढ़ गई तो उसके लिये यूरोप में खतरा पैदा हो जायेगा। इसी भावना को लेकर फ्रांस सम्राट के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़ा। अतएव जर्मनी का यह धार्मिक युद्ध एक ओर फ्रांस की शक्ति (जिसकी मदद के लिये स्वीडन का राजा आया) और दूसरी ओर आस्ट्रिया एवं स्पेन की हेब्सबर्ग शक्ति के बीच हो गया। मानो यह युद्ध यूरोप में शक्ति संतुलन (Balance of Power) कायम रखने के लिए लड़ा जा रहा

हो। इन शक्तियों में कई वर्षों तक युद्ध होने के उपरान्त अन्त में सन् १६४८ ई० में इन राज्यों में एक संधि हुई जो वेस्टफेलिया की सधि कहलाती है।

वेस्टफेलिया की संधि

इस संधि के अनुसार निम्न निर्णय हुए—(१) कैथोलिक प्रोटेस्टेन्ट और कालविन ईसाई सम्प्रदायों को समान पद दिया गया और यह घोषित किया गया कि राजा अपने धर्म को राज्य धर्म बना सकता था। (२) स्वीटजरलैंड और होलैंड रोमन (जर्मन) साम्राज्य से पृथक हुए और उनको पृथक स्वतन्त्र देश माना गया। (३) साम्राज्य के अलसेस प्रदेशो का प्रमुख भाग फ्रांस को दिया गया। (४) साम्राज्य के एक छोटे राज्य ब्रेंडनवर्ग को कई और प्रदेश दिये गये। ब्रेंडनवर्ग राज्य भविष्य में जाकर जर्मनी राज्य के उद्‌भव का एक केन्द्र बना। इस प्रकार जर्मन साम्राज्य जो एक केन्द्रीय शक्ति होने की ओर बढ़ रहा था टूटफूट कर शक्तिहीन हो गया।

विश्व-इतिहास में यूरोप का महत्व

इस संधिकाल से अर्थात् सन् १६४८ ई० से यूरोप में धार्मिक सुधार युग का अन्त होता है। इसके पश्चात यूरोप में किसी भी प्रकार का धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक युद्ध नहीं हुआ। धर्म विशेषतः एक व्यक्तिगत वस्तु रह गई। इसी संधिकाल से धर्म निरपेक्ष राजनैतिक युद्धों और क्रांतियों का काल प्रारम्भ होता है। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय नियम एवं यूरोप के राष्ट्रों में शक्ति संतुलन (Balance of Power) की नीति का प्रारम्भ हुआ।

ज्यों ज्यों हम आधुनिक काल के निकट आते जाते हैं त्यों त्यों मानव की कहानी में यूरोप का महत्व बढ़ता जाता है। विशेषतया १७ वीं १८ वीं शताब्दी से तो हम ऐसा अनुभव करने लगते हैं मानों कि यूरोप ही एक ऐसा देश है जहां मानव बहुत गतिमान और क्रियाशील है। १९ वीं शताब्दी के आने तक तो हम यूरोप को समस्त विश्व का अधिनायक पाते हैं। इन शताब्दियों में संसार में जो कुछ भी नया आंदोलन, जो कुछ भी नई चहल पहल, जो कुछ भी नई विचारधारा, जो कुछ भी नया सामाजिक और राजनैतिक संगठन हम विश्व इतिहास में देख पाते हैं उन सब का उदय और विकास हम यूरोप में ही पाते हैं। यूरोप आधुनिक काल में एक नई उद्‌भावना, नई चाल, नई दृष्टि, नई शक्ति वाला मानव बनकर खड़ा होता है।

२०

फ्रांस की क्रांति

[THE FRENCH REVOLUTION]

एतिहासिक पूर्वपीठिका

उपर्युक्त वेस्टफेलिया की संधि के उपरान्त यूरोप में सर्वत्र इङ्गलैंड, फ्रांस, प्रशा और रूस में स्वेच्छाचारी, निरंकुश राजाओं का वददवा फैला। उस विचार ने जोर पकड़ा कि जिस प्रकार ईश्वरीय आदेश न मानना पाप है उसी प्रकार राजा के विरुद्ध आचरण करना पाप है, इस पृथ्वी तल पर राजा ही ईश्वर का प्रतिनिधि होता है, अतः वह ईश्वर के सामने उत्तरदायी है, प्रजा के सामने नहीं। इन निरंकुश राजाओं की परम्परा यूरोप में एक सौ वर्ष से भी अधिक चली—राजाओं ने पूर्ण स्वेच्छा से भिन्न भिन्न देशों पर शासन किया। यह नहीं कि उन्होंने प्रजा का अहित ही किया हो वल्कि उन्होंने अपने अपने देशों का अपने अपने ढंग से उत्थान किया और उसे सशक्त बनाया। इन राजाओं में अपने अपने देश की महत्ता बढ़ाने के लिये परस्पर जो व्यवहार रहा वह यही था कि किसी न किसी प्रकार सत्य और झूठ से ईमानदारी व वईमानी से उनकी शक्ति की, उनके व्यापार की उनके राज्य की अभिवृद्धि और उन्नति हो। उनका परस्पर का सम्बन्ध अनैतिकता से भरा हुआ था। यूरोप के राजनैतिक इतिहास में यह परम्परा आज तक भी चली आती है।

यद्यपि स्वेच्छाचारी एवं एकतन्त्रीय शासकों ने राष्ट्रीय दृष्टि से अपने देशों का उत्थान ही किया हो किन्तु जहां तक जन साधारण के स्वत्वों का प्रश्न था उनकी आर्थिक एवं सांस्कृतिक उन्नति का प्रश्न था उनके जीवन के दुख दर्द का प्रश्न था वहां तक ये सब राजा और उनके राज्य उदासीन थे। किन्तु यूरोप में नई चेतना का विकास हो रहा था, अनेक प्रतिभाशाली विचारकों और दार्शनिकों का उद्भव हुआ था जैसे फ्रांस में वोल्टेयर (१६९४-१७७८ ई), मोन्टेस्क्यू (१६८९-१७५५) और रूसो (१७१२-१७७८); इङ्गलैंड में जोह्न लोक (१६३२–१७०४ ई.) इत्यादि। ये लोग निर्मूल धार्मिक विश्वासों अन्धी सामाजिक मान्यताओं की जगह विवेक और बुद्धिवाद की

स्थापना कर रहे थे। उनके क्रांतिकारी विचार धीरे धीरे लोगों की चेतना में प्रसारित हो रहे थे। इसी में क्रांति का मूल था।

सामाजिक कारण

उस समय प्रायः सर्वत्र यूरोप के समाज में आर्थिक दृष्टि से विशेषतः दो वर्ग के लोग थे। एक वर्ग था धनी भूपति सरदार और पादरी लोगों का। भूपति या जमींदार लोग बड़े-बड़े कृषि भूमि के स्वामी थे। पादरी लोग भी भूपति या सरदारों के समान बड़ी-बड़ी जागीरों के स्वामी थे और गिर्जाओं में जो कुछ भेंट और चढ़ावा आता था उसके भी वे भोक्ता थे। ये भूपति एवं पादरी लोग राज्य की ओर से सब प्रकार के करों से मुक्त थे। दूसरी ओर निम्न वर्ग के लोग थे। ये ही जनसाधारण लोग थे जिनकी संख्या उपरोक्त उच्च वर्ग के लोगों की अपेक्षा अत्यधिक थी। वास्तव में जनसंख्या का मूल भाग ये ही निम्न वर्ग के लोग थे। इन लोगों के पास खेती करने को अपनी जमीन बिलकुल नहीं थी। सरदारों एवं पादरी लोगों की जागीरों में ये लोग मजदूरी करते थे। पे लोग दास तो नहीं थे किन्तु इनकी आर्थिक स्थिति दास लोगों की स्थिति से अच्छी नहीं थी। इन निम्न वर्ग में ही हस्तकला कौशल और हस्त उद्योग करने वाले व्यक्ति भी थे। केन्द्रीय शासन की ओर से जितने भी कर लगे हुए थे उन सब का भार इस जन-साधारण वर्ग पर ही पड़ता था। राजकीय समस्त शक्ति राजा में, भूपति सरदारों में ही निहित थी, क्योंकि अब तक सामन्तवादी प्रथा प्रचलित थी। जनसाधारण की कुछ भी हस्ती या सत्ता नहीं थी, स्यात् वे ये माने हुए थे कि जन्म से ही ईश्वर ने उनको ऐसा बनाया है। इन सबके ऊपर यूरोप के प्रायः समस्त देशों में राजाओं की स्वेच्छाचारिता चलती थी। उनकी आज्ञा या इच्छा सर्वोपरि थी। उनके विरुद्ध कोई भी नहीं जा सकता था। १८ वीं शती के प्रारम्भ काल में जब ऐसी राजनैतिक एवं सामाजिक अवस्था थी उसी समय एक प्रकार का मध्य वर्ग उत्पन्न होने लगा था। ये लोग विशेषकर व्यापारी या शिक्षित कर्मचारी थे। इन लोगों के मस्तिष्कों में तत्कालीन दार्शनिकों, मोन्टेस्क्यू, वोल्टेयर और रूसो के विचार और भाव क्रांति पैदा कर रहे थे। मध्य वर्ग का यह शिक्षित समुदाय सोचने लगा था कि किसी भी व्यक्ति अथवा वर्ग को दूसरे के ऊपर शासन करने का कोई अधिकार नहीं। प्रकृति ने न तो किसी श्रेणी अथवा वर्ग को शासन करने के लिए उत्पन्न किया है और न किसी वर्ग को शासित होने को। सब मनुष्य समान हैं, स्वतन्त्र हैं। यदि मानव जंजीरों से, सामाजिक, मानसिक गुलामी की जजीरों से जकड़ा हुआ है तो ये जंजरे तोड़ फेंक कर उसे मुक्त होना चाहिये। शिक्षित मध्य वर्गीय नवयुवकों के द्वारा ऐसे विचार जन-जन में समा गये थे। एक नई चेतना उनमें जागृत हो रही थी और अन्दर ही अन्दर एक आग सुलग रही थी, बस किसी अवसर की प्रतीक्षा थी, वह अवसर आया नही कि आग भभक उठी—अग्नि की लपटें चारों ओर फैल गईं। केवल फ्रांस में ही नहीं बल्कि सारे यूरोप में।

तात्कालिक कारण

सन् १७७४ ई. में बोरबोन वंशीय लुई १६ वां फ्रांस की राजगद्दी प—

बैठा। बोरबोन वंशीय फ्रांस के राजा जिनमें प्रसिद्ध लुई १४ वां भी एक था बहुत खर्चीले थे; ठाठ-बाट, शान-शौकत में खूब पैसा अपव्यय करते थे, राज्य और प्रभाव बढ़ाने की महत्वाकांक्षा के फलस्वरूप युद्धों में बेहद खर्च होता था। अतएव जब लुई १६ वें ने राज्य सम्भाला तब राज्यकोष खाली था। राजा को धन की आवश्यकता हुई। धन मांगने के लिए राजा ने सामन्तों और पादरियों की एक बैठक बुलाई किन्तु उन स्वार्थी लोगों ने कुछ भी दाद नहीं दी। विवश हो राजा ने राज्य की आर्थिक स्थिति पर परामर्श के लिए एवं रुपया मांगने के लिए एक जातीय सभा (State General) बुलाई जिसमें सामन्त और पादरी लोगों के अलावा जनसाधारण के प्रतिनिधि भी शामिल थे। साधारण जनता इस शर्त पर अपने प्रतिनिधि भेजने को तैयार हुई थी कि उनके प्रतिनिधियों की संख्या सामन्तों और पादरियों से दुगनी हो। जातीय सभा में किसी बात पर विचार होने के पूर्व सबसे पहिले तो यह झगड़ा उठा कि किसी बात का निर्णय करने के लिए प्रतिनिधियों के वोट किस तरह लिये जायें। सामन्त और पादरी यह चाहते थे कि हर एक श्रेणी पृथक-पृथक मत दे, किन्तु जनता के प्रतिनिधि यह चाहते थे कि मत व्यक्तिगत प्रतिनिधि का लिया जाये और उसके आधार पर ही प्रश्नों का निर्णय हो। यह बात स्पष्ट थी कि यदि मत श्रेणीगत लिये गये तो शक्ति सामन्तों और पादरियों तथा उच्च वर्ग के ही हाथ में रहेगी। किन्तु यदि मत व्यक्तिगत लिये गये तो सत्ता और शक्ति उच्च वर्ग के हाथ से निकल कर उस साधारण जनता के हाथ में आ जायेगी, जिस पर राजा और उच्च वर्ग अब तक मनमाना राज्य करते आये थे और जिसको अब तक वे मनमाने ढग से दबाते हुए आये थे। जनता की इस मांग का सामन्तों ने तीव्र विरोध किया—बस इसी बात पर झगड़ा प्रारम्भ होता है और यहीं क्रांति की शुरुआत होती है।

क्रान्ति की घटना

सन् १७८९ ई० की यह बात है। जनता के प्रतिनिधियों ने घोषणा की कि वे समस्त राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं। राष्ट्र की ओर से उन्हें अधिकार है कि वे राज्य का एक विधान तैयार करें और उसी विधान के अनुसार जिसका वे निर्माण करें, भविष्य में राज्य का संचालन हो। जनता के प्रतिनिधियों में उच्च वर्ग के कुछ समझदार लोग भी आ मिले थे— वस्तुतः जातीय सभा (स्टेट्स जनरल) अब तक जातीय संविधान सभा के रूप में परिवर्तित हो गई थी और इसके सदस्य जनता के प्रतिनिधि इस बात पर डट गये थे कि वे राज्य का विधान बना कर ही उठेंगे। जिस उद्देश्य से राजा ने सभा बुलाई थी वह तो सब हवा हो चुका था। राजा और उसके सलाहकार यह बात सहन नहीं कर सके। राजा ने सभी को बन्द कर डालने की आज्ञा दी। सभा-भवन से तो लोग बाहर निकल आये किन्तु एकत्रित सभा पहिले तो एक टेनिस कोर्ट पर, फिर एक गिरजा में होने लगी। गिरजा के बाहर जनता एकत्रित थी। राजा ने सेना बुला भेजी; इसने जनता के दिमाग में जो पहिले से ही क्रुद्ध थी और भी गर्मी पैदा कर दी—पेरिस

की जनता ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया और उनके झुंड के झुंड अपने-अपने दिलों में भभकती आग लेकर पेरिस के उस विशाल किलानुमा जेलखाने (Bastille) की ओर चल पड़े जो राजाओं की क्रूरता, नृशंसता और स्वेच्छाचारिता का काला प्रतीक खड़ा था। राजा की सेनाओं से भयंकर टक्कर हुई। जनता की शक्ति के सामने वे नहीं ठहर सके; जनता ने उस वेस्टिल को, उस काले प्रतीक को उखाड़ फेंका,—उसे मिट्टी में मिला दिया। १४ जुलाई, १७८९ को यह घटना हुई। यह दिन 'स्वतन्त्रता और समता की भावना' का विजय दिन था। तभी जनता की प्रतिनिधि जाति सभा ने सार्वभौम मानव अधिकारों की घोषणा की कि सभी मनुष्य समान और स्वतन्त्र हैं—कानून जनता की इच्छा का प्रकाशन है अत: वह सबके लिए समान होता है, कानून के विरुद्ध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। राजनैतिक अधिकार या शासन सत्ता सम्पूर्ण जनता में निहित है न कि किसी एक व्यक्ति या वर्ग विशेष में। इस घोषणा ने हजारों वर्षों की सामाजिक, राजनैतिक मान्यताओं को बदल डाला। नए समाज की रचना का सूत्रपात हुआ—केवल फ्रांस में ही नहीं किन्तु समस्त यूरोप में,—केवल यूरोप में ही नहीं किन्तु समस्त विश्व में।

स्वतन्त्रता, समानता और प्रजातन्त्र के नये विचारों का उत्थान और प्रगति देखकर यूरोपीय देशों के अन्य देशों जैसे इंगलैंड, आस्ट्रिया, जर्मनी, होलैंड, पोलैंड, पुर्तगाल, पवित्र रोमन साम्राज्य इत्यादि के राजा चौकन्ने हुए और उन्होंने नई चेतना की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का संकल्प किया। फ्रांस का राजा लुई भी इन राजाओं के साथ मिलने का षड्यन्त्र करने लगा। फ्रांस की जनता को इसका पता लगा। उसके क्रोध का पारावार नहीं रहा। जनता ने सन् १७९२ में प्रजातन्त्र की घोषणा की एवं तुरन्त बादशाह लुई को सूली पर चढ़ा दिया और जहां कहीं भी पेरिस में, फ्रांस में, राजाओं और राजाशाही के पोषक में कोई भी लोग, सामन्त या पादरी मिले, उन सबका निर्विरोध वध कर दिया गया। राज्य वंश को समूल नष्ट करने के लिए स्वयं लुई की रानी को भी गुईलोटिन (फांसी) की भेंट कर दिया गया। इसी गुईलोटिन पर फ्रांस के हजारों व्यक्तियों का जिन पर राजाओं के पोषक होने का सन्देह था खून नहाया गया। सामन्तवाद, मजहबी पाखण्डवाद समूल नष्ट कर दिये गये। जन सत्तात्मक विचारों का प्रचार करने के लिए फ्रांस के आसपास देशों में हलचल पैदा की गई। दूसरे देशों के साथ युद्ध ठन गये। दूसरे देश फ्रांस और फ्रांस के जनतन्त्र को बिल्कुल कुचल डालना चाहते थे—जिससे राजाओं की सत्ता हर जगह बनी रहे किन्तु फ्रांस के जनतन्त्र की सेनायें स्वतन्त्रता के भाव से प्रेरित होकर उत्साह से लड़ती थी। दूसरे देश फ्रांस को कुचल नहीं सके बल्कि नई चेतना उन देशों में फैल गई और उन्हें जनतन्त्रवादी फ्रांस की सत्ता स्वीकार करनी पड़ी। इन युद्धों में कोर्सिका द्वीप के एक सिपाही ने जिसका नाम नेपोलियन था और जो फ्रांस की जनतंत्रवादी सेना में भर्ती हो गया था, बड़ी वीरता और युद्ध कौशल का परिचय दिया था। अत फ्रांस की सेना में सेना नायक के पद तक पहुंच गया था और उसी के नेतृत्व में क्रान्तिकारी फ्रांस ने यूरोप के देशों पर विजय प्राप्त की थी।

क्रान्ति के उपरान्त

किन्तु धीरे-धीरे प्रजातन्त्र का जोश ठण्डा हो रहा था। वे नेता लोग जो क्रांति का संचालन कर रहे थे, यथा डाल्टन, रोब्सपीयर एवं अन्य, विचार भेद से कई दलों में विभक्त हो गए थे। उनके पारस्परिक विरोध ने जनता में और भी शिथिलता पैदा कर दी थी। जाति-विधान-सभा ने यह परिस्थिति देखकर ऐसा उचित समझा कि शासन का भार कुछ इने-गिने कुशल व्यक्तियों को सौंप दिया जाये। अतएव उसने पांच सदस्यों की एक समिति (Directory) बनाई और उसी को व्यवस्था भार सौंप दिया। फ्रांस धीरे धीरे अपने विजित देश खोने लगा था अतः नेपोलियन को जो इस समय इटली और मिस्र में फ्रांस की विजय पताका फहरा रहा था, फ्रांस लौटना पड़ा। वह फ्रांस में अत्यधिक लोकप्रिय हो चुका था। व्यवस्था-समिति का वह एक सदस्य बना किन्तु सुअवसर देखकर उसने व्यवस्था समिति को ही तिरस्कृत कर दिया और स्वयं फ्रांस का अधिनायक बन बैठा। फ्रांस ने-जो नेपोलियन से प्रभावित था-इस स्थिति को मन्जूर कर लिया। यह घटना सन् १७६६ ई० में हुई। सन् १७६६ से १८०४ ई० तक फ्रांस में नाम मात्र वैधानिक ढंग से किन्तु वस्तुतः एकतन्त्रवादी ढंग से नेपोलियन राज्य करता रहा—और फिर १८०४ ई० में सब विधि-विधान को हटाकर उसने अपने आपको फ्रांस का "सम्राट" घोषित कर दिया। इस प्रकार चाहे क्रांति-समता, स्वतन्त्रता एवं जनतन्त्र के लिये क्रांति—एक प्रकार से समाप्त होती है किन्तु चेतना जो जागृत हो चुकी थी वह बार-बार दबाई जाने पर भी बार-बार उभरी। फ्रांस में समता और स्वतन्त्रता की चेतना के विकास का अध्ययन घटनाओं की निम्नलिखित रूपरेखा से हो सकता है।

१. (१७८६-१७६६ ई०)—फ्रांस की क्रांति; स्वतन्त्रता, समता की घोषणा; राजा सामन्त और पादरी वर्ग का उच्छेदन और जनतन्त्र की स्थापना।

२. (१७६६-१८१५ ई०)—नेपोलियन का उत्थान, फ्रांस में जनतन्त्र की समाप्ति एवं नेपोलियन की राज्य-शाही।

३. (१८१५-१८३० ई०)—सन् १८१५ ई० में नेपोलियन के पतन के बाद फ्रांस में प्राचीन राज्य वंश के राजा की स्थापना और उन राजाओं की एक-तन्त्रवादी राज्यशाही। अन्त में १८३० में जनता द्वारा एक बार फिर क्रान्ति।

४. (१८३०-१८४८) वैधानिक राज्यशाही (Constitutional monarchy) की स्थापना; उदार सामाजिक भावनाओं की विजय; १८४८ ई० में फिर एक राज्य-क्रांति और दूसरी बार प्रजातन्त्र (Republic) की स्थापना।

५. (१८४८-१८५२ ई०) द्वितीय प्रजातन्त्र काल। १८५२ ई० में नेपोलियन के भतीजे नेपोलियन द्वितीय द्वारा प्रजातन्त्र का उच्छेदन और स्वयं अपने आपको सम्राट घोषित कर देना।

६. (१८५२–१८७० ई०) नेपोलियन द्वितीय की राज्यशाही। फिर अन्त में १८७० में राज्य क्रान्ति और अनेक झगड़ों के बाद तीसरी बार प्रजातन्त्र की स्थापना।

७. १८७० ई० से आज तक स्थायी प्रजातन्त्र (Republic)।

यह है फ्रांस की राज्य क्रान्ति के उत्थान, पतन और फिर उत्थान का इतिहास।

फ्रांस की क्रान्ति—एक सिंहावलोकन

फ्रांस की क्रांति यूरोप में राजाओं के निरंकुश एकतन्त्रवादी युग के बाद हुई, ऐसा होना स्वाभाविक था। इस क्रान्ति का प्रभाव और इसकी हलचल फ्रांस तक ही सीमित नहीं थी। यह घटना तो हुई १८वीं शताब्दी में (सन् १७८९ ई० में), किन्तु उसने जो हलचल पैदा की वह संसार में अब भी विद्यमान है। मानव का परम्परागत, संस्कारगत यह भाग्यवादी विश्वास शताब्दियों से बना हुआ था कि मानव मानव में जो विषमता है (अर्थात् जैसे कोई धनी है, कोई निर्धन, कोई उच्चवर्गीय है तो कोई निम्न वर्गीय, कोई राजा है कोई रंक) इसका कारण ईश्वर-इच्छा है, या जैसा भारत में विश्वास किया जाता है इसका कारण कर्मवाद है। ऐसा समझा जाता था कि यह विषमता जन्मजात है, प्राकृतिक है। मानव के उस विश्वास को फ्रांसीसी क्रान्ति ने एक बेरहम ठोकर लगाई और उस सब सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था को उलट पलट कर दिया। यह घोषणा की गयी कि मानव मानव सब समान हैं, स्वतन्त्र हैं, राजसत्ता समस्त जन में निहित है, किसी एक की बपौती नहीं। क्रान्ति का यह उद्देश्य तब पूरा हासिल नहीं किया जा सका, किन्तु मानव ने एक नये प्रकाश, एक नये ध्येय के अवश्य दर्शन कर लिये थे और तब से मानव आज तक उसी की ओर प्रगतिमान है। स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व की भावना के विरुद्ध सत्ताधारी स्वार्थी जन, चाहे वे पूंजीपति हों, राजकीय अधिकारी हों, धर्म पुरोहित हों,—अपना मोर्चा बनाते रहते हैं एवं इस ध्येय की प्राप्ति में अड़चनें पैदा करते रहते हैं, इस भावना के प्रवाह को रोकने के लिये पहाड़ खड़ा कर देते हैं, किन्तु यह भावना विप्लवकारी तूफान के रूप में फिर प्रकट होती है और प्रतिक्रियावादी पहाड़ों को चूर-चूर कर देती हैं। यह भावना जिसका सूत्रपात फ्रांस की क्रांति में हुआ था, फ्रांस की क्रांति के बाद यूरोप के कई देशों में १८३० में, फिर १८४८ में, फिर १८७० में और फिर रूस में सन् १९१७ में और फिर चीन में सन् १९४९ में भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट हुई है और मानव ने प्रत्येक बार समानता और स्वतन्त्रता के ध्येय की ओर एक-एक कदम आगे बढ़ाया है। मानव इतिहास में इस प्रकार की हलचलों की पुनरावृत्ति तब तक होती रहेगी जब तक सर्वत्र मानव समाज में समानता और स्वतन्त्रता कायम नहीं हो जाती। ऐसा नहीं कि यह ध्येय केवल आदर्श मात्र रहा हो और इस दिशा की ओर मानव ने अब तक कुछ भी प्रगति नहीं की हो। फ्रांस की क्रांति के समय से आज तक लगभग डेढ़ सौ वर्षों में मानव ने उपरोक्त ध्येय की ओर प्रगति करली है—संसार में राजशाही प्रायः खत्म हो चुकी है, कानून की दृष्टि में सब जन बराबर हैं,

धन की विषमता कम होती जा रही है, यह विषमता है भी तो ऐसी स्थिति नहीं कि कोई धनी किसी नौकर या निर्धन के व्यक्तित्व का अनादर कर सके या उससे कोई भी अनुचित कार्य करवा सके, प्रत्येक जन को यह अधिकार प्राप्त है कि वह शासन में, समाज में उच्च से उच्च स्थान अर्थात् अधिक से अधिक जिम्मेदारी का पद प्राप्त कर सके,—जाति, धर्म अथवा सामाजिक वर्ग भेद न तो कोई विशेष सहायता दे सकते, न कोई विशेष अड़चनें पैदा कर सकते। अपेक्षाकृत पहिले से अधिक आज सब लोगों को सुविधायें प्राप्त हैं कि वे अपनी योग्यता का अधिकाधिक विकास कर सकें। आज समस्त मानव समता और स्वतन्त्रता के आधारों पर एक नयी दुनिया बनाने में संलग्न हैं।

२१

नेपोलियन की हलचल (१७९९–१८१५)

(NAPOLEON, 1799–1815)

भूमिका

कोरसिका द्वीप का एक सिपाही फ्रांस की राज्य-क्रांति के समय फ्रांस में पहुंचा और फ्रांस की प्रजातन्त्र सेना में भर्ती हो गया। अपनी वीरता, साहस और योग्यता से प्रजातन्त्रीय फ्रांस की विजय पताका उसने इटली और दूर मिस्र तक फहराई। अतः वह फ्रांस की सेना का सेनानायक बना। उसका उत्थान होता गया और सन् १७९९ में फ्रांस राज्य की समस्त सत्ता उसने अपने हाथ में ले ली और वह समस्त यूरोप में एकमात्र फ्रांस की सत्ता स्थापित करने के लिए अग्रसर हुआ। सन् १७९९ से १८०४ ई. तक उसने विधानानुसार फ्रांस का शासन किया। फ्रांस में अनेक सुधार किये। सड़कें और नहरें बनवाईं, स्मारक और नये भवन बनवाये, शिक्षणालय और विश्व-विद्यालय स्थापित किये। स्वयं फ्रांस के दीवानी कानून (Civil Code) की बड़ी लगन और समझदारी से संहिता तैयार की जो आज तक भी प्रचलित है। क्रांति के "समता' के विचार को प्रोत्साहन दिया, मानव मानव के बीच के भेद को मिटाने का प्रयत्न किया और कानून के सामने न्याय और समता की स्थापना की, किन्तु क्रांति की 'स्वतन्त्रता" की भावना से वह विशेष प्रभावित नहीं था। वह स्वयं निरकुश एकतन्त्रीयता की ओर अग्रसर था। इतिहास के प्राचीन सम्राटों—जैसे सीजर, सिकन्दर, शार्लमन के चित्र उसके सामने आने लगे थे और उसको भी स्यात् यह महत्वाकांक्षा होने लगी थी कि वह भी एक महान् सम्राट और विजेता बने। सन् १८०४ ई. में राज्य के सब विधि विधान को फेंक उसने अपने आपको सम्राट घोषित किया और यूरोप की विजय यात्रा के लिये निकल पड़ा।

सन् १८०४ से १८१५ ई० तक यूरोप का इतिहास, एक मनुष्य के जीवन का इतिहास—नेपोलियन के जीवन का इतिहास है। समरांगण में वह अद्वितीय तेजी से बढ़ता था, कुछ ही काल में उसने इटली जर्मनी, आस्ट्रिया, प्रशिया, स्पेन और रूस को पदाक्रान्त कर डाला। इङ्गलैंड को भी उसने

पराजित करना चाहा किन्तु बीच में समुद्र पड़ता था—वह सोचता था कि बस एक बार यह खाई पार हो जाय तो इङ्गलैंड ही क्या वह सारी दुनिया का स्वामी बन सकता है। किन्तु इङ्गलैंड की सामुद्रिक शक्ति बड़ी विकसित थी—सन् १८०४ में ट्राफालगर के युद्ध में इङ्गलैंड के सामुद्रिक बेड़े के कप्तान नेलसन ने उसको परास्त किया और वह इङ्गलिश चेनल पार नहीं कर सका। किन्तु शेष यूरोप फ्रांस की बढ़ती हुई शक्ति से आसित हो गया। कुछ वर्षों तक नेपोलियन ने युद्ध क्षेत्र में यह नहीं जाना कि पराजय किसे कहते हैं। पवित्र रोमन साम्राज्य के पच्छिमी प्रान्तों को जीत कर उसने एक पृथक राइन (Rhine-Confideration) बनाया। इससे सैकड़ों वर्षों से चले आते हुए पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त हो गया। आस्ट्रिया का राजा जो पवित्र साम्राज्य का सम्राट होता था अब केवल आस्ट्रिया का राजा रह गया। जिन-जिन देशों पर यथा इटली, पच्छिमी-जर्मनी इत्यादि पर नेपोलियन ने शासन किया वहां भी उसने समानता और राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार किया।

किन्तु यूरोप के राष्ट्र जो फ्रांस की बढ़ती हुई शक्ति को सहन नहीं कर सकते थे, इस प्रयत्न में लगे रहते थे कि नेपोलियन की शक्ति को किसी प्रकार रोक देना चाहिये। नेपोलियन से एक गल्ती हुई, अपनी अन्धी महत्वाकांक्षा में वह दूर तक रूस में जा फंसा और इस उद्देश्य से कि वह इङ्गलैंड को भी परास्त करे उसने यूरोप के तमाम बन्दरगाहों को बन्द कर दिया जिससे कि कोई भी खाद्य सामान इङ्गलैंड न पहुंच सके। इससे स्वयं यूरोप के व्यापार को भी बहुत क्षति पहुंची और यूरोप में नेपोलियन की लोकप्रियता कम हो गई। जब वह रूस म लड़ रहा था तब यूरोप के राष्ट्रों ने नेपोलियन के विरुद्ध एक संघ बनाया। आस्ट्रिया और प्रशिया ने रूस की मदद की और अन्त में १८१३ ई. में जर्मनी के वीनीपेग स्थान पर नेपोलियन की पहली करारी हार हुई। यूरोप छोड़कर उसे एल्बा द्वीप जाना पड़ा। वहा से सन् १८१५ ई. में एक बार फिर वह यूरोप में प्रकट हुआ, फिर एक बार अपनी शक्ति का परिचय दिया किन्तु इङ्गलैंड और जर्मनी की सम्मिलित शक्ति ने सन् १८१५ में वाटरलू की लड़ाई में फिर उसे पराजित किया। कैदी बनाकर उसे सेण्ट हेलेना टापू भेज दिया गया जहां सन् १८२१ ई. में बावन वर्ष की उम्र में मर गया।

नेपोलियन की पराजय के बाद जब यूरोप के पराजित देश स्वतन्त्र हो गये और फ्रांस निराधार हो गया तब यूरोप में राजकीय व्यवस्था बैठाने के लिए यूरोप के राष्ट्रों की वियेना में एक कांग्रेस हुई (१८१४-१५)। यूरोपीय राष्ट्रों के इस सम्मेलन ने यूरोप में एक नये नक्शे का ही निर्माण कर डाला, एव यूरोप के इतिहास में एक नये अध्याय की शुरुआत हुई।

वियेना की कांग्रेस (१८१५ ई०)

राजतन्त्र के पुनः स्थापना के प्रयत्न

नेपोलियन के यूरोपीय क्षेत्र में से हट जाने के बाद यूरोप के राष्ट्र यथा इंगलैंड, प्रशिया, आस्ट्रिया, रूस, स्वीटजरलैंड, फ्रांस इत्यादि वियना में

एकत्र हुए और उन्होंने एक संधि द्वारा यूरोप के राज्यों का जो नेपोलियन के समय में क्षत-विक्षत हो गये थे, पुनर्निर्माण किया अर्थात् राज्यों की सीमा पुनः निर्धारित की। यह काम करने में यूरोप के राष्ट्र दो भावनाओं से परिचालित हुए। एक तो यह कि यूरोप में शक्ति-संतुलन बना रहे, अर्थात् कोई भी राष्ट्र अपेक्षाकृत इतना शक्तिशाली न हो जाये कि वह दूसरे राज्यों के लिए खतरा बन जाये। १७वीं शती से लेकर आज तक यूरोप की राजनीति यूरोप के युद्ध प्रायः इसी एक बात को लेकर चले हैं कि यूरोप में शक्ति संतुलन बना रहे। आधुनिक यूरोप का इतिहास इस शक्ति संतुलन के सिद्धांत की पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है। दूसरा सिद्धांत जिससे वियेना की कांग्रेस परिचालित हुई वह यह था कि देशों के भिन्न-भिन्न राज्य वंश (Dynasties) के स्वार्थों की अपेक्षा न हो। यूरोप के राज्यों की सीमायें निर्धारित करवाने में मुख्य हाथ आस्ट्रीया के परराष्ट्र-मन्त्री मेटेरनिश का था जो एक बहुत प्रतिक्रियावादी व्यक्ति था और क्रांति की भावनाओं के बिल्कुल विपरीत राजाओं की एक-तन्त्रीय सत्ता पुनः स्थापित हुई देखना चाहता था। वियेना कांग्रेस के निर्णयानुसार जो नई सीमायें निर्धारित हुई, वे इस प्रकार हैं।

(१) फ्रांस की प्रायः वही सीमा रही जो क्रांति के पूर्व थी। वहां फ्रांस के पुराने राज्य वंश (बोरबोन) की पुनः स्थापना हुई, लुई १८ वें को फ्रांस का राजा बनाया गया।

(२) बेलजियम जो पहिले आस्ट्रीया साम्राज्य का अंग था, उसे होलैंड में मिला दिया गया जिससे कि फ्रांस के उत्तर में फ्रांस की शक्ति को रोके रखने के लिये एक शक्तिशाली राज्य बना रहे।

(३) नोर्वे डेनमार्क से छीनकर स्वीडन को दे दिया।

(४) इटली जो नेपोलियन राज्य काल में प्रायः एक राज्य बन गया था वह फिर छोटे राज्यों में विभक्त कर दिया गया जैसे वह नेपोलियन के आगमन के पूर्व था। इटली के दो सबसे बड़े धनी प्रदेश लोम्बार्डी और वेनिस आस्ट्रिया में शामिल कर दिये गये। पोप को पूर्ववत् अलग एक छोटा सा प्रदेश दे दिया गया। जिनोआ का राज्य सार्डिनिया को दिया गया, और टस्केनी और दो तीन और छोटे-छोटे राज्यों में आस्ट्रीया राज्य वंश के व्यक्ति राजा बना दिये गये। इस प्रकार इटली विशेषतया आस्ट्रिया साम्राज्य के प्रभुत्व में रखा गया।

(५) पवित्र रोमन साम्राज्य तो १८०४ ई० में समाप्त हो ही चुका था, उसकी जगह जर्मनी को ३९ छोटे छोटे राज्यों का पृथक एक संघ बना दिया गया, जिनमें प्रशा और आस्ट्रिया राज्यों के भी भाग सम्मिलित थे। इस संघ का राज्य सचालन एक व्यवस्थापिका सभा (Diet) करती थी जिसमें संघ के प्रत्येक राज्य के राजा के प्रतिनिधि बैठते थे। इस संघ का अध्यक्ष आस्ट्रिया का राजा था, जो कि इसके नेतृत्व के लिये प्रशिया की आकांक्षा रखता था। वस्तुतः इस संघ की आवश्यकता तो यह थी कि छोटे छोटे राज्य सब विलीन होकर केवल एक सुसंगठित जर्मन राज्य में परिणत हो जायें,

किन्तु छोटे छोटे राज्य संकुचित स्वार्थ-भावनावश अपनी अपनी हस्ती अलग बनाये रखने पर तुले हुए थे।

प्रशा को राइन नदी के दोनों ओर कुछ प्रदेश मिले जिससे उसकी शक्ति में और भी वृद्धि हुई। रूस को वह प्रदेश मिला जो कि वस्तुत: पोलेण्ड का एक भाग था और 'वारसा की डची' कहलाता था। इंगलैंड को औपनिवेशिक प्रदेशों की दृष्टि से अत्यधिक लाभ हुआ। स्पेन से उसको ट्रिनीडेड मिला, फ्रांस से मारेशियस और होलेंड से आशा अन्तरीप।

यूरोप के राज्यों की उपरोक्त व्यवस्था अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये, यूरोप के चार प्रमुख राष्ट्रों का यथा आस्ट्रिया, प्रशा, रूस और इङ्गलैंड का सन् १८१५ में ही एक संघ बना, जो सन् १८२२ तक कायम रहकर इंगलैंड के इससे पृथक हो जाने पर टूट गया। एक दृष्टि से यह सन् १९१९ के राष्ट्र संघ (League of Nations) का पूर्वाभास था। सन् १८१५ में ही आस्ट्रिया के मन्त्री मेटरनिश के नेतृत्व में तीन देशों का यथा रूस, आस्ट्रिया और प्रशा का एक "पवित्र संघ" (Holy Alliance) बना, जिसका उद्घोषित उद्देश्य तो यह था कि बाइबल की शिक्षाओं के अनुसार ही इसके सदस्य राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यवहार करेंगे किन्तु वास्तविक उद्देश्य यह था कि यूरोप में साधारण जन की सब प्रगतिवादी 'समता' और 'स्वतन्त्रता' की भावना को कुचले रखना और राजाओं व अधिकारियों की सत्ता बनाये रखना। पवित्र संघ ने जहां जहां उदार शक्तियों ने सिर उठाने का प्रयत्न किया जैसे स्पेन में, जर्मनी में, इटली के प्रदेशों में, वहां वहां उनको अपनी सम्मिलित शक्ति से कुचल डाला।

वियेना कांग्रेस की त्रुटियां

यूरोप के राज्य की सीमाओं का जो नवनिर्माण किया गया उसमें साधारण जन की प्रस्फुटित होती हुई राष्ट्रीय भावनाओं का कुछ भी खयाल नहीं रखा गया। जैसे बेलजियम को जो एक कैथोलिक प्रदेश था और जिसकी भाषा कैल्टिक थी प्रोटेस्टेन्ट धर्मी होलेण्ड से मिला दिया गया; एवं इटली और जर्मनी देश जो राष्ट्रीय एकीकरण की ओर उन्मुख थे, उनकी इस गति को उनके छोटे-छोटे टुकड़े करके रोक दिया गया। पवित्र संघ स्थापित करके राजाओं की शक्ति को बनाये रखने का जो प्रयत्न था वह अप्राकृतिक था क्योंकि जन स्वाधीनता के बीज जो फ्रांस की राज्य क्रांति ने बो दिये थे उनको दबाये रखना असम्भव था।

अत: सन् १८१५ ई. में यूरोप में नव व्यवस्था स्थापित होते ही उसमें विच्छेद भी प्रारम्भ हो गया। इसके बाद का यूरोप का इतिहास उपरोक्त दो मुख्य त्रुटियों के निराकरण का इतिहास है; इसकी गति भी उपरोक्त दो त्रुटियों के निराकरण में दो प्रकार की होती है :—१. जन स्वाधीनता और जन सत्ता के लिये आंदोलन जिसके फलस्वरूप कई जन क्रान्तियां हुईं—जैसे सन् १८३० में फ्रांस में,—जिसके प्रभाव से बेलजियम, जर्मनी, इटली, इंगलैंड में भी क्रान्तियां हुईं, १८४८ में फिर फ्रांस में,—जिसकी प्रतिक्रिया और दूसरे

प्रदेशों में भी हुई; और १८७० में फिर फ्रांस में–जिसकी भी प्रतिक्रिया और देशों में हुई। २. स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान—जैसे बेलजियम, ग्रीस, इटली और जर्मनी। उपरोक्त दो प्रकार की हलचलें एक दूसरे से सर्वथा पृथक नहीं थीं—उन सब की गति एक ही ओर थी—जनता के सहयोग पर आश्रित स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों की उद्‌भावना और प्रगति; इस गति में तीन भावनायें निहित थीं:—समता, स्वतन्त्रता एवं जातीयता (राष्ट्रीयता)।

जन–स्वाधीनता और जनसत्ता के लिये क्रांतियां

(१८३० एवं १८४८)

सन् १७७६ में अमरीका का स्वाधीनता संग्राम हुआ, वहां जन-सत्तात्मक शासन की स्थापना हुई और उसी अवसर पर अमेरिकन विधान के मूल आधार मानव के सार्वभौम स्थायी अधिकारों की घोषणा हुई। फिर सन् १७८९ में फ्रांस की क्रांति हुई, उसमें भी मानव समानता और स्वतन्त्रता की घोषणा की गई। मानवजाति के मनीषियों और महापुरुषों ने मानव की चेतना को जागृत किया और उसे समता और स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाया था। किन्तु इस नव जागृत चेतना को दबा देने के लिये भी स्वार्थमयी शक्तियां समाज में काम कर रही थीं। १८१५ ई. में नेपोलियन के पतन के बाद इन प्रतिगामी शक्तियों ने जोर पकड़ा और आस्ट्रिया के विदेश मन्त्री मेटरनिश के नेतृत्व में रूस, प्रशा, स्पेन इत्यादि के शासकों ने पहिले तो जनता की आकांक्षाओं की परवाह किये बिना मनमाने ढंग से यूरोप के राज्यों का संगठन किया और फिर अपने अपने देश में जनता की भावनाओं को कुचले रखने के लिये दमन चक्र चलाना प्रारंभ किया। किन्तु वह चिनगारी जो यूरोप की जनता में लग चुकी थी, बुझाई न जा सकी। फ्रांस में नेपोलियन के बाद प्राचीन बोरबोन वंश के राजाओं का जो निरंकुश राज्य स्थापित कर दिया गया था उसके विरुद्ध सन् १८३० में देश भर में क्रांति की आग फैल गई। वह आग केवल फ्रान्स में ही नहीं किन्तु इटली, जर्मनी, पोलेंड, स्पेन, पुर्तगाल इत्यादि देशों में भी फैली। पोलेंड को छोड़कर प्रायः सब जगह राजाओं का स्वेच्छाचारी शासन समाप्त हुआ और हर जगह राजाओं को जन सत्तात्मक विधान (अर्थात् वह व्यवस्था जिसमें शासनाधिकार जनता पर आश्रित हों,–शासन जनता की सम्मति से होता हो) मंजूर करने पड़े।

१८४८ की क्रान्ति

१९वीं शती के मध्य तक यूरोप में यांत्रिक और औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी, उसके फलस्वरूप पच्छिमी यूरोप के समाज में एक नये वर्ग, एक नई भावना ने जन्म ले लिया था। वह नया वर्ग था श्रमिक वर्ग और वह नई भावना थी "समाजवाद" की भावना। यूरोप के मानव समाज में यह एक मूलतः नई चीज थी। यान्त्रिक उत्पादन के फलस्वरूप उत्पन्न नई आर्थिक परिस्थितियों ने उपरोक्त नई भावना और नये वर्ग को जन्म दिया था। राजाओं का एकतन्त्री शासन तो निसन्देह १८३० की क्रान्ति में समाप्त हो चुका था और वे जनता की सम्मति से याने व्यवस्था सभाओं की सम्मति से

शासन चलाते थे। किन्तु उन व्यवस्था-सभाओं में प्रतिनिधित्व विशेषतया उच्च वर्ग का अर्थात् पूंजीपति एवं उच्च मध्यवर्गीय लोगों का होता था। निम्न वर्ग, किसान और मजदूर लोगों का यथेष्ट प्रतिनिधित्व उसमें नहीं था। अतः समाज का आर्थिक ढांचा और उसके कानून इस प्रकार बने हुए थे जिस में उच्च वर्ग के लोगों के स्वत्व और स्वार्थ कायम रहें और निम्न वर्ग के लोग उच्च वर्ग के लोगों के धन, शक्ति और ऐश्वर्य के साधन बनकर रहें। तत्कालीन फ्रांस का राजा पूंजीपति एवं उच्च मध्य-वर्ग के प्रभाव में था, जनता की यह मांग थी कि मताधिकार निम्न-वर्ग के लोगों को भी प्राप्त हों, किन्तु फ्रांस का राजा यह बात मानने को तैयार नहीं था। मानव को जब यह भान हो चुका था कि सब समान हैं, तब ऐसी स्थिति का कायम रहना जिस में कुछ लोगों को तो विशेषाधिकार हों और कुछ को नहीं, कठिन था। अतः फिर एक बार क्रांति की आग धधक उठी, उसने फ्रांस के राजा को ही खत्म कर डाला, फ्रांस में राजशाही की जगह प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। इस क्रांति का प्रभाव भी सन् १८३० की क्रांति के समान यूरोप के अन्य देशों में पहुंचा। इंगलैंड में मताधिकार प्रसार के आंदोलन को नया वेग मिला और यद्यपि वहां कोई खूनी क्रांति नहीं हुई किन्तु मताधिकार प्रसार का आंदोलन अवश्य सफल हुआ। १८३० में पुराने अनियमित बोरोज (जिले) को हटाकर जो पुराने जमाने से निर्वाचन क्षेत्रों के रूप में चले आते थे किन्तु जहां अब जन-संख्या बहुत कम हो चुकी थी, नये निर्वाचन क्षेत्र बना दिये गये जिससे नये स्थापित नगरों को भी प्रतिनिधित्व मिल सके। १८६८ ई० में एक नये कानून से समस्त मजदूर वर्ग को मताधिकार दिया गया और फिर १८८४ ई० में समस्त किसान वर्ग को भी यह अधिकार मिला। इसके फलस्वरूप इङ्गलैंड में वयस्क पुरुषों का सार्वभौम मताधिकार स्थापित हो गया। इस क्रांति की प्रतिक्रिया जर्मनी और इटली में भी हुई जहां स्वतन्त्रता और एकता के लिए चलते हुए आन्दोलनों को प्रोत्साहन मिला और जिनकी परिणति इटली की स्वाधीनता और एकता स्थापना में, एवं जर्मनी की एकता की स्थापना में हुई।

२२

स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान

(THE RISE OF INDEPENDENT NATIONAL STATES)

बेल्जियम (१८३१)

१८१५ ई० में वियेना की कांग्रेस ने इसको हालेण्ड के साथ जोड़ दिया था—किन्तु बेल्जियमवासियों का धर्म और भाषा हालेण्डवासियों से भिन्न थे। हालेण्ड अपनी भाषा, अपने धर्म, राजकीय एवं आर्थिक स्वार्थों का प्रभुत्व बेल्जियम पर जमाने लगा, बेल्जियमवासी इसको सहन नहीं कर सके और उन्होंने विद्रोह कर दिया। अन्त में यूरोप के अन्य बड़े राज्यों के बीच-बचाव से सन् १८३१ में बेल्जियम एक पृथक राज्य घोषित कर दिया गया। विधान सम्मत राजशाही [Constitutional Monarchy] की वहां स्थापना हुई और देश की स्वाधीनता और उसकी तटस्थ स्थिति को मान्यता दी गई। यूरोप में प्रसारित होते हुए राष्ट्रीयता के सिद्धांत की यह प्रथम विजय थी।

ग्रीस का स्वाधीनता युद्ध (१८२९)

ग्रीस जो मध्य युग में पूर्वीय रोमन साम्राज्य का अंग था, सन् १४५३ ई० में बढ़ते हुये उस्मान तुर्की साम्राज्य का अंग बना। तब से ग्रीस लोग कई सदियों तक उसी इस्लामी तुर्की साम्राज्य के गुलाम रहे और उनसे आतंकित। १९वीं सदी में फ्रांस की राज्य क्रान्ति से उद्‌भूत होकर यूरोप के सब देशों में स्वतन्त्रता की एक लहर फैली और नेपोलियन के पतन के बाद प्रत्येक देश में राष्ट्रीयता की भावना। ग्रीक लोगों में भी चेतना जागृत हुई और उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता के लिये तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध सन् १८२१ में युद्ध शुरू कर दिया। इस छोटे से देश का तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़ा होना एक साहसमात्र था। किन्तु ग्रीक लोग स्वतन्त्रता की प्रेरणा से वीरता से लड़े, अन्य यूरोपीय देशों के भी स्वाधीनता प्रेमी अनेक साहसी युवक आ आकर ग्रीस के स्वाधीनता संग्राम में सहयोग देने लगे और ग्रीस सेना में भर्ती होकर तुर्कों के खिलाफ लड़ने लगे। इस प्रकार अनेक स्वयं-सेवक जो ग्रीस की सेना में भर्ती हुये उनमें इङ्गलैण्ड का प्रसिद्ध महाकवि लॉर्ड बायरन भी था। कई वर्षों तक युद्ध चलता रहा—अकेला ग्रीस विशाल तुर्की साम्राज्य के सामने

नहीं ठहर सकता था। अन्त में इङ्गलैण्ड, फ्रांस और रूस ने बीच बचाव किया; टर्की की कई जगह हार हुई और आखिरकार १८२९ ई० मे ग्रीस स्वतन्त्र हुआ। वहां राजतन्त्र सरकार कायम हुई, बवेरिया का एक राजकुमार राजा हुआ।

इटली की स्वतन्त्रता और एकीकरण (१८७१)

वियेना की कांग्रेस के बाद इटली की राजनैतिक दशा निम्न प्रकार थी। इटली छोटे-छोटे कई राज्यों में विभक्त था। हम इन राज्यो को चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

१. इटली का देशी राज्य—पीडमाण्ड और सार्डिनिया का राज्य, यहां इटली जाति के ही एक राजा विक्टर इमेन्यूअल द्वितीय का शासन था। २. इटली के बीचोंबीच रोम के पोप का राज्य था। ३. विदेशी राज्य—उत्तर में लोम्बार्डी और विनेशिया तो सीधे आस्ट्रिया के आधीन थे और टस्केनी, पालमा, मोदेना इत्यादि छोटे-छोटे राज्य आस्ट्रिया राज्यवंश के राजकुमारों के शासनाधीन थे। इस प्रकार इटली के एक प्रमुख भाग पर विदेशियों का शासन था और समस्त इटली प्रायद्वीप पर उसका प्रभाव। ४ दक्षिण में दो सिसली राज्य थे—जहां फ्रांस के बोरबोन वंश के राजाओं का अधिकार था।

प्राचीन रोमन साम्राज्य के पतन के बाद इटली में गोथ (आर्य) लोगों के छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुये। मध्य युग में भी यही दशा रही, उस काल तक तो राष्ट्रीयता का भावना का जन्म ही न हो पाया था। सोलहवीं शताब्दी में इटली के राजनैतिक विचारक मेकियाविली (१४६९—१५२७ ई.) ने राष्ट्रीयता का विचार लोगों को दिया और उसने यह स्वप्न देखा कि इटली के सब छोटे छोटे राज्य संगठित होकर एक प्रिंस (राजा) के आधीन हो जायें, किन्तु उस युग में यह सम्भव नहीं था। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में समस्त इटली पर नेपोलियन का प्रभाव रहा और उसने आधुनिक युग में इटलीवासियो में एकता और स्वतन्त्रता की भावना पैदा की। नेपोलियन के पतन के बाद वियेना को कांग्रेस द्वारा इटली का कई राज्यों में विभक्तीकरण हुआ जिसका जिक्र अभी ऊपर किया जा चुका है। किन्तु नेपोलियन काल में स्वतन्त्रता और एकता की जिस भावना का आभास इटलीवासी पा चुके थे, उसे वे नहीं भूले। इसी काल में इटली में वहां का प्रसिद्ध देशभक्त और लेखक जोसेफ मेजेनी (१८०५—७२ ई) पैदा हुआ जो मानो इटली की स्वतन्त्रता का देवदूत था। वह एक राष्ट्रीय नेता ही नहीं वरन् एक महामानव था जिसने व्यक्ति के जीवन के उत्कर्ष के लिये यह सबक सिखाया था 'अपने जीवन में किसी एक महान आदर्श को समाहित करलो।' उसने अपने लेखों से और अपने शुद्ध स्वार्थ रहित त्यागमय जीवन में इटली के जन-जन में स्वतन्त्रता के लिए एक तीव्र उत्कण्ठा पैदा कर दी। साथ ही साथ १८३० और १८४८ की राज्य क्रान्तियों ने इटलीवासियों में और भी जोश भर दिया। वे आस्ट्रिया से एवं आस्ट्रिया के राजकुमारों के छोटे छोटे राज्यों के एकतन्त्रीय शासन से मुक्त होने के लिए अग्रसर हो गये। विदेशियों के

विरुद्ध अनेक षडयन्त्र और हिंसात्मक कार्यवाहियां कीं। किन्तु वे सफल नहीं हो पाये। सार्डिनिया के इटली जातीय राजा विक्टर इमैन्यूअल का महा मन्त्री उस समय काउण्ट केवर [Count Cavour] था। उसने इस तथ्य को पहचाना कि बिना बाहर की सहायता के केवल षडयन्त्रों से इटली को मुक्त नहीं किया जा सकता, अतः उसने बड़ी सोच-समझ के बाद एक कूटनीति पूर्ण कदम उठाया। उस समय फ्रांस रूस के लिये क्रीमिया की लड़ाई में फंसा हुआ था। उसने तुरन्त सार्डिनिया की फौजें फ्रांस की मदद के लिये भेज दीं। इससे फ्रांस का शक्तिशाली राष्ट्र प्रसन्न हुआ। कांउण्ट केवर सामरिक तैयारियां करता रहा और अपनी फौजें बढ़ाता रहा और इसी टोह में रहा कि आस्ट्रिया से किसी भी प्रकार झगड़ा मोल ले लिया जाय। आस्ट्रिया ने जो विक्टर इमैन्यूअल की सामरिक तैयारियां देख रहा था, उनको एक धमकी दी कि वह अपनी फौजों का निशस्त्रीकरण कर दे। इस बात को लेकर युद्ध छिड़ गया। फ्रांस इटली की मदद को आया। १८५९ में आस्ट्रियन लोगों की हार हुई। लोम्बार्डी प्रान्त इटली के हाथ लगा। इटली की मुक्ति और एकीकरण की तरफ यह पहला कदम था। इस ओर अन्य घटनायें इस प्रकार हुईं—

१. १८५९ में उपरोक्त लोम्बार्डी प्रांत इटली जातीय राज्य सार्डिनयां में मिला लिया गया।

२. १८६० में टस्कनी, पालमा, मोदेना आदि छोटे छोटे राज्यों में विद्रोह हुआ; वहां के राजाओं को हटा दिया गया और वे सब राज्य उपरोक्त जातीय राज्य में मिला दिये गये।

३ इसी वर्ष दक्षिण के दो सिसली राज्यों में जहां फ्रांस के बोरबोन वंश के राजाओं का राज्य था, विद्रोह हुआ। इटली के स्वतन्त्रता संग्राम के वीर योद्धा गैरीबाल्डी ने इस विद्रोह का सफलतापूर्वक नेतृत्व किया और इन दोनों राज्यों को हराकर सार्डिनिया के जातीय राज्य में मिला दिया।

४. १८६६ ई० में आस्ट्रेलिया और प्रशा में युद्ध छिड़ गया। सार्डिनियां के राजा विक्टर इमैन्यूअल ने प्रशा की मदद की, युद्ध में आस्ट्रिया की हार हुई और सार्डिनयां ने प्रशा की जो मदद की थी उसके बदले में वेनिस (वेनेशिया) का राज्य उसको प्राप्त हुआ।

५. १८७० ई० में स्वयं विक्टर इमैन्यूअल ने रोम पर चढ़ाई कर दी और यह अन्तिम राज्य भी इटली राज्य में मिला लिया गया।

इस प्रकार १८७० ई० में इटली की मुक्ति हुई और शताब्दियों के बाद इटली एक राज्य बना। यह काम देशभक्त मेजेनी की प्रेरणा से, गैरीबाल्डी की तलवार से, मन्त्री केवर की कूटनीति से और राजा विक्टर इमैन्यूअल की सहज बुद्धि से सम्पूर्ण हुआ।

जनता की सम्मति से विधान-सम्मत राजतन्त्र की स्थापना हुई। पार्लियामेण्ट की सम्मति से राजा राज्य करने लगे। पहिला राजा विक्टर इमैन्यूअल ही बना। मुक्त होने के बाद इटली कुछ ही वर्षों में यूरोप का एक शक्तिशाली अगुआ राष्ट्र बन गया।

जर्मनी का एकीकरण

मध्य युग में वह प्रदेश जो आधुनिक जर्मनी है पवित्र रोमन साम्राज्य के रूप में स्थित था। उसकी यह स्थिति कई सदियों तक बनी रही। यह पवित्र साम्राज्य एक केन्द्रीय सुसंगठित राज्य नहीं था। इसमें सैंकड़ों छोटे छोटे राज्य थे जिनके शासक कहीं तो सामन्ती सरदार (Dukes) होते थे और कहीं के शासकों को राजा की उपाधि भी होती थी। एक जर्मन राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अभाव था यद्यपि यूरोप में फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल, इङ्गलैण्ड और रूस पृथक पृथक राष्ट्रीय राज्य बहुत पहिले ही बन चुके थे। इस पवित्र साम्राज्य पर १९वीं शती के प्रारम्भ में फ्रांस के नेपोलियन बोनापार्ट का अधिकार हुआ, उसने पवित्र साम्राज्य के नाम को खतम किया, उस साम्राज्य के पच्छिमी राज्यों को मिलाकर सन् १८०६ में राइन संघ का निर्माण किया। इस संघ से पृथक पूर्व में प्रशा और आस्ट्रिया के अलग राज्य कायम रहे। किन्तु १८१५ ई० में नेपोलियन के पतन के बाद, राइन संघ को तोड़कर अलग एक जर्मन संघ का निर्माण किया गया, जिसमें राइन संघ के छोटे छोटे राज्यों के अतिरिक्त प्रशा और आस्ट्रिया राज्यों के भी कुछ भाग सम्मिलित किये गये। प्रशा के निवासी ट्यूटोनिक जाति के थे जो जर्मन भाषा बोलते थे; आस्ट्रिया राज्यों के कुछ भागों के निवासी अधिकतर स्लैव जाति के थे जो स्लैव जाति की भाषायें बोलते थे। इस नये संघ के निर्माण होने के पहिले उक्त प्रदेशों में जितने भी उदार विचारवादी जर्मन भाषाभाषी थे उनकी यह उत्कट इच्छा थी कि छोटे छोटे सब राज्यों का एकीकरण होकर एक सशक्त केन्द्रीय जर्मन राज्य स्थापित हो किन्तु उनकी यह इच्छा सफल नहीं हो सकी एक केन्द्रीय राज्य बनाने के बदले वियेना की कांग्रेस ने आस्ट्रिया के नेतृत्व में एक शिथिल संघ बनाकर रख दिया।

इस संघ के नेतृत्व के लिए प्रशा भी अग्रसर था—आस्ट्रिया और प्रशा में इस बात पर प्रतिस्पर्द्धा खड़ी हो गई। वियेना की कांग्रेस के बाद उक्त जर्मन संघ के इतिहास में दो बड़े आन्दोलन प्रारम्भ हुए। एक का उद्देश्य था जर्मन एकता और दूसरे का उद्देश्य उदारवादी जनशासन। जर्मन भाषा-भाषी अनेक नवयुवक और विद्यार्थी इस प्रेरणा में लीन हो गये कि छोटे छोटे स्वेच्छाचारी राजाओं को हटाकर एक शक्तिशाली संगठित राज्य स्थापित किया जाये। सन् १८३० व ४८ की फ्रांस की क्रांतियों का भी उन पर जबरदस्त असर पड़ा। सबके पहिले तो इन छोटे छोटे राज्यों में व्यापारिक एकता स्थापित हुई जिसका अर्थ था कि अन्तर्प्रान्तीय व्यापार बिना किसी पाबन्दी या महसूल के स्वतन्त्र रूप से हो। यह जर्मन एकता की ओर प्रथम कदम था। एकता के भाव को सर्वाधिक उत्तेजना देने वाला प्रशा था इसलिए सभी लोग प्रशा को अपना नेता समझने लगे। जर्मन संघ को प्रशा के अधिना-यकत्व में एक केन्द्रीय राज्य बनाने के प्रयत्न भी हुए किन्तु आस्ट्रिया ने उन सबको विफल कर दिया। सन् १८६१ में प्रशा का राजा विलियम द्वितीय था। उसको बिसमार्क (१८१५-१८९८ ई०) नामक एक कुशल और साहसी पुरुष मिला जो प्रशा राज्य का प्रधानमन्त्री एवं परराष्ट्र मन्त्री बनाया गया। बिसमार्क जर्मनी के महापुरुषों में से एक है। बिसमार्क का यह विश्वास था

कि प्रशा का उद्देश्य जर्मन जाति की एकता है और वह एकता प्रशा के राज-वंश द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। विसमार्क ने एक अद्भुत शक्तिशाली अनुशासनशील सेना का निर्माण किया। यह सेना यान्त्रिक शस्त्रों द्वारा सैन्य थी। मशीनों द्वारा आधुनिक ढङ्ग के शस्त्र पहिले कभी भी नहीं ढाले गये थे। विसमार्क की संगठनकर्ता कुशलता का केवल इसी बात से पता लगता है कि जब १८७०-७१ ई० में फ्रांस और प्रशा में युद्ध हो रहा था तब प्रशा की जो १५० रेलगाड़ियां जिनमें डेढ़ लाख सैनिक थे, फ्रांस की सीमा पर भेजी गईं उनमें एक भी गाड़ी, एक मिनट की भी देरी से नहीं पहुंची। विसमार्क ने आस्ट्रिया को अलग करने का एक ही रास्ता निकाला था और वह था "रक्त और लोह" (Blood and Iron) की नीति। वास्तव में वह स्वयं तत्कालीन यूरोप का एक लौह पुरुष था—जिसने बिखरी ईंटों में से एक नये राष्ट्र का निर्माण कर, उस राष्ट्र को भी फौलादी राष्ट्र बना दिया। जब से प्रशा में विसमार्क के हाथ में शक्ति आई तभी से मानों जर्मनी सचमुच एक संगठित राष्ट्र की ओर तेजी से अग्रसर हो गया। सर्व प्रथम विसमार्क ने आस्ट्रिया से निपटना चाहा। १८६६ई० में आस्ट्रिया ने उससे युद्ध छेड़ दिया। आस्ट्रिया की हार हुई—प्रेग में संधि हुई-सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया जर्मन संघ से पृथक हुआ और उसने यह स्वीकार किया कि प्रशा जिस तरह से चाहे जर्मनी का निर्माण कर सकता है। विसमार्क ने जर्मन संघ के उत्तरी राज्यों का सन् १८६७ में एक संघ बनाया जिसका अधिनायक प्रशा रहा; इसमें दक्षिण के राज्य जो रोमन कैथोलिक थे और जिनको फ्रांस का सहारा था, शामिल नहीं हुए। अतः विसमार्क को फ्रांस से भी निपटना पड़ा। सन् १८७०-७१ ई० में महत्वपूर्ण जर्मन फ्रांस युद्ध हुआ। सीडेन युद्ध क्षेत्र में फ्रांस की हार हुई और फ्रांस का राजा नेपालियन द्वितीय कैद कर लिया गया। आखिर युद्ध का निर्णय फ्रैंकफोर्ट की संधि में हुआ। जर्मनी में फ्रांस का हस्तक्षेप समाप्त हुआ और उसे अपने प्रान्त अल्सेस लोरेन जर्मनी को देने पड़े। जर्मनी का एकीकरण सम्पूर्ण हुआ। होहनजोलर्न राज्य वंश की अध्यक्षता में एक राष्ट्र-संसद का निर्माण हुआ, और इस प्रकार विधान—सम्मत राजतन्त्र की वहां स्थापना हुई। शताब्दियों के बाद जर्मन जाति एक राष्ट्रीय राज्य के अन्तर्गत संगठित हुई।

हंगरी का उत्थान

सन् १८०६ ई० में पवित्र रोमन साम्राज्य खतम हुआ। उसकी जगह पश्चिम में तो मुख्यतया जर्मन लोगों का राइन संघ बना और पूर्व में हेब्स-वर्ग वंश के राजाओं का आस्ट्रिया साम्राज्य अलग। आस्ट्रियन साम्राज्य का विस्तार उत्तरी इटली में एवं जर्मनी के कुछ प्रान्तों तक था। १९वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता की जो लहर चली उसके फलस्वरूप सन १८५९—६० में इटली के प्रान्त उससे पृथक् हुए और सन् १८६६ में जर्मनी के प्रदेश। इन प्रदेशों के पृथक होने के बाद भी आस्ट्रिया साम्राज्य में कई जातियों के लोग रह गये थे, जैसे मगयर, स्लैव जैक इत्यादि। आस्ट्रिया के सम्राट को यह महसूस हुआ कि राज्य को शक्तिशाली बनाये रखने के लिए उसमें भिन्न भिन्न जाति के जो लोग हैं उनको खुश रखना आवश्यक है, विशेषतः उन मगयर लोगों को जो उस भाग में बसे हुए थे जो हंगरी कहलाता था। अतः सन्

१८६८ ई० में सम्राट ने अपने राज्यों को दो भागों में विभक्त कर दिया, एक आस्ट्रिया जिसकी राजधानी वियेना रही और दूसरा हंगरी जिसकी राजधानी बुडापेस्ट रखी गई। इस प्रकार एक नये राज्य का उद्‌भव हुआ। दोनों राष्ट्र विदेश नीति और दूसरे प्रश्नों को छोड़कर अपने आंतरिक मामलों में स्वतन्त्र रहे। आस्ट्रिया का सम्राट हंगरी का राजा रहा। यह स्थिति सन् १९१९ ई० तक चलती रही, जब प्रथम महायुद्ध के बाद इन दोनों राज्यों में से तीन राज्यों का निर्माण किया गया आस्ट्रिया, हंगरी और तीसरा राज्य जेकोस्लोवे किया।

यूरोप (१८१५-७०)—सिंहावलोकन

देखा होगा कि जनतन्त्र और राष्ट्रीयता इन्हीं दो शक्तियों ने १९ वीं सदी में यूरोप के इतिहास का निर्माण किया। जनतन्त्र की भावना ने राजशाही को खत्म किया और उसकी जगह वैधानिक राजतन्त्र या गणतन्त्र (Republic) राज्यों की स्थापना हुई। "राजाओं का दिव्याधिकार" का विचार एक हास्यास्पद पुरानी कहानी रह गया।

तीव्र राष्ट्रीय भावना ने नये राष्ट्रों को नये राज्यों को जन्म दिया, कई परतन्त्र राज्य मुक्त हुए, एक राज्य का दूसरे राज्य पर, एक जाति का दूसरी जाति पर अधिकार हो, ऐसी स्थिति बना रहना प्रायः असंभव हो गया। अब देश देश में जातीय गौरव, तीव्र राष्ट्रीयता की भावना थी। इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, होलैंड, बेलजियम, रूस इत्यादि प्रत्येक अब अलग अलग राज्य था या अलग अलग जाति या अलग अलग राष्ट्र। यूरोप के जीवन में यह एक नई वस्तु थी जिसका मध्ययुग तक कोई रूप नहीं था; तब तो छोटे २ सामन्तों या राजाओं के आधीन रहते हुए यूरोप के लोग सब 'ईसाई" थे और सब जातीय भेदभाव के बिना एक पोप या एक पवित्र रोमन सम्राट के आधीन थे। उपरोक्त नवउद्‌भूत राष्ट्रीय भावना ने राजनीति में 'कूटनीति' (Diplomacy) को जन्म दिया था। यूरोप के राज्यों का यही प्रयास रहता था कि सच झूठ, नैतिक अनैतिक किसी भी तरह हो अपने राष्ट्र का अभ्युदय और उत्थान हो, कोई दूसरा राष्ट्र इतना शक्तिशाली न बन जाये कि वह किसी भी दूसरे राष्ट्र के लिये कुछ खतरा पैदा कर दे। दूसरे शब्दों में—यही प्रयास रहता था कि यूरोप में शक्ति संतुलन (Balance of Power) बना रहे। इसी उद्देश्य से समय-समय पर यूरोप में कहीं भी कुछ झगड़ा हो जाता था तो झट सब राष्ट्रों के दो गुट बन जाते थे। इस तरह समय-समय पर नई संधियां होती रहती थीं, टूटती रहती थीं। किन्तु एक विलक्षण बात है कि राजनैतिक क्षेत्र में यह अनैतिकता और विषमता होते हुए भी यूरोप में अभूतपूर्व वैज्ञानिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं आर्थिक विकास हो रहा था। समस्त जीवन, व्यक्ति का और समाज का, नई बुनियादों पर, नये आदर्शों पर, नये रूपों में ढल रहा था। इस पृष्ठभूमि में से उठकर यूरोप अब विश्व क्षेत्र में पदार्पण कर रहा था, वस्तुतः पदार्पण कर चुका था और १८७० तक तो विश्व क्षेत्र में इतना प्रसारित हो चुका था कि हम मान सकते हैं कि तब से यूरोप की हलचल केवल यूरोप की हलचल नहीं रहती वह दुनिया की हलचल हो जाती है, यूरोप की राजनीति केवल यूरोप की राजनीति नहीं रहती वह दुनिया की राजनीति हो जाती है।

२३

औद्योगिक क्रांति और उसका प्रभाव

[INDUSTRIAL REVOLUTION AND ITS EFFECT, 1750–1850]

पूर्वपीठिका

जो मानव अपनी कहानी के प्रारम्भिक युग में बाड़े में लौटती हुई अपनी भेड़ों की जांच कंकरों के सहारे गिन कर किया करता था कि कोई भेड़ गुम तो नहीं हो गई है, जो फिर बिना किसी वस्तु के सहारे ५ तक की गिनती जानने लगा था, कल्पना कीजिए वही आदि मानव धीरे—धीरे विकास करता हुआ इस स्थिति तक पहुंचा कि वह अब केवल पांच नहीं किन्तु खगोल एवं ज्योतिष विज्ञान के, अरबों खरबों की संख्या को अपनी कल्पना के दायरे में ला सकता था, वही मानव अब पृथ्वी की गतिविधि का, प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने लगा था कि क्या यह सूर्य है, क्यों वे ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं, कितनी गति से सूर्य का प्रकाश हमारे पास आकर पहुंचता है,—कैसे वनस्पति, जीव और मानव उद्भव और लुप्त होते हैं। मानव ने यह ज्ञान धीरे-धीरे सम्पादन किया—ज्ञान सम्पादन की गति रिनेसां युग से प्रारम्भ होकर आधुनिक युग में तीव्र से तीव्रतर होती गई। इस गति को देखिये—

भाप एन्जिन और रेल

सन् १७६५ ई० में इंगलैंड में जैम्सवाट ने अपना सर्वप्रथम भाप का एन्जिन बनाया। यह एन्जिन कोयले और लोहे की खदानों में से पानी बाहर फेंकने के काम आता था। इसी भाप के एन्जिन में और सुधार हुए और सन् १७८५ ई० में यह कपड़े की मील चलाने के काम में आने लगा। अभी तक ऐसा एन्जिन नहीं बना था जो गाड़ियों को दूरी तक खींचने के काम में आता। यह काम इङ्गलैंड में ही जार्ज स्टीफनसन ने पूरा किया। सन् १८१४ में उसने कोयले की खानों से कोयला ढोने वाली छोटी गाड़ियां खेंचने के लिये एक एन्जिन तैयार किया। इस एन्जिन में और सुधार किया गया। सन् १८२५ ई० में जार्ज स्टीफनसन की ही देखरेख में दुनियां की सबसे पहिले रेलवे लाइन इंगलैंड में स्टोकटन और डार्लिङ्गटन नामक दो जगहों के बीच

बनाई गई। यह मालगाड़ी थी। उसी ने फिर लिवरपूल और मेनचेस्टर दो शहरों के बीच सबसे पहिली पेसेंजर रेलगाड़ी तैयार की जिसके सर्वप्रथम एन्जिन का नाम राकेट था। यह एन्जिन 'राकेट' गाड़ियों को खेंचता हुआ ३५ मील फी घंटा की चाल से चलता था। इतनी तेजी से चलने वाली कोई भी वस्तु मानव ने पहिले कभी नहीं देखी। यह रफ्तार दुनियां में एक आश्चर्य-जनक घटना थी और सर्वाधिक आश्चर्यजनक बात यह कि बिना किसी जीव शक्ति के वह एन्जिन चलता था। १९वीं शताब्दी के मध्य तक इंगलैंड भर में रेलों का एक जाल सा फैल गया। यूरोप में सर्वप्रथम रेलवे बेलजियम में एक अंग्रेज इन्जिनियर द्वारा बनाई गई, वहां भी १९वीं शताब्दी के मध्य तक कई रेलवे लाइनें खुल गई।

भाप के जहाज

स्टीम एन्जिन के आविष्कार के पहिले जहाज डांड, पतवारों या पाल [Sails] से चलते थे। ऐसी जहाजों का युग समाप्त हुआ और उनकी जगह अगनबोट [Steamer] चलने लगे। जहाज में सर्वप्रथम भाप के एन्जिन का प्रयोग सन् १८०७ ई० में अमेरिका के एक इन्जिनियर फिल-टन ने किया। यह स्टीमर शुरू—शुरू में गहरी नदियों में ही चलते थे। पहला स्टीमर जिसने समुद्र में यात्रा की उसका नाम फोनिक्स [Phoenix] था। इसने अमेरिका में न्यूयार्क से फिलाडेलफिया तक यात्रा की थी। सन् १८०९ ई० में पहली स्टीमर ने अटलांटिक महासागर पार किया। इनमें सुधार होते गये और जहां पाल के जहाजों को अटलांटिक महासागर पार करने में कई महीने तक लग जाया करते थे वहां १९ वीं सदी के अन्त होने तक ऐसे स्टीमर चलने लगे जो अटलांटिक महासागर को ५—६ दिन में ही पार कर जाते थे।

कताई और बुनाई की मशीनों का आविष्कार

सन् १७६४ ई० में हारगेवंज नामक लंकाशायर के एक जुलाहे ने स्पिनिंग जेनी (कई तकलों का एक चर्खा) का आविष्कार किया। इससे साधारण चर्खे की अपेक्षा कई गुना सूत कत सकता था। सन् १७६९ ई० में आर्कराइट ने; और सन् १७७५ ई० में क्रोम्पटन ने कताई की अधिक विकसित मशीनों का आविष्कार किया। इसी समय कार्टराइट ने करघा मशीन (कपड़ा बुनने की मशीन) का आविष्कार किया। ये मशीनें पहले तो घोड़ों द्वारा और फिर जल शक्ति द्वारा चलाई गईं। इसी समय भाप एन्जिन का भी आविष्कार हो चुका था। सन् १७७५ ई० में भाप शक्ति से चलने वाली दुनियां की सर्वप्रथम कपड़े की मील की स्थापना नोटिंघम (इंगलैंड) शहर में हुई; मेनचेस्टर में सर्वप्रथम कपड़े की मील की स्थापना सन् १७८९ ई० में हुई, उसी साल जिस साथ फ्रांस की राज्य क्रान्ति हुई थी। फिर तो इंगलैंड में धड़ाधड़ कपड़े की बड़ी-बड़ी मीलें खुल गई और मेनचेस्टर नगर कपड़े के व्यवसाय का बहुत बड़ा केन्द्र बन गया। कुछ समय पश्चात् ऊनी कपड़ा भी मशीनों द्वारा बनाया जाने लगा। पश्चिमी दुनियां में चर्खे और

कर्घे प्रायः खत्म हुए और उनकी जगह लाखों आदमी मशीन द्वारा उत्पादित वस्त्र-व्यवसाय में लग गये।

खान और धातु कार्य

बड़ी-बड़ी लोहे की मशीनें, रेलवे एन्जिन तथा स्टीमर कभी भी सम्भव नहीं होते यदि खानों से धातु निकालने, उस धातु को शुद्ध करने तथा उसको मनचाहा मजबूत बनाने के कार्य में, उसको गलाने और ढालने के काम में तरक्की नहीं होती। सन् १८५८ ई० में इंगलैंड में एक इन्जिनियर लोहे का फौलाद [Steel] बनाने में सफल हुआ और १८६१ ई० में धातुओं को गलाने के लिये बिजली की भट्टी का आविष्कार हुआ।

बिजली, तार तथा टेलीफोन

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इंगलैंड के वैज्ञानिक फैराडे [Faraday] ने बिजली सम्बन्धी कई तथ्यों का उद्घाटन किया। सन् १८३१ ई० में उसने डाइनेमो का भी आविष्कार किया। बिजली के कई तथ्यों के आविष्कार के फलस्वरूप तार और टेलीफोन का भी आविष्कार हुआ। सन् १८३५ ई० में सबसे पहिली तार की लाइन लगी। सन् १८५१ ई० में फ्रान्स और इंगलैंड के बीच सर्वप्रथम केवल (समुद्र पार तार भेजने की व्यवस्था) लगाया गया। सन् १८७६ ई० में आपस में बातचीत करने वाले टेलीफोन का सर्वप्रथम प्रयोग हुआ। फिर तो धीरे-धीरे सब जगह जहां-जहां रेल्वे लाइन बनी तार, टेलीफोन भी साथ-साथ लगने लगे।

उपरोक्त बिजली के तथ्यों के उद्घाटन के बाद सन् १८७८ ई० में सर्वप्रथम बिजली की रोशनी का प्रचलन हुआ, इसी वर्ष अमेरिकन वैज्ञानिक एडीसन ने विद्युत लेम्प का आविष्कार किया था और तदुपरान्त तो बिजली शक्ति का प्रयोग भाप शक्ति की तरह मशीनें और रेलगाड़ी इत्यादि चलाने में भी होने लगा और इसी परम्परा में मोटर एवं हवाई जहाज, सिनेमा रेडियो, टेलीविजन एवं अन्य हजारों यांत्रिक वस्तुओं का आविष्कार, प्रसार और प्रचलन हुआ—जो अपने आप में एक विस्मयकारी कहानी है; और जिसने आधुनिक मानव के न केवल रहन-सहन के ढंग को बदल दिया वरन् उसके मानस एवं जीवन-दर्शन को भी बदल दिया। विज्ञान बढ़ा, यांत्रिक क्रांति हुई और इसका प्रतिफलन हुआ औद्योगिक क्रान्ति में। यंत्रों की मदद से अब मानव पहले की अपेक्षा दस गुना, सौगुना अधिक तेज रफ्तार से चल सकता था, हवा में उड़ सकता था, हजारों मील दूर बैठा हुआ दूसरे आदमी से बात-चीत कर सकता था। यंत्र की सहायता से ऐसे भारी काम जो पहिले हजारों आदमी भी एक साथ अपनी शक्ति लगा कर नहीं कर सकते थे अब वह अकेला कर सकता था। क्या यह क्रांति अद्भुत नहीं थी ?

औद्योगिक क्रांति का प्रभाव

औद्योगिक क्रांति के पहले व्यवसाय की इकाई कुटुम्ब थी। गांव में बसा हुआ घर ही उस इकाई का कारखाना था। अर्थात् लुहार को जो कुछ

बनाना होता था, खाती को जो कुछ बनाना होता था, कुम्हार और जुलाहे को जो कुछ बनाना होता था—यह सब काम वह अपने घर पर बैठा-बैठा कर लेता था और सारे कुटुम्ब वाले उसमें मदद कर देते थे। श्रम का कोई विशेष विभाजन नहीं था, दुनियां के प्रायः सभी देशों में यही हाल था। किन्तु अब व्यवसाय और उद्योग यन्त्र की मदद से होने लगे; काम करने का स्थान तो घर न होकर हो गया मील या कारखाना, उसका मालिक हो गया पूंजीपति और वहां काम करने वाले पैदा हो गए, पूंजीपति के आश्रित, वेतनभोगी मजदूर। जुलाहे के घर की जगह अब कपड़े की मिल बन गई; लुहार के घर की जगह बड़े बड़े लोहे और इस्पात के कारखाने और कुम्हार के घर की जगह पोटरी के कारखाने। प्रायः १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक इंगलैंड, फ्रांस और जर्मनी में गृह एवं हस्त उद्योग यांत्रिक फैक्टरी प्रणाली में परिवर्तित हो चुके थे। उन दिनों लंकाशायर दुनियां की औद्योगिक चहल पहल का मानो एक केन्द्र सा बन गया था। अमेरिका में प्रायः १८३० ई० तक ऊनी सूती कपड़े बनाने के लिए सब हस्त उद्योग बंद हो चुके थे और उनके स्थान पर वस्तुओं का यन्त्र से उत्पादन करने वाले कारखाने खुल गये थे। गावों से सैंकड़ों गरीब लोग अपना घर छोड़ छोड़ कर कमाई के लिये कारखानों की ओर जाने लगे। बड़े बड़े कारखाने खुल गये जिनमें हजारों मजदूर काम करते थे, मजदूरों के रहने के लिए कारखानों के आसपास ही सस्ते घर बन जाते थे—उनमें सफाई का कोई ख्याल नहीं रखा जाता था। ये घर, गलियां सब नर्क की गन्दगी से भी बुरी होती थीं—मानव रहवास के बिल्कुल अयोग्य। औद्योगिक नगरों की जनसंख्या में भी खूब वृद्धि हो गई थी, उसकी वजह से भी कई नई समस्यायें उत्पन्न हो गईं। कई नई-नई तरह की बीमारियों पैदा होने लगीं, लोगों का स्वास्थ्य गिरने लगा।

एक ओर तो कारखानों की कमाई से, कारखानों के मालिक पूंजीपतियों के हाथों में अतुल सम्पत्ति एकत्र हो रही थी और दूसरी ओर यह प्रयत्न हो रहा था कि मजदूरों से अधिकाधिक काम लेकर उनको कम से कम वेतन दिया जाय—बस इतना कि खाकर काम करने के लिए जिन्दा रह सकें। जनता में अभी शिक्षा का प्रसार नहीं हो पाया था और न यह मानवीय भावना थी कि मानव के व्यक्तित्व का कुछ मूल्य होता है। अतः निःसंकोच छोटे—छोटे बच्चों से, स्त्रियों से भी, कारखानों में १२—१२, १४—१४ घंटे काम लिया जाता था। जहां जहां भी यांत्रिक उद्योग का विकास हुआ वहां वहां ऐसी ही अवस्थायें पैदा होती गईं। राज्य की ओर से कोई दखल नहीं दिया गया क्योंकि यह देखा गया कि जहां व्यावसायिक क्रान्ति के पूर्व राज्य सत्ता का आधार भूमि थी अब वह आधार व्यावसायिक समृद्धि थी। औद्योगिक क्रांति के पूर्व इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि सब कृषि प्रधान थे, कुछ हस्तकला-कौशल वाले कारीगरों, व्यापारियों को छोड़कर प्रायः समस्त लोग अन्य सब देशों की तरह कृषि काम में ही लगे रहते थे। खाद्य के मामले में सब स्वावलम्बी थे किन्तु औद्योगिक क्रांति के बाद इंगलैंड और जर्मनी में विशेषकर और फ्रांस में भी ५० प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या नगरों में बस गई और यांत्रिक उद्योगों में लग गई, जनसंख्या में भी बड़ी तीव्रता से वृद्धि होने

लगी—अतः इन देशों को खाद्यान्न के लिए दूसरे देशों से आयात पर निर्भर होना पड़ा। जिन देशों में औद्योगिक विकास हुआ उनको अन्न और कच्चा माल जैसे कपास, तेल इत्यादि मंगाने के लिए और यंत्रों द्वारा बहुतायत से उत्पादित वस्तुओं को बेचने के लिए दूसरे देशों की जरूरत पड़ी अतः उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का जन्म हुआ। भिन्न भिन्न देशों में आर्थिक राजनैतिक सम्बन्धों में वृद्धि हुई। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठन, बैंक इत्यादि स्थापित हुए जिनसे एक दूसरे देश के लेनदेन के हिसाब साफ होते रहें। इस प्रकार देशों की आर्थिक-व्यवस्था ही मूलतः बदल गई। मानव समाज में एक नया तत्व पैदा हो रहा था—वह तत्व था विशाल क्षेत्र में कार्यों, व्यवसायों, हलचलों इत्यादि का कुशल केन्द्रीय संगठन, अर्थात् समाज में भिन्न भिन्न अंग दुनियां के भिन्न भिन्न देश एक सुनियोजित संगठन में गठित होकर एक केन्द्रीय सस्था द्वारा परिचालित हों। समाज और दुनिया में एक नई संगठन कर्त्री प्रतिभा का उदय हो रहा था। औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व तो व्यक्ति का काम, कारोबार, लेनदेन, व्यवसाय,शिक्षा-दिक्षा इत्यादि सब, व्यक्ति या कुछ पड़ोसियों तक या उसके गांव तक ही सीमित था—कह सकते हैं कि ऐसे संगठन में सरलता थी, व्यक्ति के लिए अपने काम में स्वतन्त्रता थी। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् समाज और दुनियां में जीवन-संगठन का दूसरा ही रूप आने लगा; अब व्यक्ति का काम बहुत बड़े कारखाने के विशाल काम का अंश मात्र था, उसका लेनदेन अब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपने पड़ोसी से ही सम्बन्धित नहीं था किन्तु दूर-दूर दुनियां के भिन्न-भिन्न देशों से सम्बन्धित था, अन्य देशों में क्या आर्थिक हलचल होती है उसका प्रभाव उस पर पड़ता था। वह अब विशाल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संगठित कारोबार, अर्थ-योजना का एक अंश मात्र था। ऐसे संगठन में सरलता नहीं, पेचीदापन होता है; व्यक्ति स्वतन्त्रता बहुत सीमित होती है। किन्तु मानव समाज की प्रगति इसी दिशा की ओर होने लगी—सरलता से पेचीदापन की ओर, सीमित व्यक्तिगत संगठन से विशाल सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की ओर; किन्तु कम सुविधा से अधिक सुविधा की ओर, संकुचित दृष्टिकोण से विशाल दृष्टिकोण की ओर, स्थानीय सम्पर्कता से सर्वदेशीय सम्पर्कता की ओर।

समाज संगठन के आधारभूत तत्व बदले, इस परिवर्तन ने नई समस्यायें, नये विचार उत्पन्न किये। मानसिक क्षेत्र में मन की गति रूढ़धर्म और रूढ़ दार्शनिक विवेचन से बुद्धिवाद (Rationalism) एवं सन्देहवाद (Scepticism) की ओर हुई; राजनैतिक क्षेत्र में यह गति राजतन्त्र की ओर से जनतन्त्र की ओर हुई; आर्थिक क्षेत्र में सामन्तवाद से पूंजीवाद की ओर एवं पूंजीवाद से समाजवाद-साम्यवाद की ओर। शिक्षा क्षेत्र में भी इस मान्यता की ओर विकास हुआ कि बच्चे का स्वतन्त्र विकास हो।

की आज्ञा ली, तभी से पहिले तो अंग्रेजी व्यापार में वृद्धि होना शुरू हुआ, फिर भारत की राजनैतिक अस्त-व्यस्तता, कमजोरी और राष्ट्रीय भावना की हीनता को देख कर अंग्रेज लोग धीरे-धीरे यहां अपना राज्य जमाने लगे। कह सकते हैं कि सन् १७४८ ई० में आरकोट के घेरे से प्रारम्भ करके जबकि ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पहली बार भारतीय राजाओं के मामलों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया, १८४८ ई० में कम्पनी की पंजाब पर विजय तक के १०० वर्षों के काल में ब्रिटिश आधिपत्य धीरे-धीरे समस्त भारत पर छा चुका था—मुगल या मराठा भारत ब्रिटिश भारत हो चुका था।

चीन

चीन में योरोपियन लोगों का प्रवेश १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। वहां पर उन्होंने अपने व्यापार की अभिवृद्धि की, व्यापारिक अभिवृद्धि के लिए कुछ युद्ध भी हुए किन्तु हांगकोंग बन्दरगाह (ब्रिटिश), मकाओ नगर (पुर्तगीज) और शांघाई नगर (अन्तर्राष्ट्रीय) को छोड़ कर वहां पर वे अपना राज्य कायम नहीं कर सके। लेकिन उन्होंने अनेक कारखानों में अपनी लाखों, करोड़ों की सम्पत्ति लगा कर एक प्रकार से आर्थिक क्षेत्र में अपना प्रभाव अवश्य जमा लिया था।

लंका

१५०५ ई. में पुर्तगाली नाविक फ्रांसिस्को दी ऐलमीडा लंका में उतरा। १५१७ ई. में लंका की आधुनिक राजधानी कोलम्बो में प्रथम पुर्तगाली किला बनाया गया। उस समय लंका के विभिन्न प्रान्तों में ७ राजा राज्य करते थे। पुर्तगाली लोगों ने राजाओं को आपस में लड़ा कर भेद नीति से धीरे-धीरे सारे देश पर अपना कब्जा कर लिया। देश में लगभग १४० वर्ष तक पुर्तगाली राज्य रहा। १६०२ ई. में डच एडमिरल स्पीलबर्ग लंका में उतरा और डच लोगों ने १७वीं शताब्दी के मध्य तक पुर्तगालियों को देश से खदेड़ कर बाहर किया और अपना प्रभुत्व स्थापित किया। लगभग १४० वर्ष तक डच राज्य रहा। १८वीं शताब्दी का अन्त होते-होते अंग्रेज आए, १७९६ ई. में अंग्रेजों ने डच लोगों को हरा कर लंका में अपना राज्य स्थापित किया। ४ फरवरी १९४८ के दिन लंका अंग्रेजी राज्य से मुक्त हुआ।

मलाया, हिंदेशिया और हिन्दचीन

इन प्रदेशों में यूरोपियन लोगों का प्रवेश १७वीं शताब्दी में हुआ; मलाया में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हुआ, हिन्देशिया में डच लोगों का और हिन्द चीन में फ्रांस का।

साइबेरिया

रूस को अपने विस्तार का अवसर अमरीका, अफ्रीका आदि देशों में कहीं भी नहीं मिला; अतः उसने अपना विस्तार यूरोप से ही जुड़े हुए

एशिया के भू-भाग साइबेरिया में करना शुरू किया। साइबेरिया प्रायः खाली पड़ा था, उधर ही रूसी लोग बढ़ने लगे। १७वीं, १८वीं शताब्दी में वहां का पूर्व स्थापित मंगोल साम्राज्य प्रायः खत्म हो चुका था। १८वीं शताब्दी के मध्य तक रूसी लोग बढ़ते-बढ़ते मंगोलिया की सीमा तक और १८६० ई. में प्रशान्त महासागर तक बढ़ कर वे समस्त साइबेरिया के अधिपति हो चुके थे। इस विस्तृत साम्राज्य का निरंकुश सम्राट था रूस का जार। पूर्व में प्रशांत महासागर में रूस ने ब्लाडीवोस्टक एक प्रमुख बन्दरगाह बना लिया था किन्तु वह सर्दियों में बन्द रहता था, अतः रूस की दृष्टि दक्षिण में मंचूरिया की तरफ से रहती थी जहां पोर्टआर्थर अच्छा बन्दरगाह था।

आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड एवं तस्मानिया

सन् १७६८ में इंगलैंड का केप्टन कुक आस्ट्रेलिया पहुंचा और तब से १७७९ तक उसने वहां की तीन बार यात्रा की। सन् १६४२ में न्यूजीलैंड और तस्मानिया की खोज हो चुकी थी। इन प्रदेशों में काले या ताम्र रंग के असभ्य लोग बसे हुए थे। ये लोग अनेक भिन्न-भिन्न समूह व जातियों में विभक्त थे। जंगलों में झोंपड़ियां बना कर रहते थे। अधिकतर शिकार से अपना पेट पालते थे। बहुधा नग्न रहते थे, पत्तों से या खाल से थोड़ा-थोड़ा अपना तन ढक लेते थे। कहीं-कहीं खेती भी होती थी किन्तु बहुत ही प्रारम्भिक ढंग की। इनका कोई संगठित धर्म नहीं था, अजीब कल्पित देवी-देवताओं को वे पूजते थे, बलि चढ़ाते थे और अनेक प्रकार के सामूहिक नाच करके उनको खुश करने के प्रयत्न किया करते थे। यद्यपि १७ वीं सदी में इन देशों का पता लग चुका था किन्तु तब तक यहां पर यूरोपीय लोग आकर बसने नहीं लगे थे। १९वीं शताब्दी के मध्य में इन प्रदेशों में उपनिवेश बसने लगे। यहां अधिकतर अंग्रेज लोग ही आये। १८४२ में आस्ट्रेलिया में तांबे की खानों का पता लगा और १८५१ में सोने की खानों का। तभी से आस्ट्रेलिया में अधिक बस्तियां बसने लगीं। धीरे-धीरे यातायात के साधनों में तरक्की की जाने लगी। १९वी शताब्दी के अन्त तक कुछ रेल्वे-लाइनें भी बनाई गईं एवं समस्त आस्ट्रेलिया को ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग बना लिया गया। १८४० ई० में न्यूजीलैण्ड भी जोड़ लिया गया। कनाड़ा की तरह आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड इस समय ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के स्वशासित सदस्य हैं। सम्पूर्ण शासन व्यवस्था वहीं पर बसे हुए अंग्रेजों के हाथ में है, इंगलैण्ड का एक प्रतिनिधि मात्र गवर्नर जनरल के रूप में इन देशों में रहता है। ये देश अपनी विदेशी तथा युद्धनीति इंगलैण्ड की सलाह से तय करते हैं।

उत्तर अमेरिका

सन् १४९२ में कोलम्बस ने अमेरिका की खोज की, बस तभी से यूरोप के लोग वहां जाकर बसने लगे। प्राचीन मूल निवासियों को (जिनकी संख्या बहुत अधिक नहीं थी) वे पीछे खदेड़ते जाते थे, कहीं-कहीं उनको नष्ट करते जाते थे एवं अपनी बस्तियां बसाते जाते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे १८वीं

शताब्दी का अन्त होने तक यूरोपवासी (विशेषत: अंग्रेज) समस्त अमेरिका में जम गये और उसे अपना देश बना लिया।

दक्षिण अमेरिका

प्राय: सब जगह स्पेनिश लोगों के उपनिवेश स्थापित हुए। नये देशों की खोज में स्पेनिश लोग ही सबसे आगे रहे थे और कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज के बाद, सर्वप्रथम स्पेनिश लोग ही इस नई दुनिया में आकर बसे थे। एक स्पेनिश नाविक कोर्टेज ने मेक्सिको के आन्तरिक भागों का पता लगाया और वहां के सभ्य ऐज़्टेक लोगों के राजा को परास्त कर यहां स्पेनिश राज्य कायम किया और फिर वहां से वह मध्य अमेरिका की ओर बढ़ा। एक दूसरे स्पेनिश नाविक पिजारो ने सन् १५३२ ई० में दक्षिण अमेरिका का वह भूखंड ढूंढा जो आधुनिक पीरू है, और वहां पर स्पेनिश बस्तियां बसाईं। इसी प्रकार पिजारो का एक साथी अलमेग्रो दक्षिण अमेरिका के प्रदेश चिली पहुंचा. १५३६ ई० में एक दूसरा स्पेनिश नाविक कोलमबिया नामक प्रदेश में पहुंचा और वहां बगोटा नगर की जो आज कोलमबिया की राजधानी है, स्थापना की। १५८० ई० में दक्षिण अमेरिका के एक दूसरे प्रदेश अर्जेनटाइना में ब्यूनिस-आयर्स नगर की स्थापना हुई। १६वीं शती के अन्त तक दक्षिण अमेरिका में स्पेनिश लोग प्राय: दो सौ छोटे-मोटे नगर बसा चुके थे। क्या-क्या तकलीफें इन लोगों को यह नया महाद्वीप बसाने में पड़ी, किस प्रकार यहां के आदि निवासी रेड-इण्डियन लोगों से इनको मुकाबला करना पड़ा इत्यादि इन बातों की कल्पना हम कर सकते हैं। कई बार वहां के आदि-निवासियों ने इन नव-आगन्तुक स्पेनिश लोगों के विरुद्ध विद्रोह भी किये, किन्तु वे सब दबा दिये गये। उत्तर अमेरिका में तो यह प्रयत्न भी किया गया था कि रेड-इण्डियन लोगों की नस्ल को ही खत्म कर दिया जाये, किन्तु यह संभव नहीं हो सका। दक्षिण अमेरिका में धीरे-धीरे अनेक स्पेनिश लोगों के आकर बस जाने से एक दृष्टि से यह देश दूसरा विशाल स्पेनिश प्रदेश ही बन गया, वही स्पेनिश भाषा, वही स्पेनिश स्थापत्य-कला, वही स्पेनिश शासन व्यवस्था और वही स्पेनिश रोमन कैथोलिक धर्म। जो स्पेनिश लोग दक्षिण अमेरिका में आकर बसते थे वे स्पेन के सम्राट से एक आज्ञा-पत्र लेकर ही अमेरिका आते थे, इसका अर्थ था कि जो स्पेनिश लोग अमेरिका में आकर बसते थे वे स्पेन के सम्राट की प्रजा थे। अत: उन पर शासन कायम रखने के लिए स्पेन का सम्राट एक वायसराय नियुक्त करके अमेरिका के उपनिवेशों में भेजा करता था। धीरे-धीरे वे स्पेनवासी जो अमेरिका जाकर बस गये थे और अब अमेरिका ही जिनका घर हो गया था, उनकी दो तीन पीढ़ियों बाद उनमें और स्पेन में बसने वाले स्पेनिश लोगों में कुछ अन्तर पड़ गया था। किन्तु फिर भी स्पेन के सम्राट का उन उपनिवेशों पर पूरा आधिपत्य था और उनके व्यापार पर भी पूरा नियन्त्रण। मुख्य व्यापार यही था कि पीरू और मैक्सिको की खानों से सोना, चांदी स्पेन जाता था और जो खदानों के प्रदेश नहीं थे, वहां धीरे-धीरे कृषि का विकास किया जा रहा था और वहां से खाद्यान्न का निर्यात किया जाता था।

जब स्पेनवासी मैक्सिको, पीरु, अर्जेन्टाइना, चिली इत्यादि प्रदेशों का विकास कर रहे थे उस समय सन् १५०० ई० में एक पुर्तगीज नाविक ने ब्राजिल की खोज की। उसी प्रदेश में धीरे-धीरे पुर्तगीज लोग आकर बसे, धीरे-धीरे उन्होंने अपने कस्बे बसाये। १५६७ ई० में उन्होंने ब्राजिल की राजधानी राइडेजेनेरो की स्थापना की। ब्राजिल में गन्ने की खूब खेती होती थी, उसी काम में पुर्तगीज लगे, मजदूरी का काम करने के लिए अफ्रीका के नीग्रो गुलाम खरीद लिए जाते थे। रेड-इण्डियन लोगों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, वे मजदूरी नहीं कर सकते थे, वे धीरे-धीरे कम होते जा रहे थे। बाद में वहां सोने और हीरे की खानों का भी पता लगा और उनके व्यापार से पुर्तगाल एक बहुत धनी देश बन गया। ब्राजिल एक विशाल प्रदेश है, संयुक्त राज्य अमरीका से भी बड़ा, किन्तु अभी तक वह बहुत हद तक अविकसित और अनन्वेषित पड़ा है। दक्षिण अमेरिका के उपनिवेशों में उपनिवेशवासियों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती हुई जा रही थी। यूरोपवासी जहां १६०० ई० में सारे उपनिवेशों में लगभग ५० लाख होंगे, सन् १८०० ई० तक उनकी संख्या लगभग डेढ़ करोड़ हो गई। ये लोग स्पेन के सम्राटों द्वारा लगाये गये करों से असंतुष्ट होते जा रहे थे, स्पेन से जो वायसराय और वायसराय के साथ अनेक अन्य शासक और कर्मचारी लोग आते थे, उनसे भी असन्तुष्ट होते हुए जा रहे थे। स्वतन्त्रता के विचार और भावनायें धीरे धीरे उनमें फैल रही थीं, इन विचारों की हवा उत्तरी अमेरिका से आ रही थी जहां के उपनिवेशों ने ब्रिटेन के खिलाफ स्वतन्त्रता का युद्ध जीता था, और फिर ऐसे ही विचार फ्रांस की राज्य क्रान्ति से उनके पास पहुंचते रहते थे, यद्यपि शासक इस बात का प्रयत्न करते रहते थे कि स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के विचार उनके पास न पहुंचे। उत्तर अमेरिका की तरह दक्षिण अमेरिका में भी उपनिवेशवासियों ने स्वतन्त्रता संग्राम आरम्भ किया। यह खटपट प्राय: १९वीं शती के आरम्भ से होने लगी। लगभग २० वर्ष तक किसी न किसी रूप में यह युद्ध चलता रहा और अन्त में सन् १८२४ ई. में दक्षिण अमेरिका के उपनिवेश स्पेनिश शासन से मुक्त हुए। अमेरिका में तीन सौ वर्ष पुराना स्पेनिश साम्राज्य समाप्त हुआ। किन्तु साथ ही साथ एक बात हुई, स्पेनिश शासन के अधिकार में तो सब उपनिवेश एक ही राज्य के रूप में संगठित थे किन्तु वह शासन हटने के बाद उस विशाल राज्य में से कई भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए, जैसे मैक्सिको, पीरु, चिली, अर्जेन्टाइना, यूरेग्वे, कोलम्बिया, बोलविया इत्यादि। पुर्तगीज उपनिवेश ब्राजिल भी लगभग इसी समय स्वतन्त्र हुआ। इन सब नवोत्पन्न राज्यों में अध्यक्षात्मक जनतन्त्र शासन (Republic) कायम हुए जो अब तक चले आ रहे हैं।

कनाडा

जिस प्रकार १६वीं-१७वीं शताब्दियों में दक्षिण अमेरिका एवं अमेरिका का वह भाग जो आधुनिक संयुक्त राज्य अमेरिका है-इसमें यूरोपीय लोग आकर अपने उपनिवेश बसाने लगे, उसी प्रकार वे लोग उत्तरी अमेरिका के उत्तरी भाग में जो अब कनाडा कहलाता है, बसने लगे। विशेष-

तथा अंग्रेज और फ्रांसीसी लोग कनाडा में बसे। प्रारम्भ में तो कनाडा फ्रांस के अधिकार में रहा, किन्तु फ्रांस और इङ्गलैंड के सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६–१७६३) के फलस्वरूप फ्रांस को कनाडा इङ्गलैंड के हाथ सुपुर्द करना पड़ा। कनाडा के उपनिवेश इंगलैंड के आधीन रहे। कई बार यह भी प्रयत्न हुआ कि कनाडा इङ्गलैंड से सर्वथा मुक्त हो जाय, कई बार यह प्रयत्न हुआ कि संयुक्त राज्य अमरिका में ही कनाडा को मिला लिया जाये, किन्तु अंत में १८६७ में ग्रेट ब्रिटेन ने कनाडा को एक औपनिवेशिक राज्य घोषित कर दिया और तब से आज तक कनाडा की यह स्थिति है;—यूरोप से आकर बसे हुए लोगों का वहां स्वशासन है, इङ्गलैंड राज्य का (ब्रिटिश राज्य का) प्रतिनिधि स्वरूप केवल एक गवर्नर जनरल वहां रहता है।

कनाडा के आदि निवासी रेड-इन्डियन जातियों के लोग हैं; संख्या में अपेक्षाकृत ये बहुत कम हैं। यूरोपियन लोगों ने वहां पर कृषि और औद्योगिक क्षेत्र में बहुत उन्नति की है। कनाडा गेहूं का भण्डार कहलाता है और विशेषतया मोटरकार निर्माण के अनेक कारखाने वहां हैं। एक पार्लियामेण्ट और मन्त्री मण्डल द्वारा वहां का शासन होता है—देश में दो भाषायें प्रमुख हैं—अंग्रेजी एवं फ्रांसीसी। कनाडा में अंग्रेज लोग प्राय: प्रोटेस्टेन्ट हैं और फ्रांसीसी कैथोलिक। द्वितीय महायुद्ध में कनाडा ने मित्र राष्ट्रों की अमेरिका के साथ साथ काफी सहायता की और ऐसा प्रतीत होता है कि इंगलैंड, कनाडा और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका इन तीनों देशों की विचारधारा एक है, भावना एक है।

अफ्रीका

सन् १८५० ई० तक मिस्र और कुछ तटीय प्रदेशों को छोड़कर समस्त अफ्रीका दुनिया में अज्ञात था। तब तक यह अन्धेरे में पड़ा था। यहां के तटीय प्रदेशों से निःसंदेह १७ वीं शती से ही डच, स्पेनिश नाविक काले हब्शी लोगों को पकड़ पकड़ कर ले जाते थे, उनको गुलाम की हैसियत से इङ्गलैंड, अमेरिका में बेच देते थे। किन्तु इस सम्पर्क को छोड़कर अफ्रीका की और कोई भी बात शेष दुनिया को मालूम नहीं थी—अफ्रीका का कुछ भी ज्ञान किसी को नहीं था। कई साहसी यात्री अफ्रीका के बीच तक यात्रा कर आये थे और उन्होंने वहां के अद्भुत अद्भुत विवरण प्रकाशित किये थे। इन्हीं से प्रेरित होकर यूरोपीय देशों के लोग अफ्रीका में १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में घुसने लगे। अफ्रीका एक बड़ा महाद्वीप है। उसके भिन्न भिन्न भागों में सैकड़ों असभ्य जातियों के काले असभ्य हब्शी लोग, पिग्मी लोग इत्यादि बसे हुए थे। अनेक भिन्न भिन्न भाषायें वे बोलते थे। जैसा आस्ट्रेलिया के विवरण में कह आये हैं वैसे ही ये लोग प्राय: अर्ध नग्न रहते थे और शिकार करके अपना पेट भरते थे। कहीं कहीं ऐसी भी जातियां थीं जो मनुष्य को मारकर खा जाती थीं। अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे, जादू टोना में इनका विश्वास था। वे किसी भी प्रकार का लिखना पढ़ना नहीं जानते थे;—लिखना पढ़ना भी कुछ होता है, यह भी ज्ञान इन्हें नहीं था; या तो ये लोग जंगलों, गुफाओं में रहते थे, या कहीं कहीं गांव भी बसे हुए थे—गांवों में सिर्फ झोंपड़ियां होती थीं।

ऐसे विशाल अज्ञात महाद्वीप में यूरोपीयन लोगों ने १७५० में आना शुरू किया और भिन्न भिन्न भागों में अपना अधिकार जमाना शुरू किया। केवल ५० वर्षों में सारे महाद्वीप की भौगोलिक बातों का पता लगा लिया गया और सन् १९०० ई० तक यह सारा का सारा देश यूरोप के भिन्न भिन्न देशों के अधिकार में आ गया। यूरोपीय जातियों में इस देश के बंटवारे में अनेक झगड़े हुए—कई युद्ध भी हुए जो सब बेईमानी और दगाबाजी के आधार पर लड़े गये, केवल इसी उद्देश्य से कि अधिकाधिक भूमि को प्रत्येक देश अपने अधिकार में कर ले। पश्चिमी किनारे पर लाइबेरिया एक छोटे से प्रदेश को छोड़कर जहां मुक्त हब्शी लोग बस गये थे; उत्तर में एक छोटे से प्रदेश मोरक्को को छोड़कर जहां एक अरबी मुसलमान सुल्तान का राज्य रहा और पूर्व में अबीसीनिया प्रदेश को छोड़कर जहां का राज्य वहीं के आदि निवासी जाति का है, किन्तु जो पुराने जमाने से ही ईसाई हो गया था—इन तीनों प्रान्तों को छोड़कर सारा अफ्रीका यूरोपीयन लोगों के आधीन हो गया। अब भी अफ्रीका में जनसंख्या की दृष्टि से वहां के आदि निवासी यूरोपीयन लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं। आजकल वहां के आदि निवासी खेतों में खादानों में मजदूरी का काम करते हैं। धीरे धीरे अनेक उनमें से ईसाई बन गये हैं. उनमें धीरे-धीरे सभ्यता और शिक्षा का प्रचार हो रहा है और यह भावना पैदा हो रही है कि कि यूरोपीयन जातियों का शासन उन पर से हटे।

यह है यूरोप के औपनिवेशिक और सम्राज्यवादी विस्तार की कहानी।

२५

अमेरिका का विश्व राजनीति में प्रवेश और वहां का स्वतन्त्रता युद्ध

[THE AMERICAN WAR OF INDEPENDENCE AND AMERICA'S ENTRY INTO WORLD POLITICS]

अमेरिका में यूरोपवासियों का बसना और अपने राज्य स्थापित करना

सन् १४९२ में कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया, पहिले तो नाविकों ने समझा कि यह भारत है। कुछ वर्षों बाद अमेरिगोवेस्पुस्सी नामक नाविक ने यह पता लगाया कि यह तो भारत नहीं किन्तु एक नया संसार है। उसने इस नये संसार का एक रोमांचकारी विवरण प्रकाशित किया, उसी के नाम पर इस देश का नाम अमेरिका पड़ा। तदुपरान्त अन्य यूरोपीय यात्री वहां पर बस गये और उन्होंने अमेरिका के भिन्न-भिन्न भागों का पता लगाया, जैसे सन् १४९७ में जोहन कबोर्ट ने न्यूफाउण्डलैंड का, १५०० ई. में पेड्रो ने पुर्तगाल के लिये ब्राजील का, १५१९ ई० में स्पेन के कोर्टेज ने मैक्सिको का, १५३२ ई० में पीजारो ने पीरू का, १५८४ ई० में इङ्गलैंड के रेले ने वर्जिनिया प्रदेश का इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार यूरोपवासी स्पेनिश, पुर्तगीज, डच, फ्रेन्च, अंग्रेज धीरे-धीरे नई दुनिया में धन की खोज में, काम की खोज में, नये घरों की खोज में एवं नई नई साहसपूर्ण यात्राओं की खुशी में आते गये, बीहड़ जंगलों को साफ करते गये वहां के आदि निवासियों से टक्कर लेते गये, और वहां बसते गये। उनकी अमेरिका के उस भाग में जो आज संयुक्त राज्य अमेरिका कहलाता है, सर्व प्रथम बस्ती १६०७ ई० में उस जगह बसाई गई जो आज जेम्सटाउन नगर है। इस प्रकार इसके बाद भिन्न-भिन्न बस्तियां एवं नगर बसते गये।

बस्तियां—ज्यों ज्यों आगन्तुक लोग नये नये नगर बसाते जाते थे त्यों त्यों अपनी सामाजिक व्यवस्था के लिए स्थानीय जनतन्त्रीय शासन व्यवस्था भी कायम करते जाते थे। सन् १७६० तक संयुक्त अमेरिका के पूर्वीय किनारे पर इस प्रकार प्रायः १३ राज्य स्थापित हो चुके थे। इनमें अधिकतर बसने

वाले अंग्रेज लोग ही थे। फ्रांसीसी लोग भी आये थे किन्तु वे लोग तटीय प्रान्तों को छोड़ कर अन्तर प्रदेशों में अधिक चले गये थे जहां उन्होंने अपने किले भी स्थापित किये थे। वे कृषि व्यापार और व्यवसाय के लिए इतने व्यवस्थित ढंग से नहीं बस पाये जितने कि अंग्रेज लोग बसे। वे साहसपूर्ण खोज, नई बातों के उद्‌घाटन और अमेरिका के मूल निवासियों में ईसाई धर्म प्रचार करने की तमन्ना में अधिक रह गये। अमेरिका में बसने और व्यापारिक वृद्धि करने के लिए फ्रांसीसियों और अंग्रेजों में परस्पर झगड़े अवश्य हुए किन्तु इनका फैसला इङ्गलैंड और फ्रांस के सप्तवर्षीय (१७५६–१७६३) युद्ध में हो गया। फ्रांस की हार हुई और यह निश्चय हुआ कि अमेरिका के समस्त फ्रांसीसी उपनिवेश अंग्रेजों के आधीन कर दिये जायें। इस प्रकार समस्त उत्तर अमेरिका, कनाडा और संयुक्त राज्य में मैक्सिको और मध्य अमेरिका के कुछ प्रदेशों को छोड़ कर अंग्रेजों का अधिकार मान्य हुआ।

अमेरिका का स्वतन्त्रता युद्ध

इङ्गलैंड से आकर जो लोग अमेरिका में बसे थे और बसते जा रहे थे वे अपने आप को इंगलैंड के राजा की प्रजा समझते थे। उन्हीं दिनों में यूरोप के राज्यों ने आपस में बात करके यह कानून तय किया था कि यदि कोई मनुष्य किसी अज्ञात देश को मालूम करके वहां पर अपने राजा की पताका गाड़ देगा तो वह देश उस देश के राजा का समझा जायगा। इसी सबक से इंगलैंड का राजा अमेरिका में बसे हुए अंग्रेजों पर अपना शासनाधिकार समझता था। इसी तरह के कई कारणों से यही समझा जाने लगा कि अमेरिका उपनिवेश पर इंगलैंड का ही राज्य है। वैसे भी अमेरिका निवासी अंग्रेज अपना व्यापार इंगलैंड से ही करते थे और इंगलैंड ने भी ऐसे कई कानून बनाये थे कि अमेरिकावासी अंग्रेज केवल इंगलैंड से ही या इंगलैंड द्वारा व्यापार कर सकें। इंगलैंड का राजा अपना प्रतिनिधि स्वरूप अमेरिका में एक वायसराय (Viceroy) भी रखने लग गया था, जो अमेरिका में सब राज्यों का अधिनायक माना जाता था। ये वायसराय भिन्न-भिन्न राज्यों के कानूनों को मान्यता न देकर खुद अपने कानून बनाते थे। इन्होंने इंगलैंड के लिए कर वसूल करना भी प्रारम्भ कर दिया। कई प्रकार के कर उन पर लगा दिये गये। इंगलैंड की फौज भी अमेरिका में रहने लग गई। अमेरिका में जो लोग बस गये थे वे लोग इंगलैण्ड की इस बात को सहन नहीं कर सके क्योंकि वे स्वतन्त्र रहना चाहते थे, स्वतन्त्र अपना विकास करना चाहते थे, किसी दूसरी जगह की दखलन्दाजी उसे पसन्द नहीं थी अतः इन अमेरिकावासियों ने इंगलैंड से छुटकारा पाने के लिए अपने आन्दोलन प्रारम्भ कर दिये। इंगलैंड से असहयोग करना आरम्भ कर दिया, कर देने से इनकार कर दिया। इंगलैंड से चाय के भरे तीन जहाज अमेरिका आये थे, बोस्टन बन्दरगाह में ये चाय के जहाज जा लगे, चाय पर इंगलैंड की ओर से महसूल कर लगा हुआ था। कर देने की बजाय अमेरिका वासियों ने उन चाय के बोरों को ही समुद्र में डुबा दिया। झगड़ा बढ़ गया, इंगलैंड और अमेरिका में युद्ध घोषित हुआ। अमेरिका की स्वतन्त्रता का यह युद्ध था। इंगलैंड से फौजें आईं, उधर

अमेरिका ने पहिले स्वयं सेवक खड़े किये और फिर उनको सैनिक शिक्षण देकर अपनी सेनायें बना लीं। ४ जुलाई सन् १७७६ के दिन अमेरिका ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी—और साथ ही साथ उन्होंने एक ऐसे सिद्धान्त की घोषणा की जो मानव, मानव समाज में आधारभूत एक नई वस्तु थी,—एक ऐसी वस्तु जो युग-युग तक मानव समाज संगठन का बुनियादी आधार बनी रहेगी। यह घोषणा थी—"इस सत्य को हम स्वयं सिद्ध समझते हैं कि सब प्राणियों को समान उत्पन्न किया जाता है—उनको उनके रचियता (परमात्मा) की ओर से कुछ अपरिवर्तनशील अधिकार प्राप्त हैं। इन अधिकारों में ये हैं—प्राण, स्वतन्त्रता और आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्न। सरकारें भी इसलिए स्थापित रहती हैं कि मानव के ये अधिकार सुरक्षित रहें। इन सरकारों की शक्ति शासित लोगों की सम्मति पर ही आधारित है। जब कभी कोई सरकार इन उद्देश्यों की अवहेलना करे तो लोगों को यह अधिकार है कि ऐसी सरकार को बदल दें या खत्म करदें और उसकी जगह नई सरकार स्थापित कर दें।"

मानव मानव में समता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, और जनतन्त्रवाद—इन तीनों आदर्शों की, इन तीनों सिद्धान्तों की, यह एक अद्वितीय घोषणा थी। आज के मानव की भी ये ही आकांक्षायें हैं—समाज में ये ही उसके आदर्श हैं। विश्व में, संयुक्त राज्य अमरीका एक नई रचना थी, आज से केवल १५० वर्ष पूर्व उस नई रचना का जन्म हुआ था उपरोक्त सिद्धान्तों के साथ-साथ।

यह घोषणा तो अमेरिका के तत्कालीन १३ संयुक्त राज्यों ने कर दी किन्तु इंगलैंड नहीं माना, उसने युद्ध जारी रखखा। अमेरिकन फौज का सेनापति बना जार्ज वाशिंगटन। सन् १७७६ से सन् १७८३ तक दोनों देशों में ७ वर्ष तक युद्ध चलता रहा, अन्त में अमेरिका में इंगलैंड की हार हुई और सन् १७८३ में अमेरिका पूर्ण स्वतन्त्र हुआ।

युद्ध समाप्त होने पर, देश स्वतन्त्र होने पर, अमेरिका के १३ राज्य बिखरने से लगे किन्तु जार्ज वाशिंगटन तथा अन्य राजनीतिज्ञों ने परिस्थिति को संभाला। सन् १७८७ में फिलाडेलफिया नगर में सभी राज्यों के प्रतिनिधि वाशिंगटन के सभापतित्व में एकत्रित हुए, सब ने मिलकर एक शासन विधान बनाया—सन् १७७६ में घोषित समता, स्वतन्त्रता, जनतन्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर। विधिवत् संयुक्त राष्ट्र अमेरिका राज्य का निर्माण हुआ। चेतन तन्त्र था कुछ महान व्यक्तियों का—टोमपेन, बेन्जामिन, फ्रेंकलिन, जेफरसन, हेमिल्टन, वाशिंगटन। अमेरिका के शासन विधान के अनुसार अमेरिका एक संघ राज्य है। संघीय सरकार अध्यक्षात्मक है—अर्थात् मुख्य कार्यवाहक अध्यक्ष है-कोई मन्त्रि मण्डल नहीं। व्यवस्था सभा (कांग्रेस) के दो हाउस हैं—सीनेट और प्रतिनिधि गृह। संघ के सदस्य, भिन्न भिन्न राज्य, स्थानीय मामलों में बिल्कुल स्वतन्त्र है और सब प्रजातन्त्र राज्य हैं।

विधान के अनुसार जार्ज वाशिंगटन संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का सन् १७८९ में प्रथम अध्यक्ष चुना गया। उसके बाद से अब तक हर चौथे वर्ष अमेरिका के राष्ट्रपति [President] चुने जाते रहे हैं। दुनियां के सामने

और दुनियां की राजनीति में संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि स्वरूप वहां के अध्यक्ष का स्थान महत्वपूर्ण रहा है।

अमेरिका में दास प्रथा और वहां का गृह युद्ध (१८६०-६५)

प्रारम्भ में जो यूरोपीय लोग अमेरिका में बसे, वे वहां के आदि निवासियों को आतंकित कर उस देश के स्वामी के रूप मे बसे। अपेक्षाकृत उत्तरी भाग में जो लोग बसे उन्होंने तो स्वतन्त्र अपनी ही खेतीबाड़ी करना प्रारंभ किया, वे विशेषत: 'खुद-किसान' और व्यापारी थे किन्तु जो दक्षिणी भागों में बसे थे और जहां पर उस काल में खानों में और तम्बाकू की खेती में अधिक काम होता था, वे प्रारंभ से ही बड़े-बड़े जमींदार थे, विशाल क्षेत्रों में एवं खानों में वे स्वयं काम नहीं कर सके। उन्हें यह आवश्यकता हुई कि वे वहां के आदि निवासियों से जबरन खानों और तम्बाकू के खेतों में काम करवायें। वहां के आदि निवासी रेड इंडियन इस कठिन परिश्रम के काम के लिये अयोग्य निकले-वे बीमार पड़ जाते थे। अतः दक्षिणी प्रान्तों के उपनिवेश-वासियों के सामने यह एक समस्या थी। उसी समय सन् १६१९ में अफ्रीका के नीग्रो लोगों से भरा एक जहाज अमेरिका पहुंचा। कुछ स्पेनिश एवं अंग्रेज साहसी मल्लाहों ने अपना एक पेशा ही बना लिया था कि वे लोग अफ्रीका जाते थे, वहां से काले हबशी लोगों को जबरदस्ती पकड़ लाते थे, और उनको इंगलैंड या अमेरिका में जहां मजदूरों की आवश्यकता होती थी, बेच देते थे। १६ वीं सदी में जब से स्पेन और पुर्तगाली लोगों ने दक्षिण अमेरिका एवं पच्छिमी द्वीप समूहां में अपने उपनिवेश बसाना शुरू किया था, तभी से यह काम शुरू हो गया था। इस प्रकार १६वीं सदी में अजीब ही एक दास प्रथा का प्रारंभ हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण भाग के राज्यों में नीग्रो दास लोगों का एक व्यापार ही चल पड़ा था। दासों को खरीदा जा सकता था, उनसे चाहे जितना और जैसा काम लिया जा सकता था। यह नहीं कि नीग्रो लोगों का एक दास कुटुम्ब एक ही मालिक के पास रहे; ऐसा भी होता था कि कुटुम्ब का पिता कहीं बिक जाता था, माता कहीं और बच्चे कहीं। दरअसल उनका एक बाजार लगता था और वे नीलाम होते थे; अमेरिका के इतिहास में वहां का यह काला धब्बा है। समझ में नहीं आता कि जहां एक ओर तो समता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की दुहाई दी जाती थी वहीं दूसरी ओर मानव सब अधिकारों से वंचित एक दास था।

किन्तु धीरे धीरे इंगलैंड में उदार विचारों का प्रचार हो रहा था, वहां की पार्लियामेंट ने सन् १८०७ में किसी भी ब्रिटिश नागरिक के लिये गुलामों का व्यापार करना गैर कानूनी घोषित कर दिया था। १८८३ ई० में समस्त ब्रिटिश साम्राज्य में दास प्रथा गैर कानूनी घोषित कर दी गई थी। अमेरिका में भी उसका प्रभाव पड़ा। सब सभ्य लोगों की ओर से यह मांग पेश हुई कि दास प्रथा समूल हटा दी जाये। इसी प्रश्न को लेकर सन् १८६० में अमेरिका में एक गृह युद्ध छिड़ गया जिसमें एक ओर तो उत्तरी... जो दास प्रथा को सर्वथा बन्द कर देना चाहते थे और दूसरी ओर द...

एक आदर्शवादी पुरुष थे–दूरदर्शी भी थे। उनको प्रेरणा हुई कि संसार से युद्ध के खतरों को रोकने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना होनी चाहिये। एक जहाज में बैठे बैठे उसकी योजना बनी और युद्ध की समाप्ति के बाद एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ बना किन्तु खेद कि वही देश जिसके नेता की प्रतिभा से यह संघ खड़ा हुआ था, उसमें शामिल नहीं हुआ। अमेरिका के लोगों ने निर्णय किया कि अमेरिका शेष दुनियां से पृथक रहना ही पसन्द करेगा। फिर भी प्रथम महायुद्ध काल से अमेरिका के इतिहास का एक नया युग प्रारंभ हुआ। अब अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक शक्तिशाली राष्ट्र माना जाता था और दुनियां की राजनीति में उसका एक महत्वपूर्ण स्थान था। यह देश धनी भी हो गया था और दुनियां के देशों का साहूकार; अब दूसरे देश उसके कर्जदार थे। कठोर नियम बना दिये गये कि विश्व के और किसी देश के लोग (चाहे इंगलैंड, फ्रांस, आयरलैंड इत्यादि कहीं के भी हों) अब सामूहिक रूप से अमेरिका में जाकर नहीं बस सकते थे जैसा कि ये नियम पास होने के पूर्व संभव था और अनेक लोग वहां जाकर बस भी जाया करते थे;—आखिर यूरोप के लोगों ने ही तो धीरे धीरे अमेरिका में बसकर अमेरिका को बनाया था। शेष दुनिया से पृथकता की यह नीति चलती रही, साथ ही साथ अमेरिका की व्यापारिक और आर्थिक उन्नति के होते हुए सन् १९३९ में यूरोपीय देशों की गुटबन्दी से दूसरा महायुद्ध प्रारंभ हुआ, फिर जर्मनी के बढ़ते हुए खतरे ने अमेरिका को बाध्य किया कि वे भी युद्ध में सम्मिलित हों। अब की बार यह खतरा एक विचारधारा का खतरा था, जर्मनी एकतन्त्रवादी तानाशाही का प्रतीक था, अमेरिका जनतन्त्र का पोषक। अन्त में अमेरिका की सहायता से जनतन्त्रवादी इंगलैंड, फ्रांस आदि देशों की विजय हुई और जर्मनी, इटली, जापान की हार। इस युद्ध ने अमेरिका को दुनिया की सर्वोच्च जनतन्त्रवादी शक्ति के रूप में खड़ा कर दिया।

इस दौड़ में यूरोप की तीसरी महान शक्ति जर्मनी पीछे रह गई। एक तो जर्मनी का एकीकरण और उत्थान ही देर से हुआ, यथा १८७० ई० में, और तभी वहां के मन्त्री बिसमार्क की प्रबल राष्ट्रीय उद्भावनों से जर्मनी तरक्की करने लगा। थोड़े से वर्षों में उसका उद्योग, उसका जीवन, उसकी सैन्य शक्ति इतनी पूर्ण कुशल ढंग से व्यवस्थित और संगठित हो गई कि दुनिया के लिये वह एक चमत्कारिक वस्तु थी। अब जर्मनी, जहां के यांत्रिक उद्योग विकसित थे, जहां की सेना मशीनों द्वारा पैदा किये गये आधुनिक अस्त्र-शस्त्र जैसे राइफल, पिस्तौल, बम, डिनेमाइट, मशीनगन इत्यादि से सुसज्जित थी—कब पीछे रह सकता था। उसके दिल में यह खयाल पैदा हो चुका था कि जर्मन जाति उच्च जाति है और दुनियां में उसका भी साम्राज्य और उसके भी माल के लिये बाजार होना चाहिये। अफ्रीका के दक्षिण-पश्चिम में एवं पूर्व तट पर कुछ प्रदेश उसके हाथ आ गये थे यथा, १८८४ ई. में टोगो, केमरून एवं जर्मन दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका किन्तु उसके लिये वे बहुत छोटे थे—बाकी दुनियां में और कहीं उसके लिये जगह नहीं छूटी थी।

अमेरिका

संयुक्त राज्य अमेरिका भी काफी उन्नति कर चुका था और काफी शक्तिशाली हो गया था किन्तु इसका क्षेत्र अभी तक अपनी सीमा तक ही महदूद था। दक्षिणी अमरीका के जनतंत्र राज्यों ने मानो अभी जीवन प्रारम्भ ही किया था, वे अभी धीरे-धीरे उभर रहे थे। ऐसी स्थिति में वे अभी तक नहीं आ पाये थे कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय हलचल में महत्वपूर्ण क्रियात्मक खटपटी पैदा कर सकते।

'पूर्वी समस्या'

यह तो हाल पश्चिमी यूरोप का था—यथा साम्राज्य विस्तार के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धा और उस प्रतिस्पर्धा में सफल होने के लिये एवं एक दूसरे को दबाने के लिये तीव्र गति से युद्ध की तैयारियां। पूर्वीय यूरोप में एक दूसरी ही हालत थी—एक दूसरी ही समस्या। १५वीं शताब्दी से समस्त बाल्कन प्रायद्वीप में तुर्की साम्राज्य स्थापित था। तुर्की साम्राज्य की ऐसी भौगोलिक स्थिति है कि जहां तीन महाद्वीप मिलते हैं, यथा यूरोप, एशिया और अफ्रीका। यदि तुर्क लोगों में नव जागृति पैदा हो जाती, पश्चिम यूरोप से सम्पर्क रख कर वे भी ज्ञान-विज्ञान और व्यापार की प्रगति से जानकारी रखते और स्वयं प्रयत्नशील रहते तो उनके लिए एक बहुत जबरदस्त अवसर था कि उनका टर्की एक शक्तिशाली और उन्नत राज्य बन जाता। किन्तु इस बड़े साम्राज्य में सुल्तान अपने मध्ययुगीय अन्धे रास्तों पर चलते रहे अपने मजहबी रस्म रिवाजों में फंसे रहे। अपनी शान शौकत, आराम-ऐश में ही दिन बिताते रहे। साथ ही साथ फ्रांस की राज्य क्रान्ति के बाद बाल्कन प्रायद्वीप के ईसाई देशों में यथा यूनान, रूमानिया, सरबिया, बलगेरिया, मोंटीनिग्रो इत्यादि में राष्ट्रीय भावना की लहर पैदा हो चुकी थी और वे तुर्की, उस्मानी साम्राज्य से पृथक हो स्वतन्त्र बनना चाहते थे। अतः उन्होंने

आर्थिक एवं उद्योग की दृष्टि से अविकसित थे। इनके जीवन पर एशियाई प्रभाव अधिक और पाश्चात्य यूरोपीय सभ्यता का प्रभाव कम था। भिन्न भिन्न छोटी छोटी जातियों और भिन्न भिन्न भाषाओं के ये प्रदेश थी, गो कि धर्म इन सब का ईसाई था (प्राचीन ग्रीक चर्च)। इन बाल्कन प्रदेशों में दो बड़े राष्ट्रों के यथा रूस और आस्ट्रिया के हित आकर टकराते थे। रूस चाहता था और वह यह घोषणा भी करता था कि स्लैव जाति और भाषा-भाषी बाल्कन प्रदेशों की रक्षा और जीवन का भार उस पर है। उधर आस्ट्रिया चाहता था कि जितने भी प्रदेशों पर वह कब्जा कर सके उतना ही ठीक; पश्चिम की तरफ तो उसके लिए बढ़ने को रास्ता था नहीं। इस प्रकार यूरोप के सभी शक्तिशाली राष्ट्रों के लिये (इङ्गलैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रिया, जर्मनी एवं रूस के लिये) बाल्कन देश तनातनी का कारण बने हुए थे।

एशिया

२० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में एशिया का विशाल महाद्वीप प्रायः सारा का सारा यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा पदाक्रांत था। नाम मात्र को कह सकते हैं कि अफगानिस्तान, ईरान, चीन, जापान और स्याम एशिया के स्वतन्त्र देश थे, किन्तु वस्तुतः यह देश अकेले जापान को छोड़कर किसी न किसी रूप में यूरोपीय साम्राज्यवादी प्रभुत्व से मुक्त नहीं थे। चीन में अंग्रेजी, फ्रांसीसी एवं जर्मन आर्थिक हित कायम हो रहे थे, अफगानिस्तान से इङ्गलैण्ड जो कुछ चाहता, करवा सकता था और ईरान पर भी इङ्गलैण्ड एवं रूस का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जोर था, स्याम भी फ्रांसीसी या अंग्रेज लोगों की मरजी पर ही मुक्त था।

अफ्रीका

समस्त महाद्वीप पर भिन्न भिन्न यूरोपीय राष्ट्रों का आधिपत्य था। अफ्रीका के आदिवासियों की भिन्न भिन्न जातियां सब अब तक असभ्य स्थिति में थी।

आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड ब्रिटिश साम्राज्य के अंग थे। यहां के आदि निवासियों की भी हालत अब तक असभ्य थी।

यूरोप की दशा का जब हम अध्ययन कर रहे थे तब मालूम हुआ होगा कि वहां का तमाम वातावरण ऐसा बना हुआ था कि जिसमें युद्ध अनिवार्य था। मानव इतिहास में पहले अनेक युद्ध हुए थे, उन सबकी भिड़न्त और मारकाट केवल युद्ध क्षेत्र में सिपाहियों तक ही सीमित रहती थी। किन्तु बीसवीं शताब्दी में युद्ध के नये तरीके एवं अद्‌भुत अस्त्र-शस्त्र मानव के हाथ लगे थे जिनसे केवल सिपाहियों का ही विनाश नहीं होता था किन्तु युद्ध क्षेत्र से बहुत दूर साधारण जनता का भी भयंकर अनिष्ट किया जा सकता था और गांवों के जीवन को उखाड़ा जा सकता था।

युद्ध के कारण

इस युद्ध के जड़ में तो थी यूरोप के प्रमुख शक्तिशाली राष्ट्रों के दिल

मित्र राष्ट्र पक्ष	जर्मन पक्ष
(इंगलैंड, फ्रांस, रूस) सर्विया, बेलजियम, अमेरिका, जापान, चीन, रूमानिया, यूनान और पुर्तगाल, ब्रिटिश साम्राज्य के सब देश यथा भारत, दक्षिण अफ्रीका इत्यादि	(जर्मनी, आस्ट्रिया, टर्की) बलगेरिया

लड़ाई में भाग लेने वाले देशों की स्थिति से तो यह साफ जाहिर होता है कि मित्र पक्ष के साधन जर्मन पक्ष से कहीं अधिक थे। कह सकते हैं जर्मनी दुनिया के अधिकांश हिस्से से अकेला लड़ रहा था।

युद्ध के क्षेत्र

जब आस्ट्रिया ने सर्विया पर हमला कर दिया तो उसके तुरन्त बाद जर्मनी ने बेलजियम को दबाकर फ्रांस पर हमला कर दिया, उधर पूर्व से रूस भी सर्विया की मदद को आया। इस प्रकार यूरोप में युद्ध क्षेत्र बेलजियम, फ्रांस, जर्मनी, सर्विया, आस्ट्रिया और रूस आदि देशों की भूमि रही। किन्तु यह युद्ध क्षेत्र इन्हीं देशों की भूमि तक सीमित नहीं था। टर्की साम्राज्य के समस्त एशियाई देशों में यथा ईराक, सीरिया, फिलस्तीन, मिस्र इत्यादि में, अफ्रीका के दोनों जर्मनी उपनिवेशों में, और चीन के उस नगर में जो जर्मनी का एक छोटा सा उपनिवेश था, अनेक लड़ाइयां हुईं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युद्ध ने दुनिया के अनेक देशों में हलचल पैदा कर दी थी।

नये अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग

इस युद्ध में सर्वप्रथम ऐसे अस्त्र-शस्त्र काम में लाये गये जो पहिले दुनिया को ज्ञात नहीं थे, यथा पनडुब्बी (Submarines) जो पानी के अन्दर चलती थी और बड़े-बड़े जहाजों में छेद करके उनको डुबो देती थी। इनका आविष्कार जर्मनी ने किया था। टैंक (Tank)-ये लोहे की चादरों से चारों ओर से ढकी हुई एक प्रकार की मोटर गाड़ी होती है जो सभी प्रकार के फौजी सामान से भरी होती है और जिसके पहिये पर मजबूत सांकलें जुड़ी हुई होती है—जिससे कि ये ऊंची, नीची सभी जगहों पर जा सकती हैं।

हवाई जहाज

इसी लड़ाई में सर्वप्रथम जर्मनी ने एक विशेष प्रकार की बड़ी हवाई जहाज का जिसे जेपलिन (Zeplin) कहते हैं, प्रयोग किया। इन हवाई जहाजों से शहरों और कस्बों पर बम गिराये गये, जिससे शांत और बेकसूर जनता त्राहि-त्राहि करके भस्म हो जाती थी। इस हवाई जहाज का प्रयोग फिर दोनों पक्षों की ओर से होने लगा था।

जहरीली गैस

युद्ध के अन्तिम महीनों में दोनों पक्षों की ओर से जहरीली गैसों का प्रयोग हुआ। ये गैसें ऐसी होती थीं जो हवा में फैला दी जाती थीं और उस

रूस की क्रांति
(RUSSIAN REVOLUTION)

भूमिका

हम १७७६ ई० के अमेरिका के स्वतन्त्रता युद्ध का विवरण पढ़ चुके हैं, जब मानव ने सर्वप्रथम अपने समाज संगठन का विधिवत् यह आधार माना था कि मानव-समाज में सब मानव स्वतन्त्र हैं। किन्तु तब इस विचार का प्रभाव विशेषकर अमेरिका तक ही सीमित रहा। फिर सन् १७८९ ई० में फ्रांस की राज्य क्रांति हुई जिसमें फिर एक बार मानव ने यह घोषणा की कि मनुष्य मनुष्य सब समान हैं, स्वतन्त्र हैं, सत्ता सब में निहित है किसी एक जन में नहीं। इस क्रांति की प्रतिक्रिया सर्वत्र यूरोप में हुई और वह मानव चेतना में ऐसी समा गई कि मानो वह उसकी संस्कृति की एक बुनियादी निधि बन गई हो। उसी समानता और स्वतन्त्रता की भावना की परम्परा में रूस की क्रान्ति भी हुई थी। उस परम्परा में होते हुए भी रूस की क्रान्ति में एक भिन्न बुनियादी तत्व था। वह भिन्न बुनियादी तत्व था, आर्थिक समानता। फ्रांस की राज्य क्रांति में तो केवल राजनैतिक समानता थी–अर्थात् सबके राजनैतिक अधिकार समान हों, उसने एक दृष्टि से सामाजिक समानता भी देखी अर्थात् समाज में कोई बड़ा-छोटा नहीं, कोई उच्च-नीच नहीं, कोई नवाब गुलाम नहीं, किन्तु वह क्रान्ति यह विचार लोगों के सामने स्पष्ट नहीं कर पाई थी कि समाज में आर्थिक विषमता से उच्च-नीच का भाव पैदा हो जाता है, कि उस आर्थिक विषमता का मूल कारण है जमीन-धन पर व्यक्तिगत स्वामित्व। यह नई चेतना मानव को रूस की क्रांति ने दी।

प्रेरणा का स्रोत

रूसी क्रान्ति की प्रेरणा का स्रोत था-कार्ल-मार्क्स (१८१८-८३), जिसने यूरोप के प्रसिद्ध क्रान्तियों के वर्ष सन् १८४८ ई० में अपने सहयोगी ऐंगल्स के साथ एक साम्यवादी घोषणा-पत्र कॉम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो (Communist-Manifesto) प्रकाशित किया था। इस घोषणा–पत्र में सर्वप्रथम समाजवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। कार्ल–मार्क्स की ही प्रेरणा से यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में मजदूरों के संगठन हुए, सन् १८६४ ई० में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ (First International), १८८९ ई० में द्वितीय

फैल गये और एक नये उत्साह और एक नई स्फूर्ति से अपने-अपने निश्चित काम में जुट गये कोई नहीं छूटा—बाल, वृद्ध, औरत, मर्द, सब काम में व्यस्त; सब तरह के कामों में व्यस्त—खेत में, कारखानों में, जहाजी अड्डों में, खानों में, सेना में, सरकारी दुकानों में, आफिसों में, स्कूल और कालिजों में एवं अन्वेषणालयों में—ऐसा मालूम होता था कि कोई महान् राष्ट्रीय पर्व मनाया जा रहा है और समारोह को सफल बनाने के लिए सब लोग चाव से काम में जुट गये हैं।

केवल दस वर्ष के परिश्रम के उपरान्त

१. १९३८ तक औद्योगिक उत्पादन ९०८ प्रतिशत तक बढ़ गया—इसका अर्थ हुआ कि यदि पहिले १०० मन उत्पादन बनता था तो अब ९०० मन से भी अधिक बनने लगा, यदि पहिले १००० गज कपड़ा बनता था तो ९००० से भी अधिक गज कपड़ा बनने लगा,—अर्थात् यदि पहिले रूस में बनी औद्योगिक वस्तुएँ केवल १०० आदमियों के लिए पर्याप्त थीं तो अब ९०० से भी अधिक आदमियों के लिए काफी थीं।

२. अन्न उत्पादन में तो इससे भी अधिक विलक्षण बात हुई। जहां १९२७ में १० लाख टन भी अन्न उत्पन्न नहीं हुआ था वहां सन् १९४१ में १३ करोड़ टन अन्न खेतों से इकट्ठा किया गया। जरा कल्पना तो कीजिये—१३० गुणा अधिक। जहां १९२४ में खेतों के लिए २६०० ट्रेक्टर थे; सन् १९४० में ५,२३१०० ट्रेक्टर हो गये,—अर्थात् लगभग २०० गुना अधिक।

३. १९१४-१५ में जहां केवल १९५३ हाई स्कूल, जिनमें ४२८०३ शिक्षक एव ६३५५१ विद्यार्थी थे, वहां १९३९ में १५८१० हाई स्कूल जिनमें ३७७३३७ शिक्षक एवं १०८३४६१२ विद्यार्थी हो गये।

४. १९१३ में जहां केवल ८५९ समाचार पत्र थे जिनकी २७००००० प्रतियां छपती थीं, १९३८ में वहां ८५०० समाचार पत्र थे जिनकी ३७५००००० प्रतियां छपती थी।

राष्ट्र एक छोर से दूसरे छोर तक उन्नत, समृद्ध और हरा-भरा हो गया। रेगिस्तान में सब्जियां उगने लगी, टन्ड्रा के बर्फीले मैदानों में फल, जमीन में तेल के कुए निकले यूराल पर्वतों के पार। मजदूर किसानों के बच्चे बड़े बड़े इन्जीनियर और वैज्ञानिक होने लगे और स्त्रियां हवाई जहाज-चालक और रूस के दुश्मनों की छातियों पर बम फोड़ने वाले सैनिक। कितना अद्भुत यह उत्थान था—मानो अज्ञान के अन्धकार से घिरा, आलस्य में सोया हुआ "महा-मानव" जाग कर खड़ा हुआ हो—और उसको उठ खड़ा देख, तमाम दुनियां आश्चर्यचकित सी उसकी ओर एक टक ताकने लगी हो।

सम्राट कांग-ही ने इन ईसाई-पादरी और व्यापारी लोगों की चहल-पहल और इनके कार्यों का परिचय पाने के लिये अपना एक उच्च कर्मचारी नियुक्त किया । इस कर्मचारी की रिपोर्ट से सम्राट ने यही निश्चय किया कि चीन को विदेशियों और विधर्मियों के चंगुल से बचाने के लिये यही उचित है कि उनके व्यापार और पादरियों को देश में नहीं फैलने दिया जाये । किन्तु उत्तर में रूस का यूरोपीय राज्य पूर्व की ओर बढ़ रहा था और रूस के सम्राट पीटर महान् के समय से एशियाई-साइबेरिया उसके आधीन था । चीनी लोगों से जो पेकिंग के उत्तर में अमूर नदी की घाटी में इन रूसी लोगों की मुठभेड़ हुई जिसमें रूसी हार गये और सन् १६७९ ई० में दोनों देशों में एक संधि हुई जिसके अनुसार चीन और साइबेरिया की सरहद का निर्णय कर लिया गया और दोनों देशों में एक व्यापारिक समझौता भी हो गया । किसी यूरोपीय राष्ट्र के साथ चीन का यह प्रथम राजनैतिक सम्बन्ध था ।

मंचु वंश का दूसरा सबसे बड़ा सम्राट चीन-लुंग हुआ जिसने सन् १७३६ से १७९६ तक राज्य किया । इसके राज्यकाल में दो महान् कार्य हुए—साहित्यक कार्य—इस सम्राट ने समस्त जानने योग्य साहित्यिक कृतियों की एक विशद सूची तैयार करवाई । इस सूची में केवल पुस्तकों का नाम ही संग्रहीत नहीं था परन्तु प्रत्येक पुस्तक का परिचयात्मक वर्णन भी । अपनी प्रकार का यह एक अनोखा ही काम था । इसी काल में चीनी उपन्यास, गल्प और नाटक साहित्य का उद्भव और विकास हुआ और अनेक उच्चकोटि की साहित्यक रचनायें प्रकाश में आईं । कलापूर्ण मिट्टी के बर्तनों का एवं अन्य कलात्मक उद्योगों की वस्तुओं का निर्यात यूरोपीय देशों में बहुत बढ़ा । इंगलैंड के साथ वैसे तो चाय का व्यापार मंचु राज्य-काल के प्रारम्भ में ही होने लगा था किन्तु चीन-लुंग के राज्य-काल में इस व्यापार में बहुत वृद्धि हुई । चीन-लुंग ने अपने राज्य का भी बहुत विस्तार किया । उसके साम्राज्य में मंचुरिया, मंगोलिया, तिब्बत और तुर्किस्तान सभी प्रदेश शामिल थे जिन पर सीधा केन्द्रीय शासन था । यद्यपि चीनी सम्राटों की यह नीति बनी रही कि यूरोपीय देशों के सम्पर्क से वे दूर ही रहे तथापि यूरोपीय देशों में एक यांत्रिक और औद्योगिक क्रांति हो रही थी, उनकी शक्ति का विकास हो रहा था और उनको इस बात की आवश्यकता थी कि उनके यन्त्रों से बने हुए माल की बिक्री के लिए उनको कहीं बाजार हासिल हो, अतएव जबरदस्ती चीन से अपने सम्पर्क बढ़ाने के प्रयत्न उन्होंने जारी ही रखे ।

यूरोप से सम्पर्क की कहानी

संसार प्रसिद्ध यात्री मार्को-पोलो १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ में चीन में आया था । वह २० वर्ष से भी अधिक चीन में तत्कालीन यू-आन वंश के सम्राट की नौकरी में रहा । सन् १५८० में एक अन्य इटालियन यात्री पादरी मेटीओरीसाई (Matteo-Ricci) चीन में आया था जिसने चीन की राजधानी पेकिंग में सर्वप्रथम रोमन कैथोलिक गिरजा बनाया एवं गणित तथा ज्योतिष शास्त्र की कई पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया । फिर धीरे-धीरे यूरोप के देशों ने १७वीं और १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चीन से व्यापारिक

वादी संगठन का उदय हुआ जो कोमिंटांग (चीनी राष्ट्रवादी दल) के नाम से प्रसिद्ध था। इस दल के सदस्य चीन के अनेक शिक्षित नवयुवक थे। कारखानों में काम करने वाले मजदूर एवं मध्य वर्ग के लोग भी इसमें सम्मिलित थे। डा० सनयातसन ने शुद्ध राष्ट्र-प्रेम से प्रेरित होकर यह कल्पना की कि चीन में राष्ट्रीयता का उत्थान हो, जन साधारण के कल्याण के लिये एक स्वतन्त्र जनतन्त्र (Republic) राज्य की स्थापना हो—चीन के समस्त प्रांत एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत हों एवं देश के समस्त निवासियों को काम और जीवन निर्वाह के साधन उपलब्ध हों।

डा० सनयातसन

डा० सनयातसन के नेतृत्व में एक देशव्यापी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, कोमिटांग दल ने एक राष्ट्रीय सेना का संगठन किया और उसकी सहायता से पहिले तो चीन में स्थित यूरोपियन लोगों की शक्ति का अन्त किया गया और फिर १९११ में मंचू वंश के अन्तिम सम्राट का अन्त करके चीन की राजधानी पेकिंग में स्वतन्त्र चीन जनतन्त्र की घोषणा की। चीन जनतन्त्र का प्रथम राष्ट्रपति डा० सनयातसन स्वयं चुना गया। डा० सनयातसन के मुख्य सहयोगियों में चांगकाईशेक था जिसने कोमिटांग के अधीन राष्ट्रीय सेना का संचालन किया था। सन् १९२५ में डा० सनयातसन की मृत्यु हुई और चांगकाईशेक चीन का राष्ट्रपति बना। डा० सेन के उपरोक्त तीन प्रसिद्ध आदर्शों में से एक आदर्श की (यथा—चीन में जनतन्त्र स्थापित हो) तो प्राप्ति हो गई, किन्तु शेष दो काम, अर्थात् प्रान्तीय शासकों का अन्त होना और जन साधारण की आर्थिक स्थिति अच्छी होना, अभी बाकी थे। प्रांतीय शासकों का अन्त करने के लिए सन् १९२६ में चांगकाईशेक की विजय कूच प्रारम्भ हुई—सैनिक-विजय करता हुआ एक के बाद दूसरे प्रान्तों को वह पदाक्रान्त करता गया और इस प्रकार समस्त चीन को एक सूत्र में बांधने में वह बहुत हद तक सफल हुआ। किन्तु चीन का एक तीसरा शत्रु और पैदा हो गया था और वह था जापानी साम्राज्य। चीन में एक और शक्ति या राजनैतिक दल का दौरदौरा प्रारम्भ हो गया था; यह था चीन का साम्यवादी दल (Communist Party), जिसके नेता थे माओत्सेतुग। वास्तव में सन् १९२१ में जब चीन की व्यवस्था बहुत डांवाडोल थी, उस समय डा० सनयातसन ने यूरोपीय देशों से मदद मांगी थी जिससे कि वह प्रान्तीय शासकों (War Lords) को दबाकर एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन स्थापित करने में सफल हो सके। कोई भी यूरोपीय राष्ट्र यह नहीं चाहता था कि चीन एक शक्तिशाली राष्ट्र बन जाये, अतः कहीं से भी कुछ भी मदद नहीं आई। फिर डा० सनयायसन की दृष्टि रूस की ओर गई, रूस मदद करने को राजी हुआ, फलस्वरूप रूस के कई राजनैतिक सलाहकार चीन में आये जिनमें बोरोडिन एवं एक भारतीय साम्यवादी युवक मानवेन्द्रनाथ राय प्रमुख थे। धीरे-धीरे साम्यवादी रूस का प्रभाव राष्ट्रवादी दल (कोमितांग) के सदस्यों में फैलने लगा। दल के सदस्यों में मतभेद उत्पन्न हुआ; मानवेन्द्रनाथ राय की सलाह से वामपक्षीय विचार के सदस्य कोमितांग से पृथक हुए और उन्होंने चीन की साम्यवादी पार्टी का निर्माण किया। इस प्रकार चीन में दो राज-

बढ़ती हुई शक्ति के सामने ये लोग ठहर नहीं सके और चीन जापानी साम्राज्य का एक अङ्ग हो गया; किन्तु तुरन्त बाद सन् १६४५ में द्वितीय महायुद्ध ने फिर पलटा खाया, जापान और दूसरे धुरी राष्ट्रों (जर्मनी, इटली) की हार हुई और मित्र राष्ट्रों की विजय। चीन में फिर से मार्शल चांगकाईशेक के अधिनायकत्व में राष्ट्रवादी सरकार की स्थापना हुई किन्तु दुर्भाग्य से साम्यवादियों और राष्ट्रवादियों का फिर वही पुराना झगड़ा प्रारम्भ हो गया और समस्त चीन एक घोर और विनाशकारी गृह युद्ध के पचड़े में फंस गया।

१६४६ के बाद चीन

सन् १६४६ के आखिर तक गृह युद्ध चलता रहा; आखिर राष्ट्रीय सरकार की हार हुई। मार्शल चांगकाईशेक ने चीन से भागकर फारमूसा द्वीप में शरण ली और चीन में साम्यवादी नेता माओत्सेतुंग के अधिनायकत्व में सरकार की स्थापना हुई। वही साम्यवादी सरकार आज चीन में स्थित है। इस चीनी साम्यवादी सरकार के नेता माओत्सेतुंग ने १४ फरवरी, १६५० के दिन साम्यवादी रूस के साथ एक सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार मंचूरिया और मंगोलिया पर (जिन पर रूस का प्रभाव था) चीन का सर्वाधिकार रहेगा, रूस चीन को औद्योगिक उन्नति के लिये कर्ज देगा जिससे वह रूस से मशीनरी इत्यादि खरीद सके और किसी भी एक देश पर बाह्य आक्रमण के समय दोनों एक दूसरे को आर्थिक और सैनिक सहायता देंगे। नव स्थापित चीनी साम्यवादी सरकार के सामने इस समय अनेक जटिल समस्यायें हैं—देश में अव्यवस्था, करोड़ों लोगों की गरीबी, अशिक्षा इत्यादि। साम्यवादी सरकार इन समस्याओं का निराकरण करने के लिये गंभीरता और कड़ाई से आगे बढ़ती हुई दिखाई देती है। ऐसे समाचार है कि साम्यवादी सरकार आने के पूर्व चीन के राजकाज में बड़ी शिथिलता थी, कुशलता और अनुशासन का अभाव था, खूब घूसखोरी चलती थी, चोर बाजार खूब होता था और कुछ प्रान्तीय योद्धा सरदार अपनी सेनाओं के बल पर अभी तक स्वतंत्र बने हुए थे। १६४६ ई० के अन्तिम महीनों में साम्यवादी सरकार स्थापित होने के बाद एकमात्र साम्यवादी अधिनायक माओत्सेतुंग ने अपने सुगठित साम्यवादी दल की सहायता से इतनी कड़ाई और कठोर अनुशासन से काम लिया कि केवल कुछ ही महीनों में राजकाज की शिथिलता दूर हो गयी, घूसखोरी और चोर बाजारी करने की किसी की हिम्मत न रही और प्रान्तीय योद्धा सरदारों को ऐसी सफाई से खत्म कर दिया गया कि मानो कभी वे इतिहास के पर्दे पर थे ही नहीं; उनकी सेनायें सब केन्द्रीय साम्यवादी सेना सङ्गठन में मिला ली गई। इसके अतिरिक्त सब जमींदारों को खत्म कर दिया गया, उनकी जमीनें किसानों में बांट दी गयी और अर्थ और युद्ध नियंत्रण सम्बन्धी कुछ ऐसे कदम उठाये गये जिससे अन्न वस्त्र के मूल्य गिरे और जन साधारण के मन का भार कम हुआ। चीन इस प्रयत्न में संलग्न है कि उसकी स्वतन्त्रता, नव स्थापित साम्यवादी व्यवस्था सुरक्षित रहे, इसीलिए माओत्सेतुंग एक अभूतपूर्व शक्तिशाली सेना का संगठन कर रहा है। कहते हैं आज वहां ५० लाख सैनिकों की एक विशाल सेना तैयार है जो दुनियां की सबसे बड़ी जन सेना है। प्रत्येक सैनिक को साम्यवादी सिद्धान्तों की शिक्षा

के आधीन कर लेता है। कभी कभी कोई प्रान्तीय शासक ही केन्द्रीय शासन व्यवस्था अपने हाथ में ले लेता है, स्वयं सम्राट बन जाता है और इस प्रकार एक नये ही राजवंश की स्थापना करता है। इस प्रकार चीन के प्रथम सम्राट ह्वांगटी "पीत सम्राट" से लेकर जिसके राजवंश की स्थापना २६९७ ई० पू० में हुई, आधुनिक मंचु राजवंश की सन् १९११ में समाप्ति तक, जब चीन में आधुनिक प्रकार की एक जनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था स्थापित हुई, चीन का राजनैतिक इतिहास स्वयं चीनी राष्ट्र और चीनी मानस की तरह मंथर गति से चलता रहता है। यूरोप में प्राचीन ग्रीक और रोमन साम्राज्यों का अन्त हो जाता है और उन साम्राज्यों के अन्त के साथ साथ ग्रीक और रोमन सभ्यताओं का भी अन्त हो जाता है, ग्रीक और रोमन विचारधारा, दर्शन, काव्य और कला सब भुला दी जाती है शताब्दियों तक लुप्त हो जाती है, प्राचीन ग्रीक और रोमन 'मानव' हमेशा के लिए लुप्त हो जाता है। किन्तु चीनी सभ्यता की धारा चीनी जन साधारण के जीवन की ओट में सतत बहती रहती है। चीन के बड़े बड़े सम्राटों का बार बार अन्त होता है, विशाल चीनी साम्राज्य भी बार बार विध्वस्त होकर टुकड़े टुकड़े हो जाता है, फिर बनता है और फिर बिगड़ता है किन्तु चीनी जन समुदाय के जीवन की लहर मंथर गति से मानो एक सी बहती रहती है। कनफ्यूशियस और बुद्ध की विचारधारा उसके अन्तस में समाई रहती है, सुन्दर चित्र बनते रहते हैं, सुन्दर सुन्दर चीनी के बर्तन और उन पर अनेक रंगों की चित्रकारी होती रहती है, कविता और साहित्य का निर्माण होता रहता है, चाय की प्याली परिवार का कवित्वमय केन्द्र बनी रहती है, चीन और चीन के लोगों के जीवन से सौन्दर्य और कला का आधार कभी विलग नहीं होता, चीनी मानव की यही एक आकर्षक सुषमा है; वह इतना संस्कृत है कि उसका मिजाज कभी बिगड़ता नहीं।

यह "पुरातन चीनी मानव" आज (१९५० में) अपने पुरातन व्यक्तित्व को छोड़ आधारभूत एक नए व्यक्तित्व, नई भावना, नई संस्कृति का आवाहन कर रहा है, एक नई 'मानवता' की अवतारणा कर रहा है। देखें क्या होता है।

रहने वालों में से अनेक चीनी लोग समुद्र पार करके जापान में जाकर बस गये। जापान के दक्षिण पूर्व में स्थित "पूर्वी द्वीप समूहों" के प्राचीन मलायन निवासियों में से भी अनेक लोग जापान में आकर बसे और चीन के आए हुए लोगों से उनका सम्मिश्रण हो गया। यह घटना ईसा के कई शताब्दियों पूर्व की होगी। एक बार अनेक समूह आकर बस गये होंगे, फिर उनका सम्पर्क अपने आदि देशों से टूट गया होगा। इस प्रकार जापानी लोग मुख्यतया मंगोल उपजाति के लोग हैं (क्योंकि चीनी मंगोल उपजाति के ही माने जाते हैं) जिनमें मलायन लोगों का सम्मिश्रण है। इन्हीं लोगों से जापान का इतिहास बना।

जापानियों की भी अपने उद्भव और राज्य के विषय में एक पौराणिक कथा है—ऐसी ही कथा जैसी कि प्रत्येक देश और जाति ने अपने पुरातन उद्भव के विषय में रच रखी है। इस कथा के अनुसार "सूर्यदेवी" जापानियों के प्रमुख आराध्य ईश्वर हैं। सूर्यदेवी ने अपनी ही वंश की "जिम्मू" नामक संतान को जापान में सम्राट बना कर भेजा और उसी से (६६० ई. पू. से) जापानी सम्राटों की वंशावली चली। आधुनिक जापान में नगासा नगर के निकट उपरोक्त "सूर्यदेवी" का प्रसिद्ध मन्दिर है जहां विशेष अवसरों पर जापान के सम्राट एवं मन्त्रिगण पूजा करने के लिए जाते हैं। यही मन्दिर जापानी राष्ट्र का प्रतीक है और जापानी सम्राट स्वयं "जापानी सृष्टि" का प्रमुख देव-पुरुष।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जापानी पौराणिक परम्परा तो जापान का सभ्य सामाजिक राजकीय इतिहास ई. पू. ७वीं शताब्दी तक ले जाती है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो हमें ईसा के बाद की दूसरी तीसरी शताब्दी तक वहां पर किसी भी प्रकार का राज्य संगठन नहीं दिखाई देता। वास्तव में ईसा के बाद पांचवीं शताब्दी तक जापानी लोग (वे चीनी और मलायन लोग जो प्रागैतिहासिक काल में जापान में बस गये थे) अन्धकारपूर्ण और असभ्य अवस्था में ही पाये जाते हैं। ईसा की ६ठी शताब्दी में जापान पर तत्कालीन चीनी लोगों का आक्रमण हुआ। यह कोई राजनैतिक अथवा सैनिक आक्रमण नहीं था। हम इसे सांस्कृतिक आक्रमण कह सकते हैं। इस आक्रमण ने जापान को, वहां के जीवन और समाज को मूलतः परिवर्तित कर दिया। सभ्यता के प्रकाश की प्रथम किरणों का उदय हुआ। एक लिखित भाषा का प्रचार हुआ। भाषा वही जापानी रही जो उपरोक्त आदि वासियों में विकसित हो गई, किन्तु उसका लिखित रूप चीनी चित्र-लिपि बनी। चीन से ही जापान में बुद्ध धर्म का प्रचार हुआ, चीन से ही जापान ने कनफ्यूसियस धर्म, चित्रकला, मिट्टी के बर्तन बनाने की कला, रेशम पैदा करना और उसके कपड़े बनाने की कला, पुष्पों की सजावट और उद्यान कला, चाय पैदा करना और चाय पीने की कला—इत्यादि बातें सीखीं। सम्भव है इस चीनी सम्पर्क के बिना जापान अकेला अपने द्वीपों में बसा हुआ सभ्य नहीं हो पाता।

बुद्ध धर्म के आने के पहिले जापानियों का स्वयं अपना एक प्राचीन धर्म था जिसे "शिण्टो" धर्म कहते हैं। अपने प्रारम्भिक रूप में यह धर्म एक

है. जापान का प्रमुख राजनैतिक प्रश्न यही रहा है कि जापान में कौन वे लोग हैं जो सम्राट को चला रहे हैं और जिनके हाथों में शक्ति केन्द्रीभूत है। इस दृष्टि से जापानी इतिहास को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. महान परिवारों का प्रभुत्व (५३६–११९२ ई.)
२. शोगुनों का एक तांत्रिक प्रभुत्व (११९२–१८६८ ई.)
३. सम्राट की संरक्षता में वैधानिक राजतंत्र (१८६८ ई.)

जापान का इतिहास इन्हीं तीन काल खंडों के अनुसार अध्ययन करेंगे।

१. महान परिवारों का प्रभुत्व (५३६–११९२)

वह प्रसिद्ध जापानी परिवार जिसके हाथ में राजकीय सत्ता रही 'शोगा' नामक परिवार था। इस परिवार का सबसे प्रमुख व्यक्ति 'शोट्रकू ताइसी' था, जो कि जापानी इतिहास का एक महान व्यक्ति माना जाता है। इसने धीरे-धीरे विभिन्न जातिगत समूहों को हराया और देश के सम्राट के आधीन सबका संगठन किया। चीन के महात्मा कनफ्युसियस की शिक्षाओं से प्रभावित होकर नैतिक आधार पर राज्य का संगठन करने का उसने प्रयास किया। 'शोट्रकी ताइसी' की मृत्यु के बाद सम्राटों को चलाने वाले शोगा परिवार का प्रभुत्व भी समाप्त हुआ। अब जापान के इतिहास में "काकाटोमी नो कामटोमि" नामक एक अन्य महान व्यक्ति का आगमन हुआ। इसने फ्यूजीवारा परिवार की स्थापना की। चीनी राजकीय ढंग का अध्ययन करके इसने जापान के राजकीय संगठन में अनेक उचित परिवर्तन किये एवं जातिगत समूहों को और भी अधिक दबाकर राज्य की केन्द्रीय शक्ति को अधिक सगठित और महत्वशाली बनाया। इन फ्यूजीवारा परिवार के शासक लोगों ने किसान लोगों से भूमि कर एकत्रित करने के लिये एक जमींदार वर्ग का निर्माण किया। ये जमींदार लोग "डाईमीओरस" कहलाते थे, छोटी-छोटी फौजें रखते थे, अपनी फौजी शक्ति के बल पर भूमि कर एकत्रित करते थे, उसमें से मुख्य भाग स्वयं रख कर शेष शासकों को दे देते थे।

धीरे-धीरे इन "डाईमी ओरस" (जमींदार) लोगों की शक्ति का ह्रास होने लगा और उनमें यह घमंड आ गया कि वे शासक परिवारों को भी बदल सकते हैं और उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते हैं।

इस काल में जापान की राजधानी कोयटो थी। देश में दो प्रमुख 'डाईमीओरस' परिवार 'ताहिरा' और "मीनामोती" थे। इन दोनों जमींदार परिवारों ने शासक परिवार फ्यूजीवारा को अन्त करने में सम्राट को मदद दी। इस प्रकार फ्यूजीवारा परिवार का अन्त हुआ। किन्तु इसका अन्त होने पर उपरोक्त दोनों जमींदार परिवारों में प्रभुत्व के लिये झगड़े हुए और अनेक लड़ाइयां हुईं। अन्त में "मीनामोती" परिवार की विजय हुई और उस परिवार के प्रमुख व्यक्ति योरीतोमो को जापानी सम्राट ने "शोगुन" की पदवी से विभूषित किया। इस पदवी का अर्थ था—"जंगली लोगों पर विजय प्राप्त

तो जापानियों ने इन पाश्चात्य ईसाई पादरी और व्यापारियों को अपने देश में बसने के लिये और व्यापार करने के लिये आज्ञा दे दी, किन्तु उन्होंने देखा कि स्पेन के लोगों ने जो फिलीपाइन द्वीप में व्यापार करने के लिये आये थे, उस द्वीप पर अपना आधिपत्य ही जमा लिया था। जापान के एक प्रसिद्ध राजनैतिक हिदेयोशी को भान हुआ कि ये यूरोपीय लोग तो भले मनुष्य नहीं है। धर्म के नाम पर आते है किन्तु जिस देश में ये जाते हैं धीरे-धीरे उसी को हथियाने का प्रयत्न करते है। जापानी सम्राट और शासक लोगों को भी यह भान कराया गया। अतएव जापानी नेता और सम्राट ने एक के बाद दूसरा फरमान निकाला कि जापान में जितने भी विदेशी हैं वे सब जापान छोड़कर चले जायें; कोई भी विदेशी जापान की भूमि पर न उतरे; कोई जापानी भी विदेशों में न जाये। सब विदेशियों को यहां तक चीनियों को भी जापान छोड़कर जाना पड़ा, विदेशी आवागमन सब बंद हो गया और इस प्रकार बाहरी दुनिया के लिये जापान के दरवाजे बिल्कुल बन्द हो गये। सन् १६३७ ई० से १८५३ तक, २०० वर्षों से भी अधिक जापान अपने में ही सीमित, अन्य देशों से यहां तक कि अपने पड़ोसी देश चीन और कोरिया से भी बिल्कुल सम्पर्क-विहीन, एक बंद घर की तरह पड़ा रहा।

सामाजिक दशा (५३६-१८६८ ई० तक)

अब तक के वर्णित जापान के इतिहास से इतना तो भान हुआ होगा कि जापान के इतिहास के आरम्भ काल से लेकर लगभग १३०० वर्षों तक जापान की कहानी मात्र विभिन्न धनी, शक्तिशाली सामंतों एवं सैनिक परिवारों में परस्पर झगड़े और युद्ध की कहानी रही। देश अधिकांशतः गृह-युद्धों से पीड़ित और अन्धकारपूर्ण रहा। धन और शक्ति-लोलुप सामंती परिवार देश के बहुसंख्य जनसमुदाय किसानों से तलवार के बल पर मनचाहा जितना धन कर के रूप में लेते रहे, किसान वर्ग में से ही सिपाही एकत्रित करते रहे और आपस में लड़ते रहे, उन्हीं के प्रभाव में सम्राट का शासन चलता रहा।

यद्यपि चीन से लेखन कला, छपाई (Block-Printing—लकड़ी के ब्लोकों से छपाई) और चित्रकला जापान में इसके इतिहास के प्रायः प्रारंभिक काल में ही आ गई थी, किन्तु ये सब बातें जनसाधारण से बिल्कुल दूर रहीं, केवल राजकीय एवं सामंती परिवारों में ही शिक्षा और कला का प्रसार हो पाया। तत्कालीन समाज में मुख्यतः ३ वर्ग माने जा सकते हैं। १. उच्चवर्ग (जिसमें राजकीय परिवार, राजकीय शासक वर्ग और सामंती लोग थे), २. कृषि वर्ग, और ३. सैनिक वर्ग।

यह बात ध्यान में लाने योग्य है कि चीन की तरह यहां मंडारिन (शिक्षित संस्कृत) लोगों का वर्ग नहीं था एवं जहां चीन में पृथक सैनिक वर्ग नहीं था, यहां जापान में ऐसे वर्ग का निर्माण हो चुका था। साधारण वर्ग के लोग खेती करते थे पूर्वजों में विश्वास बनाये रखते थे और सम्राटों को सर्वोपरि देवतुल्य पुरुष मानते रहते थे। इसी विश्वास में उनका जीवन चलता रहा था।

न्यूजीलेण्ड इत्यादि; दक्षिण अमेरिका के देश एवं अफ्रीका उपनिवेश के साधन थे।

युद्ध क्षेत्र

दुनिया में तिब्बत, दक्षिण अमेरिका, अफगानिस्तान एवं अन्य एक दो ऐसे दूरस्थ देशों को छोड़कर, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा जहां युद्ध सम्बन्धी फौजी हलचल नहीं हुई हो। महासमुद्र तो सभी के सब पनडुब्बी, माइनस इत्यादि के खतरों से भरे हुए थे। युद्ध की गति तीव्र थी। पच्छिम में तो जर्मनी विजयी हो रहा था, पूर्व में उसी तरह जापान बिजली की तरह आगे बढ़ने लगा था। समस्त पूर्वीय-चीन पर तो उसने कब्जा कर ही लिया था, फिर फिलीपाइन द्वीप समूह पर, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, न्यूगिनी इत्यादि समस्त पूर्वी द्वीप समूह पर और फिर मलाया और बरमा पर उसने कब्जा कर लिया। भारत के आसाम प्रान्त में उसने हवाई आक्रमण प्रारंभ कर दिये थे।

सन् १९४२—४३ में युद्ध कुछ पलटा खाने लगा। जर्मनी की फौजें दूर रूस में फंस गईं। इधर अफ्रीका में मित्र-राष्ट्रों ने अबीसीनिया में जो इटली के कब्जे में था और उत्तर अफ्रीका में अपने हमले प्रारंभ कर दिये। सन् १९४३ के प्रारंभ तक अफ्रीका से सब इटालियन सिपाही साफ कर दिये गये। सन् १९४३ के मध्य में मित्र-राष्ट्रों द्वारा इटली और सिसली पर आक्रमण किया गया और जर्मनी स्वयं पर एंग्लो-अमेरिकन बोम्बर्स ने हवाई-आक्रमण प्रारंभ कर दिये। जून सन् १९४४ में एंग्लो अमेरिकन फौजों ने जमीन के रास्ते से पच्छिमी यूरोप से जर्मनी पर हमले प्रारंभ कर दिये। उधर पूर्वीय यूरोप में रूसी फौजें भी जर्मनी फौजों को खदेड़ती हुई आगे बढ़ने लगीं। अन्त म जर्मनी का तानाशाह हिटलर रणक्षेत्र में मारा गया या उसने आत्महत्या कर ली; इटली का तानाशाह मसोलिनी भी गोली से उड़ा दिया गया। मई सन् १९४५ के दिन यूरोप का युद्ध समाप्त हुआ, जर्मनी ने पराजय स्वीकार कर ली। पूर्व में जापान के विरुद्ध युद्ध जारी रहा। ६ अगस्त सन् १९४५ के दिन अमेरिका ने एक बिल्कुल नया अस्त्र, अणु बम जापान के हिरोशिमा नगर पर डाला और दूसरा बम ९ अगस्त को नागासाकी नगर पर। इन दो बमों ने प्रलयङ्कारी विध्वंस मचा डाला—सैकड़ों मीलों तक उनकी गैस और आग की लपटों की झुलस पहुंची। विश्व इतिहास में यह एक अद्भुत विनाशकारी अस्त्र निकला। इसका अनुमान हिरोशिमा नगर पर जो बम डाला गया था उसके परिणाम से लगाइये। नगर पर एक हवाई जहाज से जो ३०००० फीट की ऊंचाई पर उड़ रहा था, एक अणु बल डाला गया जिसका वजन ५० मन था। नगर की आबादी ३ लाख थी जिसमें से ९२००० मर गये, इसके अलावा ४० हजार घायल हुए; ९०००० घरों में से ६२००० घर गिर गये और यह सब बम गिरने के कुछ ही देर बाद होगया। बम गिरने के बाद भयङ्कर धुएं के बड़े-बड़े बादल ४०००० फीट की ऊंचाई तक उड़े थे। जापान इसके सामने कैसे ठहर सकता था। अन्त में उसने भी १४ अगस्त सन् १९४५ के दिन पराजय स्वीकार कर ली।

द्वितीय विश्व-व्यापी महायुद्ध जो पहली सितम्बर सन् १९३९ के दिन प्रारंभ हुआ था, ६ वर्ष में १४ अगस्त सन् १९४५ के दिन समाप्त हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के तात्कालिक परिणाम

१. युद्धजनित विनाश

कल्पनातीत भयङ्कर विनाश हुआ, क्योंकि युद्ध के अस्त्र प्रलयङ्कारी थे—अणुबम जैसे प्रलयङ्कारी। अनेक नगर, उद्योग, खेत, भवन, कारखाने राख बन गये, २॥ करोड़ जन की प्राण हानि हुई, ५ करोड़ जन बुरी तरह घायल, और फलस्वरूप कितना दुख और विषाद, कोई चिन्तन कर सकता है? ४ अरब डालर युद्ध में व्यय हुआ,—इतना तो व्यय हुआ, किन्तु विनाश कितना घन हुआ, इसका कुछ अनुमान नहीं। सब देशों में जीवन अस्त-व्यस्त हो गया, जीवन का पुनर्निर्माण एक भागीरथ काम हो गया। सब देशों में भयङ्कर अन्नाभाव, मंहगाई, दु:ख, शङ्का और अन्धेरा। आज (१९५०) पांच वर्ष के बाद भी मानव युद्ध जनित अन्नाभाव, मंहगाई, दु:ख, शङ्का और अन्धेरे से मुक्त नहीं; और सर्वोपरि उसको त्रासित किए हुए है—परमाणु अस्त्र जो समस्त मानव जाति के सिर पर मौत की तरह मंडरा रहे हैं।

२. विजित राष्ट्रों की व्यवस्था

इटली—युद्धोत्तर काल में विजयी राष्ट्रों ने इटली को स्वतन्त्र छोड़ दिया। वहां अब एक स्वतन्त्र जनतन्त्रात्मक राज्य कायम है।

जर्मनी—शांति घोषणा के बाद जर्मनी का एक छोटासा पूर्वीय हिस्सा तो जर्मनी से पृथक कर दिया गया जो पोलेण्ड में मिल गया। शेष जर्मनी को ४ क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया जिनमें से पश्चिम के ३ क्षेत्रों पर इंगलैंड, फ्रांस और अमेरिका और पूर्व के क्षेत्र पर रूस का सैनिक अधिकार कायम कर दिया गया। यह निर्णय किया गया कि यह व्यवस्था तब तक रहेगी जब तक जर्मनी के साथ कोई स्थायी सन्धि नहीं हो जाती। धीरे-धीरे पश्चिम के ३ क्षेत्र एवं पश्चिमी बर्लिन मिल कर एक प्रजातन्त्रीय राज्य बन गए जिसका नाम पश्चिमी जर्मनी (F G R=फैडरल जर्मन रिपब्लिक) पड़ा; और पूर्वी क्षेत्र और पूर्वी बर्लिन मिलकर एक नया राज्य बना, जिसका नाम पूर्वी जर्मनी (G D R=जर्मन डेमोक्रैटिक रिपब्लिक) पड़ा। उपर्युक्त पश्चिमी जर्मनी पर आज तक (१९६६ तक) अमेरिका का प्रभाव है और पूर्वी जर्मनी पर रूस का। जर्मनी के सम्बन्ध में अभी तक कोई स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि नही हो पाई है।

आस्ट्रिया—युद्ध के बाद ऑस्ट्रिया पर भी जर्मनी के समान उपरोक्त ४ राष्ट्रों का सैनिक अधिकार स्थापित हुआ, और यह निर्णय किया गया कि यह व्यवस्था तब तक रहेगी जब तक ऑस्ट्रिया के साथ कोई स्थायी सन्धि नहीं हो जाती। सन् १९५५ में ऐसी स्थायी सन्धि हो गई जिसके अनुसार

ऑस्ट्रिया ने अपने आपको एक तटस्थ राज्य (जो अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध में किसी का भी पक्ष न ले) घोषित कर दिया और उसकी इस स्थिति को स्वीकार करके अमेरिका और रूस वहां से हट गए।

जापान—युद्ध के बाद जापान पर अमेरिका का सैनिक अधिकार स्थापित कर दिया गया, उस वक्त तक के लिए कि जब तक जापान के साथ कोई स्थायी सन्धि नहीं हो जाती। १९५१ में ऐसी सन्धि हुई और जापान अमेरिका के नियन्त्रण से मुक्त हुआ। किन्तु अमरीकी नैतिक प्रभाव और यह प्रयत्न कि जापान का मानस और परम्परा प्रजातान्त्रिक बने अभी (१९६६) तक भी चल रहा है। वहां पर अभी कुछ अमरीकी सैनिक अड्डे भी कायम हैं। युद्ध काल में जापान द्वारा विजित देश जैसे बर्मा, हिन्देशिया, मलाया, फिलिपाइन-द्वीप, युद्ध पूर्व स्थिति में आ गये, यथा हिन्देशिया पर पूर्ववत् डच राज्य कायम होगया, जो बाद में स्वतन्त्र होगया, बरमा और मलाया में अंग्रेजों का अधिकार रहा, जो बाद में स्वतन्त्र होगये; मंचूरिया चीन की साम्यवादी क्रांति के बाद पूर्ववत् चीन का अंग रह गया, कोरिया पर रूस और अमेरिका की फौजों का अधिकार रहा—३८ अक्षांस के उत्तर में रूस और दक्षिण में अमेरिका।

संसार के शेष राज्यों की राजनैतिक स्थिति बिल्कुल वही रही जो युद्ध के पहिले थी।

३. शान्ति के प्रयत्न

जब युद्ध लड़ा जा रहा था तो मित्रराष्ट्रों ने घोषणा की थी कि यह युद्ध जनस्वतन्त्रता, राष्ट्र स्वतन्त्रता और जनतन्त्रवाद के लिये लड़ा जा रहा है। स्वयं अमेरिका के प्रेसीडेंट रूजवेल्ट ने घोषणा की थी—हम ऐसे संसार और समाज की स्थापना के लिए लड़ रहे हैं जिसका संगठन चार आवश्यक मानवीय स्वतन्त्रताओं के आधार पर होगा। पहली यह है कि दुनिया में सर्वत्र वाणी और विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता हो। दूसरी यह कि मानव को धर्मपालन की स्वतन्त्रता हो,—वह चाहे जिस धर्म का पालन कर सके, धर्म के मामले में कहीं जोर जबरन न हो। तीसरी यह कि मानव गरीबी से मुक्त हो, जिसका अर्थ यह है कि प्रत्येक देश के निवासियों को वे साधन उपलब्ध हों जिससे कि वे स्वस्थ जीवनयापन कर सकें। चौथी स्वतन्त्रता यह कि प्रत्येक देश किसी भी दूसरे देश के आक्रमण के डर से मुक्त हो, जिसका अर्थ हुआ राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण। इन्हीं आदर्शों की प्राप्ति के लिए मानव ने व्यावहारिक कदम उठाया।

३१
संयुक्त राष्ट्र
[THE UNITED NATIONS]

कैसे बना ?

अभी युद्ध चल ही रहा था। अगस्त १९४१ में अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चर्चिल अटलांटिक महासागर में कहीं एक जहाज पर मिले, दुनियां में स्थाई शान्ति की समस्या पर बातचीत की, और खूब सोच विचार और मनन के बाद उन्होंने एक आदेश पत्र प्रकाशित किया जो अटलांटिक चार्टर के नाम से प्रसिद्ध है। इस आदेश–पत्र में उन्होंने अपने देशों की ओर से अपनी नीति और सिद्धान्तों की घोषणा की थी। उन्होंने कहा था कि हम साम्राज्य विस्तार अथवा किसी नये प्रदेश पर अधिकार करना नहीं चाहते; हम चाहते हैं कि जनमत से ही प्रत्येक राष्ट्र का शासन चले; सब राष्ट्रों में पारस्परिक आर्थिक सहयोग हो; युद्ध के बाद पराजित राज्य पुन: प्रतिष्ठित हों और उनको पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो; एवम् प्रत्येक राष्ट्र युद्ध सामग्री में कमी करे और अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए प्रयत्न करे। अक्टूबर १९४३ ई० में मास्को में अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, और चीन के विदेश मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ और उन्होंने अटलांटिक चार्टर के सिद्धांतों के आधार पर विश्व शांति व सुरक्षा के लिए एक अन्तर्राष्टीय संस्था की स्थापना पर जोर दिया। अक्टूबर १९४४ में वाशिंगटन के डम्बर्टन ओक्स नामक भवन में उक्त चार बड़े देशों के प्रतिनिधि मिले और उन्होंने विश्व संस्था की स्थापना के लिए प्रस्ताव के रूप में एक योजना तैयार की। फिर फरवरी १९४५ में याल्टा (क्रिमिया) में चर्चिल, रुजवेल्ट और स्टालिन मिले और उन्होंने उक्त विश्व योजना के प्रस्ताव को अन्तिम रूप दिया। फिर अप्रैल १९४५ में सानफ्रांसिस्को (अमेरिका) में विश्व के ५० राष्ट्रों के ८५० प्रतिनिधि एक सम्मेलन में एकत्र हुए और उन्होने खूब सोच-विचार, वाद-विवाद के बाद विश्व संगठन का एक चार्टर तैयार किया। २६ जून १९४५ के दिन सानफ्रांसिस्को के वेटरन मेमोरियल हाल में ५० राष्ट्रों के ८५० प्रतिनिधियों ने उस चार्टर पर हस्ताक्षर किए और इस प्रकार संयुक्तराष्ट्र का जन्म

हुआ। उक्त चार्टर में संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य सिद्धान्त और उसका विधान समाविष्ट थे। ऐसा माना जाता है कि विश्व में ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सभा पहले कभी नहीं हुई थी। अमेरिका के प्रेजीडेंट ट्रूमैन ने सम्मेलन के अन्तिम अधिवेशन में भाषण देते हुए कहा "संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर जिस पर आपने अभी हस्ताक्षर किए हैं एक ऐसी सुदृढ़ नींव है जिस पर हम एक सुन्दर विश्व का निर्माण कर सकते हैं। इसके लिए इतिहास आपका सम्मान करेगा।" २४ अक्टूबर १९४५ से संयुक्त राष्ट्रसंघ ने विधिवत अपना कार्य प्रारम्भ किया और इसीलिए यह दिन विश्व भर में "संयुक्त राष्ट्र दिवस" के नाम से मनाया जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान कार्यालय पहले लेक सकसेस (अमेरिका) में रखा गया, किन्तु इसके लिए न्यूयार्क में एक भव्य विशाल भवन तैयार किया जा रहा था जो १४ अक्टूबर १९५२ के दिन समाप्त हुआ और तभी से संघ का कार्यालय न्यूयार्क के उसी भवन में है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाही के लिए पांच भाषाएं मान्य हैं, यथा चीनी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी तथा स्पेनिश। किन्तु इसका अधिकतर काम अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं में ही होता है। इन मान्य भाषाओं में से किसी एक में किये गये भाषण का तत्काल एक साथ ही अन्य चार भाषाओं में अनुवाद हो जाता है।

उद्देश्य

संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य हैं:—अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखना; यदि शांति भंग का कहीं खतरा हो तो उसे रोकने और हटाने के लिए सामूहिक कार्यवाही करना; किसी अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े के या ऐसी परिस्थितियों के जिनसे शांति भंग हो या उपस्थित हो जाने पर न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय नियमानुसार उनका शांतिपूर्ण ढंग से निपटारा करना; राष्ट्रों में इस सिद्धान्त को मानते हुए कि सबके अधिकार समान हैं, परस्पर मित्रता पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना; आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक उत्थान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से काम करना; एवं विश्व भर में मानव अधिकारों और मौलिक स्वाधीनताओं की रक्षा करना।

सदस्य

जिन ५० राष्ट्रों ने प्रारम्भ में ही उपरोक्त चार्टर पर हस्ताक्षर किये थे तो राष्ट्रसंघ के सदस्य थे ही, इनके अतिरिक्त कोई भी अन्य राष्ट्र सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर, जनरल असेम्बली द्वारा स्वीकार कर लिये जाने पर संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बन सकता है। सन् १९५७ तक ८२ राज्य इसके सदस्य बन चुके थे। यथा:—१. अफगानिस्तान, २. आयरलैंड, ३. अर्जेन्टाइना, ४. आस्ट्रेलिया, ५. अल्बेनिया, ६. आस्ट्रिया, ७. वेल्जियम, ८. वोलीविया, ९. ब्राजील, १०. बल्गेरिया, ११. बर्मा, १२. बेलोरसियन, १३. कनाडा, १४. चीली, १५. चीन (फारमूसा में स्थित तथाकथित राष्ट्रवादी चीनी सरकार; मुख्य भूमि चीन में स्थित जनता का गणतंत्र नहीं), १६, कोलम्बिया, १७. कम्वोडिया, १८. कोस्टारिका, १९. क्यूबा, २०. चेकोस्लोवाकिया, २१. डैनमार्क, २२. डोमोनिकन रिपब्लिक, २३. इक्वेडर, २४. मिस्र,

२५. सालवेडर, २६. इथोपिया, २७. फ्रांस, २८. यूनान, २९. ग्वाटेमाला, ३०. हेटी, ३१. होंडूरास, ३२. आइसलैण्ड, ३३. भारत, ३४, हिंदेशिया, ३५. ईरान ३६. हंगरी, ३७. इटली, ३८. ईराक, ३९. इजराइल, ४०. लंका, ४१. लेबनान, ४२. लाओस, ४३. लीबिया, ४४. जोर्डन, ४५. लाइबेरिया, ४६. लक्सेमबर्ग, ४७. मेक्सिको, ४८. नीदरलैंड, ४९. न्यूजीलैंड, ५०. निकारगोआ, ५१, नॉर्वे, ५२. पाकिस्तान, ५३. पनामा, ५४. प्राग्वे, ५५. पीरू, ५६. फिलीपीन, ५७. फिनलैण्ड, ५७. पोलैण्ड, ५९. यहूदीअरब, ६०. स्वीडन, ६१. सीरिया, ६२. थाईलैंड, ६३. तुर्की, ६४. यूक्रेनिया, ६५. दक्षिण अफ्रीका संघ, ६६. रूस, ६७. ब्रिटेन, ६८. अमेरिका, ६९. यूरुग्वे, ७०. वेनेजूला, ७१. नेपाल, ७२. स्पेन, ७३. पुर्तगाल, ७४. रुमानिया, ७५. सूडान, ७६ मोरक्को, ७७. ट्यूनिशिया, ७८. यमन, ७९. यूगोस्लेविया, ८०. जापान, ८१. घाना, ८२. मलाया। ९६६ में यह सदस्य संख्या ११७ तक पहुंच गई।

संगठन

संयुक्त राष्ट्र संघ का काम सुचारु रूप से चलाने के लिए इसका एक सुगठित रूप बनाया गया जिसके छः प्रमुख अंग हैं—

१. जनरल असेम्बली

संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य जनरल असेम्बली के सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य (राष्ट्र) जनरल असेम्बली में बैठने के लिए ५ प्रतिनिधि भेज सकता है और किसी भी सदस्य-राष्ट्र के पांच से अधिक वोट नहीं हो सकते। जनरल असेम्बली उन तमाम मामलों पर जो संयुक्तराष्ट्र के उद्देश्यों के अन्तर्गत आते हैं बहस कर सकती है और उनके विषय में सुरक्षा परिषद् को अपनी सिफारिश कर सकती है। इसका अर्थ यही है कि जनरल असेम्बली केवल वाद-विवाद एवं विचार-विनिमय करने का एक मंच मात्र है। फिर भी इसके निर्णयों के पीछे विश्व की सरकारों के बहुमत का प्रबल नैतिक बल तो होता ही है। जनरल असेम्बली का प्रतिवर्ष एक अधिवेशन होता है जो सितम्बर के तीसरे मंगलवार को प्रारम्भ होता है और प्रायः तीन महीने तक चलता है। सुरक्षा परिषद् अथवा बहुमत-समर्थन प्राप्त एक सदस्य के अनुरोध पर भी असेम्बली की किसी भी समय विशेष बैठक बुलाई जा सकती है।

२. सुरक्षा परिषद्

संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और राष्ट्रीय-चीन स्थायी सदस्य हैं और जनरल असेम्बली द्वारा निर्वाचित ६ अन्य अस्थायी सदस्य। इस प्रकार कुल ११ सदस्य होते हैं। परिषद का काम निरन्तर चलता रहता है और समय समय पर इसकी बैठकें होती रहती हैं।

कार्य—राष्ट्रों के परस्पर झगड़ों की जांच करना, समझौते करवाना, आक्रमणकारियों के विरुद्ध कार्यवाही करना, इत्यादि। सुरक्षा परिषद संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्य कार्यकर्ता अंग है। यही मुख्य कार्यपालिका है; इसको संयुक्त

राष्ट्रसंघ का मन्त्री-मण्डल कह सकते है। सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यों को किसी भी बात पर अपना विशेष निषेधाधिकार काम में लाने का हक है। अर्थात् यदि सभी सदस्य किसी एक प्रश्न पर अपना निर्णय बनाते हैं, किन्तु एक स्थायी सदस्य उस निर्णय से सहमत नहीं होता तो वह उस निर्णय को ही रद्द कर सकता है और उस प्रश्न पर कोई भी कार्यवाही नहीं की जा सकती। सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों को यह एक ऐसा अधिकार है कि उनमें से कोई भी एक यदि चाहे तो सुरक्षा परिषद् और जनरल असेम्बली के सब निर्णयात्मक कामों को रोक सकता है। संयुक्त राष्ट्र सघ की यही सबसे बड़ी कमजोरी है। ऐसा अधिकार इन स्थायी सदस्यों को, इन पांच बड़े राष्ट्रों को क्यों दिया गया ? स्यात् इसीलिए कि युद्धकाल में युद्ध का विशेष भार और उसका उत्तरदायित्व इन्हीं पर रहा और युद्धोत्तर काल में अपनी विशेष शक्तिशाली स्थिति के अनुसार शांति के उत्तरदायित्व का भार इन्हीं पर रहा। जो कुछ हो इससे यह तो स्पष्ट झलकता है कि इस प्रकार के अधिकार की व्यवस्था होते समय इन पांचों राष्ट्रों के दिल एक दूसरे के प्रति साफ नहीं थे; एक दूसरा एक दूसरे को संदेहात्मक दृष्टि से देख रहा होगा। सुरक्षा परिषद् के अन्तर्गत कई आयोग तथा कमेटियां काम करती हैं, जैसे—

(i) **अणुशक्ति आयोग**—अणु शक्ति के विध्वंसक प्रयोग पर प्रतिरोध लगाने के लिये एवम् उस शक्ति का मानव-जाति के कल्याण के लिए उपयोग करने के लिए विचार विनिमय करती रहती है और विश्व के सामने अपने सुझाव प्रस्तुत करती रहती है।

(ii) **मिलिटरी स्टाफ कौंसिल**—पांच बड़े राष्ट्रों के सैनिक प्रतिनिधि (अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, चीन और फ्रांस) इसके सदस्य होते हैं। इसका कार्य यह होता है कि सुरक्षा परिषद् का आदेश मिलने पर आक्रमक देश के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की योजना बनाये और उसको कार्यान्वित करे।

(iii) **अन्तर्राष्ट्रीय सशस्त्र सेना**—ऐसी आशा की जाती है कि राष्ट्रसंघ के समस्त सदस्य ऐसी सेना निर्माण करने में योग देंगे जो आवश्यकता पड़ने पर शांति स्थापन के लिए घोषित आक्रांता देश को दबा सके। कुछ कुछ ऐसी ही अस्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सेना का निर्माण जुलाई १९५० में कोरिया का युद्ध समाप्त करने के लिए हुआ था। कुछ इसी प्रकार की सेना नवम्बर १९५६ में मिस्र पर ब्रिटेन, फ्रांस तथा इजराइल के आक्रमण के समय तैनात की गई थी। १९६४ में साइप्रस में ग्रीक और तुर्कों के बीच संघर्ष को रोकने के लिये इस सेना को वहां तैनात किया गया।

३. **ट्रस्टीशिप कौंसिल**—चीन, फ्रांस, रूस, ब्रिटेन और अमरीका तो इसके स्थायी सदस्य हैं, तथा संरक्षित उपनिवेशों के शासक तथा उतने ही तटस्थ देश (जो न तो संरक्षित देश हैं और न संरक्षक) भी इसके सदस्य रहते हैं। इस कौंसिल का कार्य समस्त संरक्षित प्रदेशों की प्रगति देखते रहना और वहां के लोगों को उन्नत बनाने का प्रयत्न करना है।

४. **आर्थिक तथा सामाजिक कौंसिल**—जनरल असेम्बली द्वारा निर्वाचित कोई भी १८ सदस्य। कार्य—सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति के

लिये सिफारिश करना तथा इसके आधीन संगठित विभिन्न समितियों जैसे यूनेस्को (UNESCO–शैक्षणिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक संगठन), अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ, खाद्य और कृषि संगठन, विश्व स्वास्थ्य संघ, इत्यादि से सम्पर्क सम्बन्ध स्थापित करना। इसका मुख्यालय 'पीस हाउस' जेनेवा, स्विटजरलैंड में है। इसके अधिवेशन वर्ष में प्रायः दो बार होते हैं। इस कौंसिल ने विश्व के पिछड़े हुए लोगों के सामाजिक और आर्थिक जीवन को ऊँचा उठाने में अभूतपूर्व काम किया है।

५. **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय**–संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्य न्यायिक अंग है। जनरल असेम्बली तथा सुरक्षा परिषद द्वारा निर्वाचित १५ न्यायाधीश राष्ट्रों के पारस्परिक कानूनी झगड़ों को तय करते हैं।

६. **सचिवालय**—संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य कार्यवाहक दफ्तर है। इसका सेक्रेटरी जनरल सुरक्षा परिषद की सलाह से जनरल असेम्बली द्वारा निर्वाचित होता है। सेक्रेटरी जनरल का पद बहुत उत्तरदायित्व और महत्व का पद है। सेक्रेटरी जनरल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा पर आघात करने वाले सभी मामलों को 'सुरक्षा परिषद' के समक्ष रखता है तथा जनरल असेम्बली के सामने वार्षिक रिपोर्ट पेश करता है। संयुक्त राष्ट्र का स्थायी कार्यालय न्यूयोर्क में है। कार्यालय का एवं संघ के भिन्न-भिन्न अंगों का संगठन बहुत ही कुशल और सुव्यवस्थित है। कार्यालय में विश्व के चुने हुये बुद्धिमान और कुशल लगभग ५००० व्यक्ति सेक्रेटरी, अफसर, क्लर्क, इत्यादि की हैसियत से काम करते हैं। काम के ढंग से, संगठन के ढंग से, पत्रों और संवादों और प्रस्तावों के ढंग से तो ऐसा ज्ञात होता है मानो किसी विश्व–राज्य का संचालन हो रहा हो। आजकल (१९६७ जून में) बर्मा के यूथांट संयुक्त राष्ट्र के सेक्रेटरी जनरल हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ का मूल्यांकन (सफलता–असफलता)

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुए पूरे २२ वर्ष गुजर चुके हैं। इस अवधि के मध्य इसने जो महत्वपूर्ण कार्य किये वे यद्यपि संतोष की सीमा से दूर हैं फिर भी उपयोगिता और महत्व की दृष्टि से उन्हें ओझल नहीं किया जा सकता। संयुक्त राष्ट्र संघ मूल रूप से संसार को युद्ध विहीन बनाना चाहता है ताकि मानवता उन विनाशकारी परिणामों को पुनः भुगतने के लिए मजबूर न हो, जिन्हें वह विगत दो महायुद्धों द्वारा भुगत चुकी है। इसके लिए संघ ने निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों ही रूपों में कार्य किया है और अनेक अवसरों पर युद्धों का निवारण करके तथा गंभीरतम अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान करके विश्व में तृतीय महायुद्ध के सूत्रपात को भविष्य के लिए टाला है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के जन्म से आज तक की कहानी आशा और निराशा के दो छोरों के बीच झूलती रही है। आलोचकों का यह कहना कि संघ अपने प्रधान उद्देश्य–युद्धों के निवारण और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण हल करने में विफल हुआ है, अनेक समस्याओं का अभी तक समाधान नहीं कर

सका है और न ही शस्त्रीकरण की होड़ को मिटा पाया है, निःसन्देह बहुत कुछ सत्य है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि मानवीय अधिकारों और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की रक्षा करने की हामी भरने वाला संयुक्त राष्ट्र संघ आज तक दक्षिण अफ्रीकन संघ में भारतीयों और अश्वेत जातियों के साथ दुर्व्यवहार को नहीं रोक सका है, साम्यवादी चीन को न अपना सदस्य बना सका है और न ही उसकी हिंसात्मक पाशविक प्रवृत्ति पर किसी तरह का अंकुश लगा पाया है पूर्व और पश्चिम के मतभेदों को नहीं पाट सका है तथा महाशक्तियों के वैमनस्य और विरोध को नहीं मिटा सका है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने कश्मीर की स्पष्ट और सरल समस्या को उलझाया है तथा महाशक्तियों के हाथो में खेलकर आक्रान्ता और आक्रमणकारी को तराजू के दोनों पलड़ों में बैठाकर बराबर तोलने की चेष्टा की है। इतना ही नहीं, आक्रान्ता पाकिस्तान की आक्रमणकारी प्रवृत्ति पर रंचमात्र नियन्त्रण भी लगाने में यह असफल रहा है। यह महाशक्तियों के शीतयुद्ध का अखाड़ा बना हुआ है और अनेक अवसरों पर इसने अनेक देशों की स्वतन्त्रता तथा स्वाधीनता के अपहरण को कोरे एक मूक दर्शक के समान निहारा है।

परन्तु इस सबके बावजूद संयुक्त राष्ट्र संघ निरन्तर उन्नति के पथ पर बढ़ता रहा है और अपने उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में आज भी प्रयत्नशील है। विघटनकारी शक्तियां सदैव हर क्षेत्र में और हर स्थान पर विद्यमान रहती हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ भी इसका अपवाद नहीं है। लेकिन इन शक्तियों के होते हुए भी और अनेक गंभीर कमजोरियों के बावजूद भी अपने जन्म के समय से लेकर आज तक इसने अनेक गंभीर विवादों को सुलझाया है और यदि इसे कुछ विवादों पर असफलता का मुंह देखना भी पड़ता है तो वह महाशक्तियों की अडङ्गे-बाजियों के फलस्वरूप ही। संयुक्त राष्ट्र संघ ने जिन गंभीर राजनीतिक विवादों को सुलझाकर अनेक बार विश्व की बिगड़ती हुई शान्ति को संभाला है, उनमें से कुछ संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(१) १९४८ और बाद में अभी १९६७ में भी भारत-पाक संघर्ष का अन्त करके युद्ध-विराम स्थिति लाने में संयुक्त राष्ट्रसंघ सफल रहा है। यह अलग बात है कि वह काश्मीर समस्या का अन्तिम रूप से निपटारा नहीं कर सका है।

(२) सन् १९४८, १९५६ और १९६७ के अरब इजरायल संघर्षों में हर बार युद्ध को रोक कर शांति स्थापित करने में और स्थानीय युद्ध की ज्वालाओं को विश्व युद्ध के ज्वालामुखी में परिणत होने से रोकने में संघ ने निश्चित सफलता प्राप्त की है। अप्रेल १९६८ के अन्त तक यद्यपि इजरायल व अरब राष्ट्रों में स्थायी शान्ति संयुक्त राष्ट्र संघ नहीं कर पाया है किन्तु वह इसके लिए सतत प्रयत्नशील है।

(३) १९५६ में स्वेज नहर को फ्रांस और ब्रिटेन के साम्राज्यवादी नापाक इरादों से बचाने में संयुक्त राष्ट्र संघ ने सफलता प्राप्त की। स्वेज के प्रश्न पर ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल के संयुक्त आक्रमण को निरस्त करने में रूस, अमेरीका, और संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रभाव ने महत्वपूर्ण योग

दिया था।

(४) सन् १९४९ में हिन्देशिया की स्वतन्त्रता के प्रश्न को लेकर डचों और हिन्देशियायी लोगों में युद्ध की स्थिति पैदा हो गयी, लेकिन संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रभावशाली प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्देशिया को स्वतन्त्रता मिली और युद्ध नहीं हुआ।

(५) सन् १९५० में कोरिया का विनाशकारी संग्राम छिड़ गया जिसमें उत्तरी कोरिया की ओर से रूस एवं चीन तथा दक्षिण कोरिया की ओर से संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके मित्र राष्ट्र परस्पर यौद्धिक एवं राजनीतिक रूप में उलझ गये। तीन वर्ष तक यह युद्ध चला जिसमें संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना ने दक्षिणी कोरिया को साम्यवाद के लौह-शिकंजे से मुक्त रखने में सफलता पायी। अन्ततः संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रभाव से और कतिपय अन्य कारणों से कोरिया का भयानक युद्ध समाप्त हो गया।

(६) ईराक, सीरिया व लेबनान से विदेशी सेनायें हटाने में, बर्लिन के घेरे में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने में, कांगो के गृह युद्ध को समाप्त करके उसके एकीकरण के बनाये रखने में और ऐसे ही अनेक विवादों में संघ ने उल्लेखनीय सफलता अर्जित की।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से ही यह स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र ने अनेक गंभीर छोटे-बड़े राजनीतिक विवादों का समाधान करने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है। संघ के १५ वें अधिवेशन में ३ अक्टूबर, १९६० को भाषण करते हुए स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा था—

"हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि संयुक्त राष्ट संघ ने कई बार हमारे बार-बार उत्पन्न होने वाले संकटों का युद्ध में परिणत होने से बचाया है।"

डा० राल्फ बुंच ने लिखा है कि "संयुक्त राष्ट्र संघ की मुख्य विशेषता यह है कि यह राष्ट्रों को बात-चीत में व्यस्त रखता है। वे जितनी अधिक देर तक बात करते रहें, उतना ही अधिक अच्छा है क्योंकि इतने समय तक युद्ध टल जाता है।"

यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि संयुक्त राष्ट्र संघ के अस्तित्व के कारण ही बड़े-बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों के विरुद्ध, अधिकांशतः शक्ति का प्रयोग करने में हिचकिचाते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रभाव राष्ट्रों की सीमाओं से परे व्याप्त तत्वों और शक्तियों पर विशेष रूप से पड़ा है। इसने अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रसार में अपने प्रभाव का उल्लेखनीय ढंग से उपयोग किया है और अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को अधिक सबल व स्पष्ट बनाया है। इसने साम्राज्य और औपनिवेशवाद के उन्मूल में पर्याप्त सफलता पायी है। एबीसीनिया, लिबिया, सोमालीलैंड, मोरक्को, ट्यूनिसिया, टोगोलैंड आदि की स्वाधीनता इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शक्तियों के क्रूरतापूर्ण अत्याचारों की चर्चा जब संघ के रंगमन्च पर की जाती है तो उसका प्रचार अविलम्ब सम्पूर्ण विश्व में हो जाता है जिसका अनेक

बार यह प्रभाव पड़ता है कि नैतिक दबाव सैनिक शक्ति से अधिक प्रभावशील बन जाता है।

"यदि हम राजनीतिक क्षेत्र को छोड़कर सामाजिक, शैक्षणिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्र को लें तो संयुक्त राष्ट्र संघ की महान् सफलतायें हमारे सामने साकार हो उठती हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने गैर राजनीतिक कार्य में महान यश अर्जित किया है। यह कहना अत्युक्ति पूर्ण न होगा कि सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में इसने संसार की अन्य किसी भी संस्था की अपेक्षा अधिक श्लाघनीय कार्य किया। २२ वर्षों की अल्प अवधि में विश्व के सभी भागों में निवास करने वाली जनता के जीवन-स्तर को सुधारने के लिए विशाल धन राशियां व्यय की गई हैं। सिंचाई, बाढ़ नियन्त्रण, विद्युत उत्पादन, भूमि की उपज में वृद्धि सम्बन्धी लगभग ९० से भी अधिक योजनाओं पर अमल किया जा रहा है ताकि मानव जाति अकाल के खतरे से मुक्त हो सके। स्वास्थ्य, श्रम एवं चिकित्सा के क्षेत्र में इसके प्रयास स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं।

इस तरह स्पष्ट है कि अपनी विविध दुर्बलताओं और विफलताओं के बावजूद संयुक्त राष्ट्र संघ अब तक का श्रेष्ठतम अन्तर्राष्ट्रीय संघ सिद्ध हुआ है। आज इस भयाक्रान्त विश्व में यही एक मात्र ऐसी संस्था है जो अन्तर्राष्ट्रीय संबन्धों में स्थिरता ला सकती है किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि सभी क्षेत्रों में संघ की क्षमता और उसके साधनों का उपयोग बुद्धिमता तथा विवेक से किया जाए, संघ के सदस्य, विशेषकर महान राष्ट्र, चार्टर के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान रहकर उन पर क्रियात्मक आचरण करें, सभी सदस्य राष्ट्र सहअस्तित्व के सिद्धान्त पर चलें और सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र के अतिरिक्त राजनीतिक क्षेत्र में भी मानव-मन में विश्वास जमाने में संघ के उद्देश्यों में सहयोग दें। संयुक्त राष्ट्र संघ विवादों को हल करने में पूर्णतः सक्षम संस्था है, बशर्ते कि इसकी सदस्य महा-शक्तियां इसे अपना सच्चा सहयोग प्रदान करें। यदि संघ अपने मूल उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में कम प्रगति कर पाया हो तो इसका मूल कारण यही है कि यह परस्पर विरोधी महा शक्तियों के संघर्ष का अखाड़ा बना हुआ है। सितंबर १९६६ में संयुक्त राष्ट्र संघ की २१ वीं महा सभा के समक्ष प्रस्तुत की गई वार्षिक रिपोर्ट में संघ के महा सचिव ऊथान्ट ने ठीक ही कहा था कि—

"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक वातावरण में सुधार नहीं हुआ है। वियतनाम पर युद्ध के बादल बढ़ रहे हैं। काश्मीर प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के बीच खुला युद्ध यद्यपि संघ के प्रयत्नों से समाप्त हो गया तथापि वहां और अन्य स्थानों में तनावपूर्ण वातावरण कायम है। दक्षिणी अफ्रीका, दक्षिण पश्चिम अफ्रिका व दक्षिणी रोडेशिया, साईप्रस और मध्य पूर्व में सभी जगह लम्बे समय से समस्यायें मौजूद हैं जिनका हल रचनात्मक दृष्टिकोण से नहीं निकाल जा रहा है।"

महा सचिव ने अपनी रिपोर्ट में आगे स्पष्ट शब्दों में कहा कि "यदि संघ की आवश्यकता को बनाये रखना है तो हमें यह तथ्य स्वीकार करना पड़ेगा कि १९४६ के ५ बड़े राष्ट्र आज के विश्व के भाग्य निर्माता नहीं हैं और न ही वे उद्देश्यों की उस एकता से कार्य कर रहे हैं जो उनके विचारों में १९४६ में थी। आज वे आपस में विभक्त हैं जिसके कारण विश्व की समस्याओं में सामूहिक रूप से उपयोगी योगदान करने में असमर्थ हैं। इस स्थिति में उनके बीच काम चलाऊ सन्तुलन तब ही स्थापित किया जा सकता है जब कि विश्व को सुरक्षित और मनुष्य मात्र के रहने योग्य बनाने में छोटे और बड़े सभी राष्ट्र समान स्तर पर माने जायं।"

अन्त में हम संयुक्त राज्य अमेरिका के स्वर्गीय महान् राष्ट्रपति केनेडी के शब्दों में विश्व के समग्र सामान्यजनों, बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों को सम्बोधित करना चाहेंगे कि—

"इस पृथ्वी गृह के निवासी मेरे बन्धुओं! आओ, हम संयुक्त राष्ट्र संघ की इस महा सभा में अपने समस्त शान्ति मन्तव्य प्रकट करें और यह देखें कि क्या हम अपने ही जमाने में विश्व को न्यायपूर्ण तथा स्थाई शांति प्रदान करने की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं।"

पुनश्च, उन्हीं के शब्दों में—

"शांति प्रयत्न आगे बढ़ें और युद्ध के आविष्कारों को भी आगे निकाला जाए। अपनी सफलताओं की सीढ़ियों पर बढ़ते तथा विफलताओं से सबक लेते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ को वास्तविक विश्व-सुरक्षा-व्यवस्था करनी चाहिए।"

परिशिष्ठ : प्रश्न

अध्याय–२

१. अपनी पृथ्वी लगभग कितने वर्ष पहले अस्तित्व में आई होगी ?
When was our earth born ?

२. पृथ्वी पर प्राण का उदय कब हुआ होगा ?
When did life appear on the earth ?

३. पृथ्वी पर मानव प्राणी कब आविर्भूत हुआ ? मानव के निकटतम पूर्वज कौन थे ?
When did man appear on the earth ? Who were the immediate ancestors of man ?

४. अर्द्ध मानव-प्राणी की जानकारी हमें कैसे हुई ? उसके रहन-सहन का वर्णन कीजिए।
What are the sources of our knowledge of the Neanderthal and other such men ? Give an account of their life.

५. वस्तुतः हम आप जैसा वास्तविक मानव-प्राणी (Homosapiens) का आगमन कब, कहां और कैसे हुआ ?
When did the 'real man', the Homosapiens, appear on the earth and where and how ?

६. मानव के प्राचीन पाषाण युगीय और नव पाषाण युगीय सभ्यता की तुलना कीजिए।
Compare man's civilizations in the old stone and the new stone ages.

७. आदि मानव के धर्म, कला और विज्ञान के विषय में अपनी जानकारी का परिचय दीजिए।
Show your familiarity with the religion, art and science of the first men.

अध्याय–३

१. मेसोपोटेमिया की भौगोलिक स्थिति बताइए।
Describe the geographical situation of Mesopotamia.

२. सबसे प्राचीन सभ्यता कौन सी है ? इसके विषय में विद्वानों का क्या अनुमान है ?
Which is the oldest civilization ? What is the scholars' opinion about it ?

३. सुमेर की सभ्यता का निम्न शीर्षकों पर वर्णन कीजिए:—
(क) कृषि का ढंग (ख) पालतू जानवर (ग) लिपि (घ) साहित्य।

Give an account of the Sumerian Civilization on the following heads:—
(a) mode of agriculture (b) domestic animals (c) script (d) literature.

४. बेबीलोन का साम्राज्य किस प्रकार स्थापित हुआ ?
How was the Babylonian empire established ?

५. बेबीलोन लोगों का सामाजिक संगठन कैसा था ? उनको किन-किन विद्याओं का ज्ञान था ?
Give an account of the Social Organization of the Babylonians ? What arts did they know ?

६. सम्राट हमुरबी, सम्राट असुरबनीपाल और सम्राट नेबूक्राईडेजार के विषय में आपकी क्या जानकारी है ?
What do you know of Emperor Hamurabi, Emperor Asurbanipal and Emperor Neibucraidezar ?

७. निम्नलिखित पर संक्षेप में टिप्पणियां लिखिये:—
(क) गिलगमिश (ख) झूलते बाग (ग) कीलाक्षर लिपि।
Write short notes on:—
(a) Gilgmish (b) The Hanging Gardens (c) Cuneiform Script.

८. मेसोपोटेमिया सभ्यता की विशेषताएं लिखिए।
Write the characteristics of Mesopotamian Civilization.

अध्याय-४

१. प्राचीन मिस्र की सभ्यता की जानकारी के हमारे क्या साधन हैं ?
What are the sources of our knowledge of the ancient Egyptian civilization ?

२. प्राचीन मिस्र के समाज में राजाओं का क्या स्थान था ? उनकी सामाजिक स्थिति और प्राचीन बेबीलोन के सम्राटों की सामाजिक स्थिति की तुलना कीजिए।
What was the status of the kings in the ancient Egyptian Civilization ? Compare their social status with that of Babylonian emperors.

३. मिस्र के लोगों ने किन-किन प्रमुख चीजों का आविष्कार किया ?
What were the main inventions of the ancient Egyptians ?

४. प्राचीन मिस्र के धर्म, शिक्षा, साहित्य और कला के विषय में अपनी जानकारी का परिचय दीजिए।
Give an account of the ancient Egyptians' religion, education, literature and art.

५. मिस्र लोगों की वर्णमाला और लेखन विधि के विषय में तुम क्या जानते हो ?
What do you know about script and alphabets of the ancient Egyptians ?

६. मिस्री स्तूप किन्होंने बनवाये ? क्यों बनवाए ? कब बनवाए ? उनकी बन वट का वर्णन कीजिए।
Who caused the Egyptian Pyramids to be built? Why and when ? Give an account of their construction.

७. मिस्र की ममी क्या चीज है ? इसका संक्षेप में वर्णन कीजिए।
Give a short account of the Egyptian Mummy.

८. निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखिए:—
(क) इमहोतेप महान् (ख) इखनातन (ग) स्फीन्क्स (घ) रे (ङ) आइसिस।
Write short notes on:—
(a) Imhotep, the great (b) Ikhnaton (c) Sphinx (d) Re (e) Isis.

अध्याय–५

१. प्राचीन सिन्धु सभ्यता प्रकाश में कैसे आई ?
How did the ancient Indus Civilization come to light ?

२. किन लोगों ने इस सभ्यता का विकास किया था ?
Who were the people who developed it ?

३. सिन्धु सभ्यता का निम्न शीर्षकों के आधार पर संक्षिप्त वर्णन कीजिए:–
(क) रहन-सहन (ख) स्थापत्य तथा नगर निर्माण कला (ग) मूर्ति-कला (घ) भाषा व लिपि (ङ) धार्मिक विश्वास।
Give an account of the Indus Civilization on the following heads:—
(g) mode of living (b) the arts of architecture and city-building (c) sculpture (d) language and script (e) religious beliefs.

४, सिन्धु सभ्यता के देवताओं और पौराणिक हिन्दू देवताओं की संक्षेप में तुलना कीजिए।
Compare briefly the Indus Valley gods and the Hindu mythological gods.

अध्याय–६

१. भारतीय सभ्यता, संस्कृति और मानस के मूल प्रेरणा ग्रन्थ कौन से हैं?
Name the works that are the original inspiring sources of Indian civilization, culture and thought.

२. वेदों का प्रमुख विषय क्या है ?
What is the main subject of the Vedas ?

३. वेदाङ्ग साहित्य के अन्तर्गत कौन-कौन से ग्रन्थ आते हैं ?
What books are included under Vedang Sahitya ?

४. "हिन्दू धर्म एक विकासमान जीवन प्रणाली है।"–इस पर अपने विचार स्पष्ट कीजिए।

Comment upon : "The Hindu religion is a progressive way of life."

अध्याय–७

१. बौद्ध और जैन धर्म के सिद्धान्तों का अन्तर स्पष्ट कीजिये।
What is the difference between the religious tenets of Jainism and Buddhism ?

२. बौद्ध धर्म के प्रसार पर एक टिप्पणी लिखिये।
Write a note on the spread of Buddhism.

अध्याय–८

१. चीनी सभ्यता की प्राचीनता के विषय में क्या अनुमान है ?
What is thought about the oldness of the Chinese civilization ?

२. चीनी सभ्यता का निम्न शीर्षकों के आधार पर वर्णन कीजिए:—
(क) परिवार संगठन (ख) सामाजिक और आर्थिक संगठन (ग) समाज में स्त्रियों का स्थान (घ) ज्ञान-विज्ञान (ङ) काव्य और कला (च) भाषा व साहित्य।
Give an account of the Chinese civilization on the following heads:—
(a) Family organization (b) Social and economic organization (b) Status of women in society (d) Science (e) Poetry and art (f) Language and literature.

३. चीनियों द्वारा आविष्कृत चीजों के नाम बताइये।
Name the things invented by the Chinese.

४. कनफ्यूसियस और लाओत्से के विचारों में समानता और असमानता बताइए।
Compare and contrast the ideas of Confusius and Laotse.

अध्याय–९

१. प्राचीन ग्रीक लोगों के सामाजिक और राजनैतिक संगठन का वर्णन कीजिए।
Give an account of the social and political organization of the ancient Greeks.

२. "सिकन्दर के बाद यूनानी लोगों का विश्व सभ्यता पर पहले से अधिक प्रभाव था" विवेचना कीजिए।
"The Greeks after Alexander, had more influence on world civilization than they had before" Discuss.
(Raj. Board, Higher Sec. Exam. 1957)

३. "पैरीक्लीज काल" के विषय में आप क्या जानते हैं? यूनान के इति स में इस काल का क्या महत्व है ?

What do you know about the Age of Periclese? What is importance of the Age of Periclese in the history of Greece? (Raj. H. Sec. Board Exam. 1959)

अध्याय–१०

१. रोमवासियों की सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा का वर्णन कीजिए। इस क्षेत्र में उनकी विश्व को क्या देन है?
Give an account of the Social, Economic and Religious Contribution of the Romans to the world.
(Raj. Uni.-T.D C. I Yr. Exam. 1966, Raj. Board Hr. Sec. 1960)

२. "यदि रोम ने लूटमार की तो उसने विश्व को सभ्य भी बनाया।" रोम सभ्यता की मुख्य विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए इसकी कुछ दुर्बलताओं की ओर संकेत कीजिये।
"If Rome plundered, she also civilized the world" Analyse the essential features of Roman civilization and list some of its weaknesses. (Raj. Board Hr. Sec. Exam. 1958)

३. "ऑगस्टस का शासन काल एक गौरव का युग था" इस कथन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
"The Age of Augustus was a glorious age in Roman History." Discuss the statement.
(Raj. Board Hr. Sec. Exam. 1959)

अध्याय–११

१. ईरान की प्राचीन सभ्यता का निम्न शीर्षकों पर वर्णन लिखिए:—
(क) रहन-सहन (ख) बच्चों की शिक्षा (ग) समाज में स्त्रियों का स्थान (घ) आचार-विचार (ङ) कला।
Give an account of the ancient Iranian Civilization on the following heads:—
(a) Mode of living (b) Children's education (c) Status of women in society (d) Ideas on neatness and cleanliness (e) Art.

२. ईरान के उत्थान तथा पतन पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
Write a short essay on the rise and decline of Persia(Iran).
(Raj. Board Hr. Sec. Exam. 1959)

अध्याय–१२

१. यहूदी लोगों के उत्थान की कहानी संक्षेप में बताइए।
Give a short account of the rise of the Jews.

२. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए: —
(क) यहूदी धर्म-द्रष्टा (ख) यहूदी बाइबिल।
Write short notes on:—
(a) The Hebrew Prophets (b) The Old Testament.

अध्याय–१३

१. ईसा-मसीह कौन थे ? उनके धार्मिक विचारों के बारे में आप क्या जानते हैं ?
Who was Christ ? What do you know about his religious beliefs ? (Raj. Uni. I Yr. T. D. C. Exam. 1966)

२. ईसाई-मत के प्रभाव और विश्व में उसके विस्तार का वर्णन लिखिए।
Give an account of the influence of Christianity and its expansion in the world. (Raj. Uni.-Pre. Uni. Exam. 1965)

अध्याय–१४

१. इस्लाम के प्रारम्भ और विस्तार का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
Describe briefly the beginnings and expansion of Islam.

२. अरब खलीफाओं के युग में ज्ञान-विज्ञान के उत्थान का वर्णन कीजिए।
Give an account of the progress of knowledge and sciences in the days of Arab Khalifas.

अध्याय–१५

१. सामन्तवाद से आप क्या समझते हैं ? यह किन परिस्थितियों में चलाया गया था और इसका किन कारणों से पतन हुआ ?
What do you understand by the term Feudalism ? Under what circumstances was it expounded and what ultimately led to its decline? (Raj. Uni. I Yr. T. D. C. Exam. 1966)

२. "सामन्त-व्यवस्था का मध्यकालीन योरोप में बड़ा प्रचलन था।" इस व्यवस्था के गुण व दोषों पर प्रकाश डालिए।
' Feudal System had great hold on Europe during the mediaeval period." Discuss its merits and demerits.
(Raj. Uni.-P. U.C 1965)

३. मध्य युगीय योरोप में लोगों के जीवन पर ईसाई धर्म और रोम के पोप के महत्व पर प्रकाश डालिए।
Throw light on the influence of Christianity and the Pope of Rome on the life of people in mediaeval Europe.

अध्याय–१६

१. मध्य युग में ईसाई और मुसलमानों के बीच धर्म युद्धों की पृष्ठ-भूमि, घटनाओं और परिणामों का वर्णन कीजिए।
Give an account of the background events and the outcome of the Crusades between the Christians and the Muslims in mediaeval ages.

२. धर्म-युद्ध का क्या अर्थ है ? आधुनिक सभ्यता को धर्म-युद्ध से क्या लाभ हुए हैं ?
What do we mean by the Crusades ? In what ways were the Crusades of value to the modern civilization.
(Raj. Board Hr. Sec. Exam. 1958)

अध्याय–१७

१. मध्य युग में मंगोल लोगों के आक्रमण और साम्राज्य विस्तार का हाल लिखिए।
Give an account of the Mongol invasions and the expansion of their Empire in the mediaeval ages.

२. मंगोल आक्रमणों का विश्व इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा ?
What was the effect of the Mongol invasions on the world history ?

अध्याय–१८

१. सांस्कृतिक पुनरुत्थान से आप क्या समझते हैं ? यूरोप पर उसके प्रभाव का वर्णन कीजिए।
What do you understand by the Renaissance ? Account for its influence in Europe. (Raj. Uni.–Pre. Uni. 1965)

२. यूरोप में पुनर्जागृति के ऐतिहासिक कारणों पर प्रकाश डालिए।
Throw light on the historical causes of Renaissance in Europe.

३. पुनर्जागृति काल में नए-नए मार्गों एवं देशों की खोज और विश्व परिक्रमाओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
Describe briefly the discovery of new sea-routes, new countries and circumnavigations rouud the world in the age of Renaissance.

४. पुनर्जागृति युग में मनुष्य के सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक विचारों में क्या परिवर्तन आया ?
What changes occurred in the social, political and religious ideas of men during the age of Renaissance.

अध्याय–१९

१. "धर्म-सुधार पोप की सांसारिकता और भ्रष्टाचार के विरुद्ध नैतिक विद्रोह था।" इस कथन के आधार पर धर्म सुधार आन्दोलन के कारणों का वर्णन कीजिए।
"Reformation was a moral revolt against the profligacy and worldliness of the Papacy." In the light of the statement describe the causes of the reformation,
(Raj. Uni. T. D. C. I Yr. Exam. 1966)

२. प्रोटेस्टेन्ट धर्म की स्थापना में मार्टिन लूथर का क्या स्थान है ?
What is the place of Martin Luther in the establishment of Protestant religion ? (Raj. Hr. Sec. Board 1960)

३ सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप में धार्मिक युद्धों की पृष्ठभूमि में वेस्टफेलिया की सन्धि का महत्व बताइए।
State the importance of the treaty of Westphalia in the seventeenth century Europe in the background of religious wars.

अध्याय–२०

१. "फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति, फ्रान्स के सामन्तों के अत्याचारों के विरुद्ध एक क्रान्ति थी।" इस कथन पर अपने विचार व्यक्त करें।
"The French Revolution was a revolution against the outrages of the French nobles." Comment.
(Raj. Uni. T. D. C. I Yr. Exam. 1966)

२. "फ्रान्स की क्रान्ति के अनेक गम्भीर कारण थे।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
"The causes of the French Revolution were many and deep-seated." Discuss this statement.
(Raj. Hr. Sec. Board 1959)

३. फ्रान्स की राज्य क्रान्ति का उसके बाद की शताब्दियों में आज तक क्या प्रभाव पड़ा ? इसका उल्लेख कीजिये।
Trace the influence of the French Revolution on the succeeding centuries upto the present day.

अध्याय–२१

१. नेपोलियन का शासक व विजेता के रूप में वर्णन कीजिए।
Give an estimate of Napoleon as a great conqueror and administrator. (Raj, Uni.-P. U. C. 1965)

२. नेपोलियन के पतन के क्या कारण थे ?
What were the causes of the downfall of Napoleon ?
(Raj Uni.-P. U. C. 1961)

३. जन जागृति को कुचलने के लिए वियेना की कांग्रेस ने क्या कदम उठाए।
What measures were taken by the Congress of Vienna to supress public awakening ? (Raj. Uni P. U. C. 1961)

४. वियेना की कांग्रेस ने यूरोप की जो व्यवस्था की उसका वर्णन करो। इसने राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की किस प्रकार अवहेलना की ?
Describe the arrangement of Europe made by the Congress of Vienna. How did it ignore the principle of nationality ?
(Raj. Uni.-P. U. C. 1960)

अध्याय–२२

१. इटली के एकीकरण में मेजिनी, कवूर और गेरीबाल्डी ने क्या योग दिया ? इसका संक्षेप में वर्णन कीजिए।
Briefly describe the part played by Mazzini, Cavour and Garibaldy in the unification of Italy.
(Raj. Uni. T. D. C I Yr. 1966)

२. बताओ जर्मनी और इटली प्रत्येक को एकीकरण से क्या लाभ हुए ?
Describe what Germany and Italy each gained by unification ?
(Raj. Uni. P. U. C. 1961)

३. ग्रीस के स्वतन्त्रता युद्ध पर प्रकाश डालिए ।
Throw light on the Greek war of Independence.

अध्याय–२३

१. औद्योगिक क्रान्ति के क्या कारण थे ? इसका प्रारम्भ सर्वप्रथम इंगलैण्ड से ही क्यों हुआ ?
What were the causes of the Industrial Revolution ? Why it first came to England ?
(Raj. Uni. T. D. C. I Yr. 1966, Raj. Hr. Sec. Board 1960)

२. औद्योगिक क्रान्ति के क्या प्रभाव हुए ?
What were the effects of the Industrial Revolution ?
(Raj. Uni.-P. U. C. 1960, 62

अध्याय–२४

१ उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश, फ्रेन्च, डच और स्पेनिश उपनिवेशों और साम्राज्यों के विस्तार का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ।
Give a brief account of the expansion of the British, the French, the Dutch and the Spanish colonies and empires in the nineteenth century.

अध्याय–२५

१. योरोपवासी अमेरिका में कब और किस प्रकार जाकर बसे ?
When and how did the Europeans settle down in America ?

२. अमेरिका के स्वतन्त्रता-युद्ध के कारणों और घटनाओं का वर्णन कीजिए ।
Describe the causes and events of the American war of Independence.

३. अमेरिकन स्वतन्त्रता घोषणा-पत्र पर एक टिप्पणी लिखिए ।
Write a note on "the Declaration of American Independence."

अध्याय–२६

१. प्रथम विश्व-युद्ध के कारण और परिणाम क्या थे ?
What were the causes and results of the First World War ? (Raj. Uni T. D. C. I Yr. 1966, Raj. Uni.-P. U. C. 1960)

२. प्रथम विश्व-युद्ध के ठीक पहिले दुनिया की क्या स्थिति थी; इस पर प्रकाश डालिए ।
Throw light on the state of the world just before the First World War.

३. बताइए प्रथम विश्व-युद्ध से राष्ट्र संघ का उदय कैसे हुआ।
Describe how did the League of Nations emerge from the First World War.

४. वर्साई सन्धि की शर्तों की विवेचना कीजिए।
Discuss the peace terms of the Treaty of Versailles.

५. राष्ट्र-संघ से क्या समझते हो ? इसकी सफलता और असफलता का विवरण दीजिए।
What do you understand by the League of Nations ? Give a descriptive account of its achievements.
(Raj. Uni.-P. U. C. 1965)

अध्याय-२७

१. रूस की क्रान्ति की प्रगति का हाल लिखो। बॉलशेविकों के हाथ में सत्ता किस प्रकार आई ?
Describe the progress of the Russian Revolution. How did the Bolsheviks come into power ?
(Raj. Uni.-P. U. C. 1961)

२. रूसी क्रान्ति के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और वैचारिक कारणों पर प्रकाश डालिए।
Throw light on the political, social, economic and ideological causes of the Russian Revolution.

३. लेनिन ने रूसी क्रान्ति में क्या भाग लिया—इसका वर्णन कीजिए।
Trace the role played by Lenin in the Russian Revolution.

४, विश्व-इतिहास में रूसी क्रान्ति के प्रभाव का उल्लेख कीजिए।
Trace the influence of Russian Revolution in World History.

अध्याय-२८

१. मंचू राज्य वंश से आज तक की चीन की प्रगति का हाल लिखिए।
Describe the progress made by China since the days of Manchu Dynasty.

२. चीन के नव-उत्थान में सनयात्सन का क्या महत्व है ?
What is the importance of Sanyat Sen in the new awakening of China ?

३. वर्तमान काल में चीन के जागरण का वर्णन कीजिए।
Describe the rise of China in the modern age.
(Raj. Uni.-P. U. C. 1965)

४. सन् १९४९ में चीन में क्या परिवर्तन हुआ ? इसका संक्षेप में हाल लिखिए।
Describe in brief the change that occurred in China in 1949.

अध्याय-२९

१. "समस्त मानव इतिहास में किसी समय किसी राष्ट्र ने इतनी तीव्र गति

से उन्नति नहीं की जितनी कि जापान ने।" इस कथन के संदर्भ में आधुनिक काल में जापान की प्रगति का वर्णन कीजिए।
"Never in all the History of Mankind did a nation make such a stride as Japan did." In the light of the statement describe the progress of Japan in modern times.
(Raj. Uni. T. D. C. I Yr. 1966)

२. द्वितीय महायुद्ध के बाद जापान की स्थिति का वर्णन कीजिए।
Describe the condition of Japan after the Second World War.

३. निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखिए:—
(क) हाराकरी (ख) हिरोशिमा (ग) मेजी पुर्नस्थापन।
Write short notes on:—
(a) Harakari (b) Hiroshima (c) Megi Restoration.

अध्याय—३०

१. उन कारणों का विश्लेषण कीजिए जिनसे योरोप में (सन् १९१९ से १९३९ तक) दो युद्धों के बीच तानाशाही का उत्थान हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के छिड़ने में हिटलर कहां तक उत्तरदायी था?
Analyse the factors which led to the rise of dictatorship in Europe during the inter-war years [1910-1939]. To what extent was Hitler responsible for the outbreak of the Second World War? (Raj, Hr. Sec. Board 95..)

२. फासिज्म क्या है? इटली में इसके उत्थान के क्या कारण बने? मसोलीनी का इसमें क्या हाथ था?
What is Fascism? How it rise in Italy? What part did Massolini play in it?

४. द्वितीय महायुद्ध के कारण और परिणाम क्या थे?
What were the causes and results of the Second World War?

४. द्वितीय महायुद्ध के बाद विजित राष्ट्रों (इटली, जर्मनी, जापान और आस्ट्रिया) की क्या व्यवस्था बैठाई गई?
What arrangement was brought about in the conquered states (Italy, Germany, Japan and Austria) after the Second World War?

अध्याय—३१

१. संयक्त राष्ट्र-संघ के निर्माण का इतिहास बताइए।
Trace the history of the formation of the United Nations.

२. संयुक्त-राष्ट्र संघ के विभिन्न अंगों का वर्णन कीजिए।
Describe the various organs of the United Nations.

३. "संयुक्त-राष्ट्र संघ ही मानव जाति की एक मात्र आशा है।" इसको ध्यान में रखते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलताओं का वर्णन कीजिए।
"The United Nations is the only hope of mankind." In the light of this statement, give an account of the achievements of the United Nations. (Raj. Hr. Sec. Board 1958)

१३

ईसामसीह और ईसाई धर्म

[JESUS CHRIST AND CHRISTIANITY]

भूमिका

एशिया के भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों यथा इजराइल (फिलस्तीन), फीनिशिया, सीरिया में यहूदी द्रष्टाओं में एक नये ज्ञान, एक नई चेतना का विकास हुआ। ईसा पूर्व प्रायः छठी शताब्दी की यह बात है, लगभग उसी समय जब चीन में महात्मा कनफ्यूसियस और ताओ और भारत में महात्मा बुद्ध अपनी ज्ञान आभा से वहां के लोगों के मनों को एक नई चेतना से आलोकित कर रहे थे। भारत में तो बुद्ध के भी अनेक शताब्दियों पूर्व मानव, वेदों और उपनिषदों में मानसिक स्वतन्त्रता और निर्भीकता की अनुभूति कर चुका था और चीन में भी मानव, कनफ्यूसियस के पूर्व, 'परिवर्तन की पुस्तक' में सृष्टि की परिवर्तनशीलता को पहचान चुका था और प्रकृति के प्रति शरणागति भाव में शान्ति की अनुभूति कर चुका था; किन्तु पश्चिमी प्रदेशों में यहूदी द्रष्टा सर्वप्रथम मानव थे जो स्थूल देवी देवताओं के भय से मुक्त हो "एक ईश्वर" की प्रतिष्ठा कर रहे थे।

उन दिनों उपरोक्त प्रदेशों एवं मिस्र, मेसोपोटेमिया, अरब, उत्तरी अफ्रीका एवं यूरोप के भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों के लोग छोटी-छोटी समूहगत जातियों में विभक्त थे। उनके छोटे-छोटे राज्य थे, जैसे फीनिशिया, जूड़िया, इजराइल इत्यादि। इनमें एक दूसरे पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए परस्पर लड़ाइयां होती रहती थीं। साम्राज्यों की भी स्थापना हो चुकी थी यथा, बेबीलोन का साम्राज्य, मिस्र में फेरो का साम्राज्य; इन साम्राज्यों के बीच छोटे-छोटे राज्य बनते बिगड़ते रहते थे। प्राय: ६६० ई. पू. में इजराइल में यहूदी लोगों का राज्य था, डेविड और सोलोमन उनके प्रसिद्ध शासक हुवे थे, फिर बेबीलोन का सम्राट ६ठी शती ई. पू. में यहूदी लोगों को पकड़ कर बेबीलोन ले गया। उधर रोमन लोग अपने सम्राट (सीजर) की पूजा किया करते थे और जहां-जहां रोमन लोगों का राज्य था, वहां वहां सीजर के मंदिर थे और रोमन लोग अपने अधीनस्थ लोगों को सीजर की देवता के रूप में पूजा करने को बाध्य करते थे।

मिस्र, मेसोपोटेमिया, इजराइल, सीरिया, फीनिशिया, जूड़िया प्रदेशों में जहां-जहां भी जल सिंचन का प्रबन्ध था वहां कृषि और पशुपालन मुख्य उद्यम थे; पहाड़ी प्रदेशों में भेड़ बकरी चराना मुख्य पेशा था। शासकों की राजधानियों एवं व्यापारिक नगरों में कपड़ा बुनना, मिट्टी के बर्तन बनाना,

उन पर पालिश करना, चित्रांकन करना, भवन निर्माण करना, कांसा, तांबा, पीतल, सोना, चांदी इत्यादी धातुओं सम्बन्धी अनेक उद्यम, समुद्र के किनारे के प्रदेशों में जहाजरानी एवं व्यापार, इत्यादि हलचल चलती रहती थी। गांवों एवं नगरों में स्थूल देवताओं के मन्दिर थे, उनके पुजारी और पुरोहित होते थे, देवताओं को प्रसन्न करने के लिए, उनसे डरकर मन्दिरों में लोग भेंट चढ़ाते थे, देवताओं के मन्त्री पुजारियों से लोगबाग अपने भविष्य, सुख दुःख बीमारी की पूछते रहते थे, जादू-टोना करवाते रहते थे, भेंट पूजा करते रहते थे; ऐसे संकुचित मानसिक विश्वास की यह दुनिया थी। यहूदी जाति के लोगों में भी ऐसे ही विश्वास थे, किन्तु यहूदी द्रष्टाओं ने अपनी अनुभूतियों से इन मान्यताओं और विश्वासों के स्तर को ऊंचा उठाया, पर्याप्त उनमें विकास हुआ, किन्तु एक सीमा तक बढ़कर वे विश्वास भी एक परिधि में बंध गये। विकास होते होते उनके बंधे हुए जो स्थिर विश्वास बन गये थे वे ये थे कि—एक ही देव अर्थात् ईश्वर है; वह सत्य और नैतिकता का ईश्वर है, ईश्वर का एक मसीहा आयेगा और वह यरुशलम का उत्थान कर, यहूदियों को वहां स्थापित कर, उनके नेतृत्व में संसार में सुख, समृद्धि और शांति का एक राज्य स्थापित करेगा। उनकी धर्म पुस्तक बाइबिल लिखी जा चुकी थी। वे अपने ईश्वर को छोड़ और किसी देव, यहां तक कि शासक वर्ग के रोमन लोगों के सीजर—देवता की पूजा मान्य करने को तैयार नहीं थे। यद्यपि यहूदी लोग थोड़े—थोड़े अनेक प्रदेशों में फैले हुए थे, जैसे मिस्र, उत्तर अफ्रिका, ग्रीस, रोम, कार्थेज, एशिया—माइनर इत्यादी, किन्तु इन दूर-दूर रहते हुए लोगों को उनकी बाइबिल और उनका धर्म—संगठन एक सूत्र में बांधे हुए थे।

ईसा का जीवन

ऐसी सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक परिस्थितियां थीं जब जूडिया में एक अनुपम यहूदी द्रष्टा का उदय हुआ, जिससे अपने यहूदी लोगों के ही संकुचित विचार की, कि यरुशलम में यहूदियों के अधिनायकत्व में संसार में सुख समृद्धि का राज्य स्थापित होगा, धज्जियां उड़ाई; एक ऐसे साम्प्रदायिक ईश्वर की जगह जिसके लिये यहूदी लोग ही विशेष कृपा के पात्र थे, एक सार्वभौम ईश्वर की, सत्य, अहिंसा और प्रेम के ईश्वर की असंदिग्ध रूप से प्रतिष्ठापना की और मुक्त घोषणा की कि ईश्वर का राज्य अन्यत्र नहीं किन्तु मानव के मन में ही, मानव के अन्तर में ही अधिष्ठित है। तत्कालीन मानसिक विकास की स्थिति और सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए यह एक क्रान्तिकारी घोषणा थी। जिस व्यक्ति ने यह क्रांतिकारी घोषणा की, उसके उदय होने के कई शताब्दियों बाद, उसके व्यक्तित्व को केन्द्र बना कर ईसाई धर्म का संगठन हुआ, जो आज संसार के संगठित धर्मों में एक प्रमुख धर्म है। यह व्यक्ति—यहूदी द्रष्टा था, ईसा मसीह (Jesus Christ) जूडिया प्रदेश के बेतलहम (Bethelhem) नगर में इसका जन्म हुआ; कौन से सन् में जन्म हुआ यह निश्चित नहीं; कुछ विद्वानों का मत है कि ई० पू० में इसका जन्म हुआ। नासरत (Nazareth) नगर में इसने अपना बचपन व्यतीत किया, फिर युवा होने पर स्वयं अनुभूत अपने विचार अपने चारों ओर लोगों को, उन्हीं की यहूदी भाषा में कहना इसने प्रारम्भ

किया। आकर्षक इसका व्यक्तित्व होगा और सरल और मधुर इसकी वाणी क्योंकि इसकी बात को सुनने के लिए लोगों के झुण्ड के झुण्ड इसके चारो ओर एकत्र हो जाते थे। उनकी वाणी सुनकर लोगों को शांति मिलती थी, आनन्द की अनुभूति होती थी और विशेषतः गरीब, बीमार, उत्पीड़ित लोगों में एक अद्भुत आशा का संचार होता था। लोगों ने जो कि विशेषतः यहूदी ही थे समझा उनका मसीहा आया है; यहूदियों के पूर्वज अबराहम को जो वायदा ईश्वर ने दिया था कि एक मसीहा आयेगा और वह यरुशलम में यहूदी राज्य पुनः स्थापित करेगा; लोगों ने समझा कि ईश्वर का वायदा पूरा हो रहा है।

धन-ऐश्वर्य से बिल्कुल विरक्त, गरीब लोगों के यहां भिक्षा से अपना पेट भरते हुए, इस प्रकार घूमते-फिरते युवावस्था में ईसा सन् ३० ई. में जब रोम का सम्राट टिबेरस था और इजराइल (फिलस्तीन) में रोमन गवर्नर पोंटियस पाइलेट का शासन यरुशलम नगर में प्रविष्ट हुआ। उसके अनेक भक्त और अनुयायी उसके साथ थे। सबको यही विश्वास था कि यह अनुपम व्यक्ति यरुशलम में नये राज्य की स्थापना करेगा, उसकी आलौकिक शक्ति में उन्हें किंचित मात्र भी संदेह नहीं था।

ईसा यरुशलम में प्रविष्ट हुआ, यरुशलम के लोगों ने (यहूदियों ने) उत्साहपूर्वक उसका स्वागत किया, एक भीड़ उसके चारों ओर एकत्र हो गई और इस भीड़ और अपने भक्त अनुयायियों के साथ वह सीधा यरुशलम में यहोवाह के मन्दिर (यहोवाह यहूदी ईश्वर का नाम) के द्वार पर गया। वहां व्यापारी लोग मन्दिर के देवता में विश्वास करने वाले लोगों से अपनी मेजों पर पैसे गिनवा-गिनवा कर अपने पिंजड़ों में से फाख्ताओं को मुक्त कर रहे थे; लोगों का विश्वास था कि ऐसे फाख्ताओं को मुक्त करवाने से 'देवता' प्रसन्न होता है। ईसा ने पहला काम यही किया कि इन व्यापारी लोगों की मेजों को उलट दिया और अन्धविश्वासी लोगों को ताड़ना दी। एक सप्ताह तक जगह जगह पर घूम घूम कर अपनी मुक्त वाणी लोगों को सुनाता रहा; अनुयायियों को भरोसा रहा, नया राज्य स्थापित होने वाला है, किन्तु उधर यहूदी धनी पुजारी लोग, अपने प्राचीन विचारों और मान्यताओं में आरूढ़, समझने लगे कि ईसा तो उनकी ही गद्दी उखाड़ फेंकने आया है, वह उनकी बाइबिल (यहूदी बाइबिल) में निर्देशित किसी भी आचार का पालन ही नहीं करता और रोमन अधिकारी समझने लगे ईसा राज्य-क्रान्ति करने आया है। अतएव यहूदियों के पुजारियों ने ईसामसीह के विरुद्ध रोमन राज्याधिकारियों से शिकायत की, रोमन शासकों के प्रति अपनी राज्य-भक्ति का परिचय दिया। रोमन शासक ऐसा चाहते ही थे, तुरन्त उन्होंने शिकायत पर गौर किया और एक दिन यरुशलम के जेथेस्मेन बाग में ईसा पकड़ लिया गया; रोमन कोर्ट के सामने उसकी पेशी हुई, यहूदियों के बड़े पुजारी केफस ने आरोपकारियों का नेतृत्व किया और रोमन गवर्नर पोंटियस पाईलेट ने ईसा को फांसी की सजा सुनाई। ईसा के भक्त और अनुयायी ईसा को छोड़ गये, अकेला ईसा फांसी का क्रोस उठाये, थका, भूखा, प्यासा, लड़खड़ाता हुआ यरुशलम की गोलगोथ नामक पहाड़ी पर पहुँचा जहां उसे सूली पर चढ़ाये जाने को था; ईसा को सूली पर चढ़ा दिया गया और अन्तिम पलों में एक बार वह चिल्लाया 'मेरे

ईश्वर, मेरे ईश्वर, क्यों तुमने मुझको विसार दिया है !' और वह मर गया। इस प्रकार अन्त हुआ उस अनुपम व्यक्ति, यहूदी द्रष्टा, ईश्वर के भक्त, ईसा मसीह का।

इस प्राकर की है ईसामसीह की जीवन कथा जिसकी झांकी हमें केवल ईसाईयों की धर्म पुस्तक वाइविल (New Testament) के प्रथम चार गोस्पल्स (Gospels), अध्यायों में मिलती है, जो ईसा की मृत्यु के ५०-६० वर्ष वाद लिखे जा चुके थे। जीवन के उपरोक्त ऐतिहासिक तथ्यों के अलावा और किसी ऐतिहासिक तथ्य या घटना का पता नहीं लगता। युवावस्था में ईसा ने जव जूड़िया प्रदेश के गेलीली प्रान्त में अपनी वाणी कहना प्रारम्भ किया था उसके पहले उसने अपना जीवन कहां और कैसे विताया इस सम्वन्ध में कोई भी वातें निश्चित ज्ञात नहीं हैं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि गेलीली में उपदेश देना प्रारम्भ करने के पहिले ईसा ने ईरान, मध्य एशिया, यहां तक कि उत्तर पच्छिम भारत में भी भ्रमण किया था, जहां उस समय प्रसिद्ध तक्षशिला विश्वविद्यालय था और जहां दूर दूर देशों के विद्यार्थी पढ़ने आते थे। यहीं पर बुद्ध और हिन्दू धर्म के प्रभाव उस पर पड़े थे, कई यूरोपीय विद्वान कहते हैं कि उत्तर-कालीन हिन्दू धर्म में जिस भक्तिभाव का संचार हुआ वह ईसामसीह का ही प्रभाव था। किन्तु इस विषय में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, ये केवल अनुमान मात्र हैं और अनुमान भी ऐसे जिनका आधार वहुत कमजोर है। वैसे उनकी जीवन सम्वन्धी धार्मिक गाथायें तो अनेक प्रचलित हो गई हैं, जैसी प्रत्येक धर्म संस्थापक के सम्वन्ध में उनके धर्मानुयायियों में प्रचलित हो जाया करती हैं। उदाहरण स्वरूप—ईसा का कोई पिता नहीं था। अलौकिक रूप से वह 'माता मेरी' के गर्भ से पैदा हुआ; उसके दफनाये जाने के वाद उसका शरीर कब्र में नहीं मिला, वह तो सीधा स्वर्ग में चला गया था, इत्यादि। कई हिंदू लेखकों ने जिनका 'अवतारवाद' में विश्वास है, अवतार की यह सबसे बड़ी विशेषता वतलाते हुये कि अवतारी पुरुष के व्यक्तित्व में वाह्य या आन्तरिक किसी भी प्रकार का द्वन्द्व या विरोध नहीं होता, ईसा को ईश्वर का अवतार माना है। किन्तु वाइविल सम्वन्धी साहित्य के अधिकारी विद्वानों ने स्वयं कहा है कि चाहे वह ईश्वर का पुत्र रहा हो, किन्तु आज्ञापालन का पाठ तो उसने वास्तविक जीवन के कई अनुभवों के वाद ही सीखा एवं ईश्वर के सामने अन्तःकरण की इस सहज समर्पण एवं पूर्ण शरणागति की स्थिति तक कि जब वह चिल्ला उठा 'तेरी इच्छा, मेरी इच्छा नहीं' अनेक दर्दपूर्ण अन्तर्द्वन्द्वों के उपरान्त ही पहुंच पाया था। इससे यही अनुमान लगता है कि ईसा का एक मानवीय व्यक्तित्व था जो स्वयं अनुभूत भावनाओं और विचारों में से गुजरता हुआ 'मुक्त चेतना' की स्थिति तक पहुंचा था और तब उसने निर्भय मुक्त स्वर से मानव को कहा था।

ईसा का उपदेश

परमात्मा एक है जो हम सवका दयालु पिता है और हम सव उसके समान भाव से पुत्र, एतदर्थ हम सव मानवप्राणी समान भाई भाई। 'ईश्वर

का राज्य' इस संसार में स्थापित होगा। एक ईश्वरीय राज्य प्रत्येक प्राणी के अन्तर में भी स्थित है; अपने अन्तर में प्रत्येक प्राणी इसकी अनुभूति करे– इसको प्राप्त करे।

ये बातें किसी दूसरे से सीखी हुई नहीं थी, पुस्तकों में पढ़ी हुई नहीं थीं, विद्वानों के साथ वादविवाद करके ईसा की बुद्धि ने ये बातें ग्रहण नहीं की थीं वरन् ये बातें थीं स्वयं अनुभूत, मानो स्वतः ही ईसा के अन्तर में प्रकाशित हो उठी हों और ईसा का अन्तर इन प्रकाश की किरणों को खिलते हुए कमल की तरह आत्मसात कर गया हो। इसीलिए उनकी वाणी आकर्षक थी, सच्ची। इसीलिए उसकी वाणी बार बार दबाई जाने पर भी युग युग में फिर फिर मुखरित हो उठती है।

पच्छिमी प्रदेशों में उन लोगों के लिए जिनको यह वाणी सुनवाई गई एक अभूतपूर्व क्रांतिकारी वाणी थी। उन्होंने कभी नहीं सुना था कि ईश्वर का राज्य मानव के अंतस् में ही स्थित है और मानव स्वयं अपने अंतस् में ही उस ईश्वरीय राज्य को प्राप्त करे; त्याग, सेवा, प्रेम और अहिंसा के व्रत को अपनाते हुए, सम्पूर्णतः अपने आपको ईश्वर में समर्पित करके एवं ईश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा मिलाकर। यह एक संदेश था कि मानव एवं ससार का कल्याण इसी में है, ईश्वर राज्य (राम–राज्य) की स्थापना तभी हो सकती है जब प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना सुधार करले। इस संदेश की तुलना कीजिए आज २०वीं शताब्दी के महानतम विज्ञानवेत्ता आइनस्टाइन के शब्दों से। एक प्रश्न के उत्तर में कि किस प्रकार मानव और समाज का नैतिक स्तर ऊंचा किया जा सकता है, आइनस्टाइन ने कहा था—"कोई सामान्य तरीका नहीं हो सकता। प्रत्येक पुरुष या स्त्री अपने आपको सुधारना प्रारम्भ करे। आजकल हम त्याग की अपेक्षा सफलता को अधिक महत्व देते हैं। इसलिए लोग महत्वाकांक्षी हो गये हैं। यह महत्वाकांक्षा ही मानव की सबसे बड़ी शत्रु है। हमें धन एकत्र करना नहीं किन्तु सेवा करना सीखना चाहिए।" यही क्राइस्ट की स्पिरिट है। ईसा का संसार त्याग का संसार है, सेवा का संसार है, एक दूसरे के प्रति संवेदनात्मक अनुभूति का संसार है।

ईसा की विशालता में संकुचितता को स्थान नहीं; ईश्वर सार्वभौम है, वह केवल यहूदियों का ईश्वर नहीं। यहूदी यह बात तो मानने लग गये थे किन्तु उन्होंने ईश्वर को सौदागर देवता भी समझ रखा था, जिसने यहूदियों के पूर्वज अबराहम से यह वायदा किया था कि वह यहूदी राज्य और यहूदी गौरव को पुनः स्थापित करेगा। ईसा ने बतलाया कि ईश्वर को कोई विशेष जाति या देश या राष्ट्र प्रिय नहीं, उसके सम्मुख सब बराबर हैं। ईश्वर के राज्य में (राम राज्य में) किसी को भी कोई विशेष अधिकार, कोई विशेष रियायत या छूट नहीं। ईसा अपनी बातों को, अपने भावों को छोटी छोटी कहानियों के रूप में प्रकट किया करता था, वह ढंग ऐसा था जो सीधा हृदय पटल पर जाकर अपने आप अंकित हो जाता था। ईसा ने बतलाया कि मानव हृदय में जब ईश्वर के प्रति प्रेम उमड़ पड़ता है तो उसके सामने

भाई, बहन, माता, पिता का कोई सम्बन्ध नहीं ठहरता, इन सब सम्बन्धों को भूलकर वह केवल ईश्वर प्रेम के अथाह सागर में अवगाहन करने लग जाता है।

धन, वैभव, लालच और लोभ ईश्वर के साम्राज्य तक पहुंचने में बहुत बड़े बाधक हैं। उसने कहा, "एक ऊंट के लिए यह आसान है कि वह सुई के छिद्र में से पार हो जाय, किन्तु एक धनी के लिये संभव नहीं कि वह "ईश्वर राज्य" में प्रवेश पा सके।" फिर ईसा ने धज्जियां उड़ाईं ऐसी भावनाओं की जो बाह्य आचार, विचार एवं परम्पराओं में ही धर्म की स्थिति मानते हैं। वास्तविक धर्म बाह्याचार में नहीं, वह तो केवल ढोंग मात्र है; वास्तविक धर्म स्थित है, मानव हृदय की भावना में अंतस् के सत्य में।

ऐसी दुनिया में (विशेषतः पश्चिमी प्रदेशों में यथा, फिलस्तीन, सीरिया, एशिया-माइनर, मेसोपोटेमिया, अरब, मिस्र में) जहां ईसा के प्रायः १० हजार वर्ष पूर्व से ईसा के आगमन काल तक, यहूदी द्रष्टाओं के उपदेशों के उपरान्त भी लोग स्थूल, देवी देवताओं के भय में त्रासित थे, पुजारी और पुरोहितों के जादू टोणे और भविष्यवाणियों के चक्कर में फंसे हुए थे, जो निडर हो स्थूल देवी देवताओं के अज्ञानांधकारपूर्ण भावनाओं को ध्वस्त नहीं कर सके थे, जहां धर्म में देव के प्रति प्रेमानुभूति नहीं किन्तु भयानुभूति होती थी, एक ऐसी वाणी का उदय होना जो 'एक' दयालु परमात्मा की स्थापना करती थी, जो ईश्वर का स्थान मन्दिर या कोई अन्य लोक नहीं किन्तु मानव अन्तर में ही बतलाती थी, जो व्यक्तिगत प्रेम, सत्य और भ्रातृत्व में ही ईश्वरत्व निहित मानती थी, सचमुच मानव इतिहास में एक क्रांतिकारी वाणी थी; "मानव चेतना" के उच्च विकास की द्योतक। माना सब प्राणी इस उच्चतर चेतना की उपलब्धि नहीं कर सके, किन्तु उनको इस बात का ज्ञान अवश्य हुआ कि मानव चेतना का इतना उच्चतर विकास संभव है।

मानव की कहानी में ईसामसीह एक ज्योति है जो भ्रांतिपूर्ण धार्मिक मान्यताओं से जकड़े हुए मानस को विमुक्त करती है और समाज को यह आश्वासन देती है कि इसी संसार में रामराज्य स्थापित होगा और मानव अपने अंतस् में ही ईश्वर के दर्शन करेगा। यह ज्योति युग-युग तक मानव को उस अन्धकारमय काल में, उसकी निःसहाय घड़ियों में एक सहारा देता रहेगा।

ईसाई धर्म की स्थापना और प्रसार

जब ईसा को पकड़ लिया गया था, उसी समय उसके अनुयायियों, भक्तों और मित्रों ने उसको बिसार दिया था। रोमन कोर्ट में पेशी के वक्त अनेक उसके तथाकथित भक्त ही उसका विरोध कर रहे थे। ईसा अकेला था। गोलगोथा पहाड़ी पर, संध्या वेला में ईसा को सूली पर चढ़ा दिया गया; उस दृश्य को देखने तक के लिए कुछ थोड़े से मित्रों और कुछ दुखित बुढ़िया स्त्रियों के अतिरिक्त कोई नहीं था। एक साधारण सी यह घटना

हुई, उस समय के इतिहास में इसका कोई महत्व नहीं था। जैसे और अपराधी लोग सूली पर चढ़ा दिये जाते थे और उनकी मृत्यु हो जाती थी, वैसे ही ईसा की मृत्यु हो गई। किन्तु कुछ ईसा के चेले जो अपने मसीहा की मृत्यु को इतना साधारण सा समझना गवारा नहीं कर सकते थे, कहने लगे कि ईसा का शरीर कब्र में से जगकर उठा और आकाश में से होता हुआ ईश्वर के पास पहुंच गया। फिर उनमें कहानी फैलने लगी कि ईसा फिर इस दुनिया में आयेगा और मानव जाति का न्याय करने बैठेगा। संभव है, ईसा के इन भक्तों का ऐसा कहना उनकी तीव्र श्रद्धा भावना के फलस्वरूप हो एवं उनके मानस पर प्राचीन जादू टोना सम्बन्धी मान्यताओं का प्रभाव हो, वह ग्रीक दृष्टि जो वस्तुओं और घटनाओं का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेपण किया करती थी, इन लोगों के पास नहीं थी।

अतएव ईसामसीह की वास्तविक वाणी और ऐसी मान्यतायें एक साथ घुल मिल गईं। ईसा के ये भक्त अपना जीवन सचमुच बहुत ही सरलता और सच्चाई के साथ विताते थे, सरल प्रेम भावना उनके हृदय में वास करती थी, किन्तु उनके धार्मिक विश्वास उपरोक्त कल्पित कहानियों के आधार पर बनते जा रहे थे। ईसा के सूली पर चढ़ जाने के बाद, लगभग ६०–७० वर्षों में ईसाईयों की बाइबिल (New Testament) के वे प्रथम चार अध्याय जिन्हें गोसपल्स (Gospels) कहते हैं लिखे जा चुके थे। इन्हीं गोसपल्स में ईसा के जीवन की घटनाओं का वर्णन है एवं ईसा की वाणी या ईसा के उपदेश संगृहीत हैं। यह बात सत्य है कि इन गोसपल्स में प्राचीन मान्यताओं के फलस्वरूप एवं श्रद्धा भावना से प्रेरित होकर अनेक अनैतिहासिक बातें आ गई हैं एवं ईसा की सब वाणी या उपदेश सर्वथा उसी रूप में जिस रूप में वे ईसा के मुंह से उच्चरित हुए थे संगृहीत नहीं हैं, किन्तु फिर भी ईसा की भावना और ईसा की आत्मा हमें उन सरल कवित्वमय गोसपल्स में शुद्ध रूप से झलकती दिखलाई देती है। अनेक काल्पनिक बातें होते हुए भी उनमे वास्तविक वस्तु और सत्य छिप नहीं पाया है।

ईसा के ये साधारण भक्त ही ईसा के सन्देश को सर्व प्रथम अपने आसपास के लोगों में, जूडिया और सीरिया में ले गये। उस समय फिलस्तीन, सीरिया, एशिया-माइनर, उत्तरी अफ्रीका, ग्रीस, स्पेन, इटली इत्यादि प्रदेशों में रोमन सम्राट का साम्राज्य था, सब धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन उन्हीं के बनाये हुए नियमों के अनुसार चलता था। नगरों में रोमन देवताओं और रोमन सम्राटों के मन्दिर थे जिनकी पूजा सबको करनी पड़ती थी और जिनके आगे सबको सिर झुकाना पड़ता था। रोमन शासक सब ऐश्वर्य और ठाटबाट से रहते थे, बाकी अनेक लोगों की स्थिति गुलामों जैसी थी। ऐसी सामाजिक परिस्थितियों में ईसा के ये प्रारम्भिक भक्त ईसा का सन्देश लोगों में फैलाने लगे। अभी तक ईसा के उपदेशों से किसी संगठित धर्म की स्थापना नहीं हो पाई थी।

इसी समय एक अन्य उपदेशक का आगमन हुआ। जन्म से वह यहूदी था और उसका यहूदी नाम "साल" था। इसका रोमन नाम पाल (?-६७ ई.)

हुआ। ईसा का नाम सुनने के पहिले से ही वह एक धार्मिक शिक्षक था और उस काल में यहूदी, ग्रीक और रोमन लोगों में प्रचलित धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों का उसे खूब ज्ञान था। वह ईसा मसीह के जीवन काल में उपस्थित था किन्तु ईसा को उसने कभी देखा नहीं था। ईसा के आदि अनुयायियों के सम्पर्क में आने के बाद वह स्वयं भी ईसा का भक्त बन गया, किन्तु उस समय में प्रचलित अन्य मान्यताओं के आधार पर एवं कई अपने मौलिक विचार लेकर उसने ईसा के आदि उपदेशों को अपना ही एक संगठित रूप दिया और इस प्रकार संगठित ईसाई धर्म की स्थापना की। ईसाई धर्म के तत्व तो ईसा की वाणी में ही निहित थे, किन्तु उनको संगठित सामाजिक रूप देकर एक मत के रूप में प्रतिष्ठापन करने का काम पाल ने किया जो संत पाल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ईसाई बाइबिल के उपरोक्त चार गोसपल्स के अन्त में कुछ और अध्याय हैं जिन्हें ऐपिसट्ल्स, एक्ट्स कहते हैं, इन्हीं में पाल के विचार संगृहीत हैं। ईसाई धर्म के सबसे प्राचीन लिखित आगम ईसवी सन् दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ के मिलते हैं। ये हस्तलिखित पन्ने हैं जो मिस्र के पेपीरस पत्रों पर लिखे हैं। संगठित ईसा धर्म में ईसाई धर्म के पूर्वकाल में प्रचलित मन्दिर, बलि, वेदी, भेंट चढ़ाना, पुजारी, पुरोहित आदि रस्मों का समावेश हुआ, चाहे भिन्न रूप में ही सही। मन्दिर के स्थान पर गिरजाघर आया, पुजारी पुरोहित के स्थान पर पादरी, मूर्ति की जगह क्रोस (+)। सन्त पाल ने यह बतलाया कि ईसा का सूली पर चढ़ाया जाना तो ईश्वर की वेदी पर मानव के पापों के प्रायश्चित स्वरूप एक बलिदान था। इस प्रकार संगठित ईसाई धर्म का उपदेश उसने जगह-जगह पर घूम कर दिया और ऐसा माना जाता है कि उस काल में ईसाई धर्म के प्रचार में उसी का हाथ सबसे जबरदस्त था। उसकी मृत्यु के बाद ईसाई धर्म का रोमन साम्राज्य के साधारण लोगों में धीरे-धीरे प्रसार होता गया। ईसा की दो शताब्दियों तक किस प्रकार इसका प्रसार हुआ, यह बहुत कम ज्ञात है। किन्तु इतना निश्चित है कि अन्य लोगों के धार्मिक आचार-विचारों में और इन लोगों के धार्मिक आचार-विचारों में परस्पर विनिमय होता रहा। अनेक गिरजाघर बनते रहे और क्रमवार पदाधिकारी पादरी लोग उनका सञ्चालन करते रहे। इसके साथ ही साथ चौथी शताब्दी में स्वयं ईसाईयों में ईसा की वाणी को लेकर जो गोसपल्स में संगृहीत थीं और जो ईसा की सूली के बाद ६०–७० वर्षों तक संगृहीत हो चुकी थीं, अनेक झगड़े और वाद-विवाद होने लगे। ये झगड़े और वाद-विवाद यहां तक बढ़े थे कि परस्पर हिंसात्मक लड़ाइयां होती थी, हत्याएं होती थीं, विरोधियों को जला दिया जाता था, इत्यादि। ईसा ने कहा था—"मैं परमात्मा का पुत्र हूँ और मानव का पुत्र भी।"—इसी बात को लेकर प्रश्न उठने लगे, क्या ईसा स्वयं ईश्वर था या ईश्वर ने उसको रचा था? कोई ईसाई धर्मज्ञ कहने लगे ईसा ईश्वर से छोटा था, किन्हीं धर्मज्ञों ने पिता पुत्र और पवित्र दूत (Holy Ghost) की कल्पना प्रस्तुत की और कहने लगे ये तीन भिन्न-भिन्न प्राणी थे, किन्तु एक परमात्मा। इन्हीं प्रश्नों को लेकर वाद-विवाद में अनेक दार्शनिक विचार भी प्रकट हुए। अन्त में यह सिद्धान्त कि पिता (ईश्वर), पुत्र (मानव), होली घोस्ट या होली स्प्रिट सब एक ही परमात्मा में समाहित हैं, स्वीकार कर लिया गया था।

शासनारूढ़ किया। शोगुन शासन-प्रणाली का अन्त हुआ और सम्राट समस्त जापानी शक्ति का प्रतीक बना। यह घटना सन् १८६८ ई. की है जो जापानी इतिहास में मेजी पुनर्स्थापन (Megi Restoration) के नाम से प्रसिद्ध है। इस समय जो सम्राट शासनारूढ़ हुआ उसका नाम मुतसुहितो था और वह मेजी नाम से प्रसिद्ध था।

सन् १८६८ ई० में मेजी पुनर्स्थापन के बाद जापान का इतिहास मानो मूलत: बदल गया। इतिहास की गति तीव्र हुई और समस्त जापानी राष्ट्र पश्चिम के प्रति एक बदले और विरोध की भावना से उत्तेजित हो आगे कदम बढ़ाने लगा। अभूतपूर्व तेज इसकी रफ्तार हुई और उसी शस्त्र से जिससे यूरोपीय देशों ने इसको चिढ़ाया था, इसने यूरोप को परास्त करने का संकल्प किया। समस्त देश ने मिल कर यान्त्रिक आधार पर तुरन्त औद्योगीकरण किया, आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस एक बहादुर फौज खड़ी की बड़े बड़े आधुनिक जहाज बनाये और एक विचक्षण नौसेना तैयार की। जितनी औद्योगिक उन्नति यूरोप १०० वर्षों में भी नहीं कर पाया था उतनी उन्नति जापान ने बहुत ही कुशल ढंग से केवल ३०-३५ वर्षों में कर ली। जापान क्या नहीं बनाने लगा ? साइकल, मोटर, जंगी जहाज, हवाई जहाज, रैडार, कैमिकल्स, कागज, कपड़े, हर प्रकार की मशीनें, घड़ियां, बिजली का सामान, रेडियो और टेलीविजन। संसार के इतिहास में किसी देश ने इतने कम समय में इतनी उन्नति नहीं की।

जापान अब तैयार था। सशक्त होकर खड़ा था, मध्य-युग के अंधियारे से निकलकर आधुनिक युग के प्रशस्त पथ पर खड़ा था। यूरोपीय देशों की भांति उसने भी अब आर्थिक विजय के लिए कूच प्रारम्भ की। सन् १८६४-६५ में पहला चीन–जापान युद्ध हुआ। चीन को अपना फारमूसा द्वीप जापान को सौंपना पड़ा और कोरिया पर से अपने अधिकारों को तिलांजली देनी पड़ी। सन् १६०४–५ में युरोप के विशाल देश रूस से इस छोटे से द्वीप जापान की लड़ाई हुई। जापान ने रूस को परास्त किया। दुनियां में जापानी शक्ति का सिक्का जमा और कोरिया जापान के आधीन हुआ। फिर जापान के प्रधान-मंत्री जनरल तनाका ने अपने देश और सम्राट को जचाया कि विश्व में जापान की पताका फहराने के लिए पहिले आवश्यक है कि जापान मंचूरिया पर विजय प्राप्त करे। एतदर्थ जापान ने सन् १६३१ मे मंचूरिया की राजधानी मुकदन पर चढ़ाई की और तुरन्त समस्त देश को हस्तगत किया।

विजय यात्रा प्रारम्भ हुई—१६३८ का अन्त होते-होते चीन के समस्त सामुद्रिक तट और प्रमुख नगरों पर अपना प्रमुत्व स्थापित किया, और फिर १६३६ में संसार व्यापी द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ;—जबकि जर्मनी तो तीव्र गति से यूरोप को पदाक्रांत कर रहा था, जापान पूर्व में नई व्यवस्था (New order), कि एशिया के समस्त प्रदेश जापान के नेतृत्व और संरक्षण में रहें, स्थापित करने में संलग्न हुआ। १६४१ में थाईलैंड पर कब्जा किया और प्रशांत महासागर के पर्लहार्बर में स्थित अमेरिका के अपराजेय जंगी जहाजी बेड़े को नष्ट भ्रष्ट किया; इतना कि एक बार तो अमेरिका का दिल

दहल गया। फिर क्या था ? समस्त सुदूर पूर्वीय देश एक के बाद दूसरे जापानी साम्राज्य के अन्तर्गत आने लगे; जापान ने फिलिपाइन द्वीप से अमेरिका को खदेड़ा; हिंदेशिया (सुमात्रा जावा, बोर्नियो इत्यादि) और न्यूगिनी से डच लोगों को, हिन्द चीन से फ्रांस को, मलाया और बर्मा से ब्रिटेन को, यहां तक कि वह भारत के द्वार खटखटाने लगा था, और फिर अन्त में विशाल देश चीन के प्रमुख भूभाग पर अपना अधिकार जमाया। अभूतपूर्व यह विजय थी और अभूतपूर्व किसी साम्राज्य का विस्तार।

किन्तु सन् १९४५ में युद्ध ने पलटा खाया। नवीनतम आविष्कृत एक प्रलयकारी शस्त्र अमेरिका के हाथ लग गया था,--वह शस्त्र था अणुबम। संसार के इतिहास में सर्वप्रथम इन महाविनाशकारी बमों का प्रयोग जापान के दो नगरों—हिरोशिमा और नागासाकी पर हुआ—सैकड़ों मीलों तक तरु, पल्लव, जीव, मानव सब साफ हो गए, लाखों जापानी मानव अचानक विनिष्ट हो गए। इस घटना ने जापान की पीठ तोड़ दी और अपने हथियार डालकर उसे मित्र राष्ट्रों (ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, रूस) से संधि करने के लिए विवश होना पड़ा। सन् १९४६ में मित्र राष्ट्रों की तरफ से अमेरिका के सेनापति जनरल मैक आर्थर की अध्यक्षता में जापान में अंतरिम सैनिक राज्य स्थापित हुआ–उस समय तक के लिए जब तक जापान के साथ कोई स्थाई संधि नही हो जाती और जापानी स्वयं मित्र राष्ट्रों की इच्छा और जनतांत्रिक आदर्शों के अनुकूल अपना प्रबन्ध स्वयं करने के लिए तैयार नहीं हो जाते।

जनतांत्रिक सिद्धान्तों पर आधारित देश के प्रशासन के लिए १९४६ में एक संविधान तैयार किया गया। युगों से चली आती हुई सम्राट की प्रभुसत्ता को समाप्त किया गया यद्यपि राज्य और राष्ट्र की एकता के प्रतीक के रूप में सम्राट को स्वीकार कर लिया गया। सन् १९४७ में नये संविधान के अनुसार प्रथम चुनाव हुए और देश का शासन चलने लगा—किन्तु अभी तक अमेरिका की देख-रेख में। फिर १९५१ में सम्बन्धित राष्ट्रों के साथ जापान ने स्थाई संधि पर हस्ताक्षर किए, १९५२ में अमेरिका ने अपने आपको वहां से हटा लिया, केवल अपने कुछ सैनिक अड्डे वहां पर रखे "किसी बाहरी हमले से देश की रक्षा के लिए।"

जापान मुक्त हुआ, किन्तु अमरीकी डालर और अमरीकी जीवन शैली का देश में प्रसार है। बाहर से तो जापान शांत मालूम होता है और अमरीकी प्रभाव और मित्रता से प्रसन्न किन्तु कौन जाने उसकी जन्मजात और पुरानी घोर राष्ट्रीयता कब फूट पड़े।

३०

द्वितीय महायुद्ध [१९३९-१९४५]

[SECOND WORLD WAR]

प्रथम महायुद्ध के बाद विश्व की हलचल

एक देश, एक जाति, एक भाषा, एक धर्म, एक रहन-सहन के आधार पर जिस राष्ट्रीयता की भावना का प्रथम अनुभव यूरोप के लोगों ने १६वीं-१७वीं शताब्दी में किया और जिसका तीव्र रूप १९वीं शताब्दी मे विकसित हुआ और जो अन्त में प्रथम महायुद्ध के रूप में फूट कर निकली, उसी राष्ट्रीयता की भावना की जागृति प्रथम महायुद्ध के बाद एशियाई लोगों में भी होने लगी और उसका खूब विकास हुआ। वस्तुतः महायुद्ध विश्व में एक ऐसी घटना हुई थी जिसने पूर्व के भी सोये हुये देशों को झकझोर दिया था और उनको यूरोप के प्रति सचेष्ट कर दिया था। प्रथम महायुद्ध के ठीक पहिले और बाद प्रायः समस्त एशिया पर यूरोप वालों का या तो राज्य था या जिन कुछ देशों में राज्य नहीं था वहां उनका आर्थिक दबाव। राष्ट्रीयता की भावना विकसित होने के बाद प्रत्येक एशियाई देश में यूरोपीय राज्य से, यूरोपीय राज्य-भार से या उनके आर्थिक दबाव से मुक्त होने की चेष्टाएं होने लगीं। इन चेष्टाओं ने कई देशों में उग्र रूप भी धारण किया। यहां तक कि कई आतंकवादी विद्रोह हुए यद्यपि उन सबको यूरोपीय शासकों ने अपनी मशीनगन और संगीन की शक्ति से दबा दिया। ठीक है एशियाई देशों के अपनी स्वतन्त्रता के लिये ये प्रयत्न एकदम सफल नहीं हो पाये किन्तु एक भावना जागृत हो चुकी थी और एक चिनगारी लग चुकी थी। मध्य युगीय एशिया यूरोप के ही पद चिन्हों में, प्रथम महायुद्ध के बाद, आधुनिकता की ओर अग्रसर होने लगा था। जापान में ऐसा हुआ, चीन में ऐसा हुआ, भारत में ऐसा हुआ एवं अन्य एशियाई देशों में भी।

यूरोप

जब एशिया में राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की भावना का प्रसार हो रहा था जिसको दबाने के लिये यूरोपीय देश हर तरीके से प्रयत्न कर रहे

थे, तब यूरोपीय देशों में परस्पर धीरे-धीरे वही तनातनी, पैदा होने लगी थी जो प्रथम महायुद्ध के पहिले थी और जो पिछली २-३ शताब्दियों से उसकी परम्परा बन गई थी। राष्ट्र संघ (१९१९) स्थापित अवश्य हो चुका था और उस संघ के द्वारा यूरोप के लिये एक अवसर था कि वहां के सब प्रमुख देश सामूहिक मेल-जोल से शान्ति कायम रक्खें और युद्ध न होने दें किन्तु इस अवसर से लाभ नहीं उठाया गया; यह काम मुश्किल भी था। युद्ध के बाद इङ्गलैण्ड के राजनैतिक या आर्थिक अधिकार में कई प्रदेश आये थे, अतएव वह संतुष्ट था। इसी तरह फ्रान्स, पोलैण्ड, जेकोस्लोवेकिया, यूगोस्लेविया और रूमानिया भी सन्तुष्ट थे क्योंकि उनके भी राज्यों में किसी न किसी रूप में वृद्धि ही हुई थी; किन्तु दूसरी ओर जर्मनी, हंगरी, बलगेरिया और इटली देश थे जो वरसाई की सन्धि से बिल्कुल भी सन्तुष्ट नहीं थे। जर्मनी पराजित देश था, उसके कई प्रदेश जैसे रूर और डेनजिग, अलसेस और लोरेन उससे छीन लिए गए थे, उसकी फौज कम करदी गई थी, उसको युद्ध की क्षति-पूर्ति के लिए प्रति वर्ष बहुत सा धन विजयी देशों को देना पड़ता था, उसका राष्ट्राभिमान कुचल दिया गया था, किन्तु उस देश में जीवन अब भी बाकी था, अतः वह तो सन्तुष्ट होता ही कैसे। इटली भी जो कि जर्मनी के विरुद्ध लड़ा था, वरसाई की सन्धि से सन्तुष्ट नहीं था क्योंकि उसने जो यह आशा बना रखी थी कि जर्मनी के अफ्रीकन उपनिवेश और अलबेनिया युद्ध के बाद उसको मिलेंगे वह पूरी नहीं हुई। इस प्रकार यूरोप में सन्तुष्ट और असन्तुष्ट दो प्रकार के देशों के गुट बन गए। संतुष्ट देश तो चाहते थे कि राष्ट्र संघ बना रहे और वह वरसाई सन्धि के अनुसार व्यवस्था और शान्ति बनाए रखने में सफल हो किन्तु असंतुष्ट देश परिवर्तन चाहते थे। संयुक्त राज्य अमेरिका ने जो उस समय सबसे अधिक शक्तिशाली देश था राष्ट्र संघ का सदस्य बनने से इन्कार कर दिया क्योंकि अमेरिका की राष्ट्र सभा में यह तय कर लिया था कि उनका देश यूरोप के किसी झगड़े में नहीं पड़ने वाला है। इस बात से राष्ट्र संघ का प्रभाव और भी कम हो गया था। अत. बजाय सामूहिक शांति के प्रयत्न होने के यूरोप में पूर्ववत् दलबंदी होने लगी और प्रत्येक देश राष्ट्र संघ के नियमानुसार निःशस्त्रीकरण करने के बजाय अधिकाधिक शस्त्रीकरण करने लगा। फ्रान्स ने अपने को शस्त्रास्त्रों से इतना लैस किया कि सामरिक दृष्टि से वह सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र माना जाने लगा। इटली और जर्मनी में तो घोर राष्ट्रवादी एवं आतंकवादी एक नया जीवन-दर्शन ही विकसित हो उठा।

इटली और फासिज्म

यद्यपि इटली १८६० ई० में स्वतन्त्र हो चुका था, उसके प्रदेशों का एकीकरण हो चुका था और वहां वैधानिक राजतन्त्र स्थापित हो चुका था, तथापि वहां कोई एक स्थायी और सुसगठित सरकार कायम नहीं हो पाई थी। सन् १९१३ तक सार्वभौम मताधिकार भी लोगों को मिल चुका था किन्तु इससे कुछ फायदा नहीं हो सका। वोटिंग में सब तरह की बेईमानी, धांधलेबाजी चलती थी और उपयुक्त आदमी निर्वाचित होकर नहीं आते थे।

राजनैतिक दल भी कोई सुसंगठित नहीं थे। ब्रिटेन में तो कई सौ वर्षों की परम्परा थी, अनुभव था, इसलिए वहां वैधानिक राजतन्त्र सफलतापूर्वक चलता था किन्तु इटली में यह परम्परा नहीं बन पाई।

महायुद्ध के बाद इटली में सर्वत्र अशान्ति थी, बेचैनी थी। लोगों के दिल पर किसी तरह से यह जम गया कि एक विजेता देश होते हुए भी युद्ध से उसको कोई लाभ नहीं मिला। जगह-जगह हड़तालें होने लगीं और सरकार की यह आलोचना होने लगी कि वह कुछ भी नहीं कर पा रही है। इसी समय आतंकवादी उपद्रव भी होने लगे। ये उपद्रव करने वाले वे लोग थे जो अपने आपको फासिस्ट कहते थे। इन फासिस्ट लोगों की धीरे-धीरे एक विचारधारा विकसित हो गई थी जो फासिज्म कहलाई।

फासिज्म कट्टर राष्ट्रीयता को मानता है। इसके ध्येय को फासिस्टों के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, "मेरा राष्ट्र में पूर्ण विश्वास है। इसके बिना मैं पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त नहीं कर सकता।" फासिज्म का इटली में, जहां पर मसोलिनी ने इसको जन्म दिया, ध्येय यह था कि इटली सम्पूर्ण विश्व पर अपना महान् आध्यात्मिक प्रभाव डाले। सब नागरिक मसोलिनी की आज्ञा का पालन करें क्योंकि आज्ञापालन के बिना समाज स्वस्थ नहीं बन सकता।

फासिज्म विभिन्न वर्गों के हितों के आधारभूत भेद को स्वीकार नहीं करता। साम्यवाद की तरह फासिज्म यह नहीं मानता कि समाज में वर्ग-युद्ध होना अनिवार्य है। चूंकि मार्क्सवाद या साम्यवाद राष्ट्र में वर्ग-कलह पैदा करके राष्ट्र को कमजोर बनाता है इसलिए फासिज्म साम्यवाद का कट्टर विरोधी है। समस्त देश का आर्थिक संगठन केवल एक ही उद्देश्य से होना चाहिए और वह यह कि राष्ट्र शक्ति का उत्थान हो—उसमें व्यक्ति का कोई स्थान नहीं।

फासिज्म यह विश्वास नहीं करता कि समाज के सभी सदस्य समाज पर शासन करने के योग्य होते हैं, अतः फासिज्म जनतन्त्रवाद का विरोधी है। राष्ट्र की समस्त शासन शक्ति राष्ट्र के किसी एक महापुरुष के हाथ में होती है जिसका संचालन वह किन्हीं योग्य व्यक्तियों के द्वारा करता है। राष्ट्र की समस्त प्रवृत्तियों का जैसे शिक्षा, अर्थ, न्याय, युद्ध इत्यादि का संचालन वह एक महापुरुष करता है। राष्ट्र की पात्रता इसी में है कि वह ऐसे एक महापुरुष को अपने में से ढूंढ निकाले। यह एक प्रकार का अधिनायकत्ववाद (Dictatorship) है। इसके अनुसार अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए राष्ट्र किन्हीं भी साधनों का प्रयोग कर सकता है। युद्ध उसके लिये वर्जित नहीं है, शान्ति उसके लिये आवश्यक नहीं है।

इटली में फासिस्ट नेता मसोलिनी था जो पहिले इटली की समाजवादी पार्टी का एक प्रमुख सदस्य था। उसके सामने बस केवल एक ध्येय था। वह ध्येय था इटली और इटली निवासियों का भावी-हित, इटली एक शक्तिशाली राष्ट्र बने। इस ध्येय की ओर मसोलिनी और उसके फासिस्ट अनुयायी अविश्रान्त गति से बढ़ रहे थे। इसी दृष्टि से वे लोग सरकार को बदलकर वहां

अपना कब्जा जमा लेना चाहते थे। जब फासिस्ट नव-जवानों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई, हजारों नव-जवान फासिस्ट वर्दी वाले स्वयं-सेवक बन गये और उनको यह महसूस होने लगा कि उनके हाथों में काफी शक्ति है, तब उन्होंने इटली की राजधानी रोम की ओर एक सैनिक कूच कर दिया। इस कूच में ५० हजार फासिस्ट स्वयं-सेवक थे। इटली के बादशाह ने पहिले तो चाहा कि फासिस्ट नेता मसोलिनी अन्य दलों के साथ मिलकर अपना मन्त्री मण्डल बना ले किन्तु वह नहीं माना, अतः गृह युद्ध टालने के लिए बादशाह ने फासिस्ट नेता मसोलिनी को सरकार बनाने के लिये आमन्त्रित कर दिया। यह घटना सन् १९२२ की थी; मसोलिनी की फासिस्ट सरकार कायम हुई और कुछ ही वर्षों में मसोलिनी ने सब शासन सत्ता अपने में केन्द्रित कर ली वह इटली का तानाशाही शासक बना। फासिस्ट स्वयं-सेवक क्रमशः इटली की राष्ट्रीय सेना में भर्ती हो गये। मसोलिनी तुरन्त इटली को शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के काम में लग गया। मजदूर और पूंजीपति और किसान सबको उसने हिंसा और आतंक के डर से मजबूर किया कि वे अधिक से अधिक उत्पादन करें, विरोध का प्रश्न नहीं था क्योंकि विरोध का मतलब था तुरन्त हत्या। मजदूरों से खूब काम लिया गया और यदि कोई समाजवादी या साम्यवादी नेता सामने आया तो उसको खत्म कर दिया गया। इस एक उद्देश्य और आदेश से कि इटली का साम्राज्य कायम होगा, उसने सारे देश को युद्ध के लिए तैयार कर दिया। खाद्य के मामले में देश को स्वावलम्बी बनाने के लिए बहुत सी अनउपजाऊ भूमियों को उपजाऊ बनाया गया, किसानों को कृषि के नये वैज्ञानिक उपाय सिखाये गये और इस तरह गेहूँ का उत्पादन बढ़ाया गया। व्यावसायिक उन्नति के लिए कोयले की कमी को पूरा करने के लिए बिजली अधिक पैदा की गई।

अब मसोलिनी अपना स्वप्न पूरा करने को आगे बढ़ा। सन् १९३४ में उसने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। अफ्रीका महादेश में केवल अबीसीनिया ही एक स्वतन्त्र देश बचा था, जहां पुराने जमाने से वहीं के आदि निवासियों का एक बादशाह, हेलसीलेसी राज्य करता आ रहा था। टैंक, हवाईजहाज और मशीनगन की शक्ति से अबीसीनिया को अपने कब्जे में कर लिया गया। राष्ट्र संघ कुछ न कर सका। अबीसीनिया का तमाम कच्चा माल और धन इटली को मिला। वह अब और भी अधिक शक्तिशाली हो गया। सन् १९३९ में उसने अपने पड़ोसी देश अलबेनिया पर आक्रमण कर दिया, जिसने द्वितीय महायुद्ध को भड़काने में मदद की।

जर्मनी और नाजिज्म

१८७१ ई० में जर्मन प्रदेशों का एकीकरण हुआ था और वहां वैधानिक राजतन्त्र स्थापित हुआ था। तब से प्रथम महा युद्ध काल तक वह एक अपूर्व शक्तिशाली राष्ट्र बन गया और उसने लगभग अकेले सारी दुनिया को एक बार हिला दिया। महा युद्ध में अन्त में वह परास्त हुआ; विजेता राष्ट्रों ने संधि के समय उसको बहुत जलील किया और उसे अपना वह अपमान चुपचाप हजम करना पड़ा; किन्तु आग दिल में सुलगती रही।

प्रथम महायुद्ध के बाद अब जर्मनी केसर (सम्राट) का खात्मा हो चुका था और उसकी जगह जनतन्त्रात्मक शासन विधान लागू हो गया था। मित्र राष्ट्रों ने चारों ओर से जर्मनी की नाकेबन्दी कर रखी थी, इसके फलस्वरूप खाद्य वस्तुओं का उचित मात्रा में आयात नहीं होता था और लोग, बच्चे और स्त्रियां दुखी थीं। अकाल और अपूर्ण भोजन से जर्मनी में लाखों मौतें हुईं। इसके अतिरिक्त जर्मनी को क्षतिपूर्ति के रूप में जुर्माना देना पड़ा। सन् १९२१ में मित्र-राष्ट्रों ने यह जुर्माने की रकम लगभग ६५ अरब रुपया निश्चित किया। वह जर्मनी जहां के उद्योग व्यवसाय युद्ध-काल में छिन्न-भिन्न हो चुके थे, जहां का खनिज द्रव्य से परिपूर्ण रूर प्रदेश उससे छीन लिया गया था—उपरोक्त शक्ति-पूर्ति कैसे करता।

इस दृष्टि से कि जर्मनी क्षति-पूर्ति करने के योग्य हो, इंगलैंड और अमेरिका यह चाहने लगे थे कि जर्मनी का व्यवसाय उद्योग फिर से विकसित हो, यद्यपि फ्रांस इस डर से कि जर्मनी फिर कहीं शक्तिशाली नहीं बन जाये इस बात के विरुद्ध था। अमेरिका ने जर्मनी को खूब ऋण दिया, जर्मनी के उद्योगों का फिर से विकास हुआ और जर्मनी अपनी उपज का माल भेजकर अपना कर्ज और क्षति-पूर्ति धीरे-धीरे अदा करने लगा। किन्तु सन् १९२९ ई. में अमेरिका में एक कठिन आर्थिक संकट आया, अतः अमेरिका और कोई ऋण जर्मनी को नहीं दे सका। इस आर्थिक संकट का कुप्रभाव सारी दुनियां पर पड़ा, जर्मनी के आर्थिक, व्यावसायिक, औद्योगिक क्षेत्र में फिर गतिहीनता पैदा हो गई, उसकी आर्थिक स्थिति बिल्कुल बिगड़ गई, वहां का सबसे बड़ा बैंक फेल हो गया, जर्मन सरकार का दिवाला निकल गया। उस समय जर्मनी में २० लाख आदमी बेकार थे। प्रतिहिंसा की आग और भी धधक उठी। १९३२ ई० में जर्मनी की दशा अत्यन्त शोचनीय हो चुकी थी।

ऐसी परिस्थितियों में वहां एक राजनैतिक दल की, जिसका नाम राष्ट्रीय समाजवादी दल (National Socialist Party) था, जड़ें मजबूत होने लगीं। इस दल की स्थापना तो युद्ध के बाद १९२० में हो चुकी थी, किन्तु अब तक यह अज्ञात था—अब यह प्रकाश में आने लगा।

इसकी प्रेरणा इटली की फासिस्ट पार्टी की तरह तीव्र और शुद्ध राष्ट्रीयता की भावना थी। यही पार्टी नाजी-पार्टी के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसका एक मात्र नेता था हिटलर। उसने जर्मनी को एक नया राष्ट्रीय जीवन-दर्शन दिया।

नाजिज्म

प्रत्येक दृष्टि से-ध्येय, आर्थिक उद्देश्य और नीति; सामाजिक उद्देश्य और नीति और साधन इत्यादि में नाजिज्म बिलकुल इटली के फासिज्म से मिलता-जुलता था। कह सकते हैं कि नाजिज्म इटली के फासिज्म का जर्मन संस्करण था। केवल एक बात की इसमें खूब विशेषता थी। वह विशेषता थी हिटलर द्वारा प्रतिपादित और प्रचारित यह सिद्धान्त और भावना कि जर्मन लोग आर्य उपजाति के (Aryan race) विशुद्ध और श्रेष्ठतम

वंशधर हैं, उनकी सभ्यता और संस्कृति संसार भर में सबसे ऊंची है। "दुनिया में एक विशेष जाति सर्वोच्च और श्रेष्ठतर है, वह जाति आर्यन जाति है, उस आर्यन जाति के विशुद्ध वंशज केवल जर्मनी के लोग हैं,"—यह विचार नाजिज्म का मूल मंत्र था। संकुचित राष्ट्रीयता में संकुचित सांस्कृतिक भावना का यह एक रंग था; ध्येय तो यही था कि जर्मन राष्ट्र शक्तिशाली हो और विश्व में राज्य करे।

इटली में फासिस्ट पार्टी की तरह जर्मनी में भी नाजी पार्टी की धीरे-धीरे खूब शक्ति बढ़ी; वहां की पार्लियामैण्ट में नाजी सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी। इसके अतिरिक्त नाजियों ने फासिस्टों की तरह अपने दल का संगठन सैनिक ढङ्ग से कर रक्खा था। इसका भी रीशस्टेग (जर्मन पार्लियामैण्ट) और देश के अध्यक्ष पर आतंकात्मक प्रभाव था। अन्त में जर्मनी के प्रेजीडेंट हिंडनवर्ग ने ३० जनवरी सन् १९३३ के दिन नाजी पार्टी के नेता हिटलर को जर्मनी का प्रधान मंत्री बनने के लिए आमन्त्रित किया। हिटलर प्रधान मंत्री बना। २३ मार्च सन् १९३३ के दिन रीश-स्टेग ने एक प्रस्ताव पास कर हिटलर को जर्मनी का अधिनायक (Dictator) घोषित किया।

डिक्टेटर हिटलर ने सब विरोधी संस्थाओं को और विरोधी दलों को, विरोधी जनों को नृशंसता से खत्म किया। यहूदियों को जिनकी उपजाति आर्यन नहीं थी किन्तु सेमेटिक, एक-एक कर के देश निकाला दिया गया या मार डाला गया। यह इसलिये कि प्रत्येक जर्मन में विशुद्ध आर्यन रक्त रहे। साम्यवादियों को भी जो राष्ट्रीयता की नींव को ढीली करते थे उतनी ही क्रूरता से खत्म किया गया। वैज्ञानिक ढंग से प्रचार द्वारा प्रत्येक जर्मन में शुद्ध राष्ट्रीय भावना का संचार किया, और उनको जोत दिया राष्ट्र-निर्माण के काम में। अन्न-उत्पादन बढ़ाया गया, उद्योगों का अधिक विकास किया गया, उद्योगों में काम आने वाले कई कच्चे माल जैसे रबर, चीनी इत्यादि जो जर्मनी को और देशों से नहीं मिलते थे, उसने नये वैज्ञानिक ढंग से अपने कारखानों में ही पैदा करना शुरू किया। हिटलर का ध्येय स्पष्ट था, उस ओर वह बढ़ता हुआ जा रहा था उसने अपनी सेना में वृद्धि की, सर्वाधिक वृद्धि वायु सेना में। प्रत्येक काम बिल्कुल निश्चित प्रोग्रामानुसार होता था और इतना कुशलतापूर्वक कि कहीं भी कुछ भी कमी न रह जाये; विज्ञान की सहायता से युद्ध की मशीनरी को पूर्ण बनाया जा रहा था। हिटलर तैयार था—तैयारी कर रहा था।

युद्ध की भूमिका

सन् १९३३ में जर्मनी ने राष्ट्र संघ छोड़ दिया। १९३५ में सार प्रांत जर्मनी को मिला। उसी वर्ष उसने घोषणा कर दी कि वह वरसाई की संधि की सैनिक शर्तों को मानने के लिए तैयार नहीं है और न क्षति पूर्ति की रकम चुकाने को। सन् १९३६ में उसने राइनलेंड पर कब्जा कर लिया। उसी वर्ष तीन राष्ट्रों यथा जर्मनी, जापान और इटली ने साम्यवादी विरोधी इकरारनामे पर हस्ताक्षर किये जिसका उद्देश्य था कि रूस और साम्यवाद के खिलाफ ये

तीनों देश एक दूसरे की सहायता करें। सन् १९३६ में स्पेन में जनरल फ्रेंको के नेतृत्व में फासिस्ट शक्तियों ने वहां की जनतन्त्र सरकार के विरुद्ध गृहयुद्ध प्रारंभ कर दिया था—इसमें भी जर्मनी और इटली ने फ्रेंको की सहायता की और फासिस्ट फ्रेंको विजयी हुआ। अन्य जनतन्त्र देश देखते ही रह गये। हिटलर ने फिर देखा कि इटली, अबीसीनिया का अपहरण कर गया और राष्ट्र संघ कुछ न कर सका तो वह जान गया कि राष्ट्र संघ एक थोथी वस्तु है—वह कुछ कर नहीं सकती। अतः वह भी आगे बढ़ा। सन् १९३८ में समस्त आस्ट्रिया देश को उसने जर्मनी का अंग बना लिया और फिर जेकोस्लोवेकिया को धमकी दी कि उसका पश्चिमी भाग सूडेटनलैंड जिसकी बहुसंख्यक आबादी जर्मनी जाति के लोगों की थी, फौरन जर्मनी को सौंप दिया जाय। इंगलैंड से वहां का प्रधान मन्त्री चेम्बरलेन उड़कर जर्मनी आया। म्यूनिच नगर में चेम्बरलेन, हिटलर और जेकोस्लोवेकिया के अध्यक्ष डा० बीनीज मिले और तय हुआ कि सूडेटनलैंड जर्मनी को दे दिया जाय और फिर इसके आगे जर्मनी न बढ़े। सूडेटनलैंड जर्मनी के हाथ आया, आस्ट्रिया पहिले आ ही चुका था, जर्मनी अब और भी सशक्त था। उपरोक्त म्यूनिक समझौते के कुछ ही दिन बाद हिटलर ने जेकोस्लोवेकिया पर आक्रमण कर दिया और उसे भी जर्मनी का अंग बना लिया। संसार के आश्चर्य का ठिकाना न रहा? विश्व अब युद्ध के किनारे पर खड़ा था।

युद्ध को रोकने के लिये, विश्व शांति कायम रखने के लिये, राष्ट्रों के झगड़े परस्पर समझौतों से तय कराने के लिए सन् १९१९ में राष्ट्र संघ की स्थापना हुई थी। क्या यह संघ विश्व को युद्ध में पड़ने से नहीं रोक सकता था? दुर्भाग्यवश अमेरिका तो जो एक ऐसा शक्तिशाली देश था और जिसका अच्छा प्रभाव पड़ सकता था शुरू से ही संघ का सदस्य नहीं रहा।

अपने संकुचित राष्ट्रीय हित में लीन, प्रथम महायुद्ध की विजय के बाद जीत के माल से संतुष्ट इंगलैंड ने राष्ट्र संघ की ओर उपेक्षा का भाव बना लिया, फ्रांस अपने आपको अकेला पा शस्त्रीकरण में लग गया। संस्कारित राष्ट्रीय भावना से ऊपर उठ कोई भी देश अन्तर्राष्ट्रीयता के, मानवता के भाव को नहीं अपना सका,—वही पुरानी नीति, वही पुराना तौर-तरीका बना रहा, सब अपने-अपने स्वार्थ में रत थे, सब अपनी-अपनी गर्ज को भरते थे। राष्ट्र संघ स्वयं के पास ऐसी कोई शक्ति थी नहीं जो राष्ट्रों की सार्वभौम सत्ता को सीमित कर सकती—वस्तुतः राष्ट्र संघ मर चुका था,—युद्ध के लिये रास्ता खुला था।

घटनायें (१९३९-४५)

पहली सितम्बर सन् १९३९ के दिन जर्मनी ने पोलेंड पर आक्रमण कर दिया। उसने यह बहाना लिया था कि डेनजिग प्रदेश और समीपस्थ भूमि का वह टुकड़ा (Corridor) जिसको जर्मनी से छीनकर उसके (जर्मनी के) पूर्वी प्रशा के हिस्से को उसके पच्छिमी हिस्से से अलग कर दिया गया था, वस्तुतः जर्मनी का ही था, वह उसे मिल जाना चाहिए था किन्तु पोलैंड और

इंगलैंड दोनों ने मिलकर उसकी यह न्यायपूर्ण मांग पूरी नहीं की थी, अतः उसके लिये और कोई चारा नहीं था। जब जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण किया तो उसे विश्वास था कि कोई भी यूरोपीय देश उसमें दखलन्दाजी करने की हिम्मत नहीं करेगा, क्योंकि रूस से एक ही महीने पहिले उसने परस्पर युद्ध निषेध का समझौता कर लिया था। किन्तु उसका ख्याल गलत निकला, उसके पोलैंड पर आक्रमण के तुरन्त बाद इंगलैंड और फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध आरंभ हो गया। जर्मनी की मशीन की तरह आर्डर से चलने वाली फौजी शक्ति के सामने न पोलैंड टिक सका न फ्रांस। कुछ ही महीनों में पोलैंड खत्म हो गया। उसके बाद जर्मनी ने पच्छिम की ओर अपनी दृष्टि डाली, सन् १९४० के आरंभ तक डेन्मार्क और नोर्वे खत्म हुए और फिर होलैंड और बेलजियम को पदाक्रान्त करता हुआ वह फ्रांस की ओर बढ़ा। फ्रांस में डनकर्क नगर के पास फ्रांस की फौजों पर एक बिजली की तरह वह टूट कर पड़ा और फ्रांस की लाखों की फौज ऐसे खत्म हो गई मानो बिजली ने उसको मार दिया हो। फिर तुरन्त फ्रांस की राजधानी पेरिस पर कब्जा कर लिया गया, १६ जून १९४० के दिन फ्रांस ने जर्मनी के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। फिर इंगलैंड पर भयंकर हवाई आक्रमण प्रारंभ कर दिये। इंगलैंड में धन, जन व उद्योगों का भयंकर विनाश हुआ–किन्तु इंगलैंड दबा नहीं–वह किसी न किसी तरह खड़ा रहा।

भूमध्यसागर पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए वह बाल्कन देशों में बढ़ता हुवा ग्रीस और क्रीट पर जा टूटा और उन पर अपना अधिकार जमा लिया। पहली सितम्बर सन् १९४१ तक ग्रेट ब्रिटेन और पूर्वीय रूस को छोड़कर जर्मनी समस्त यूरोप का अधिपति था। नोर्वे, होलेण्ड, बेलजियम, डेनमार्क, उत्तरी-फ्रांस, आस्ट्रिया, जेकोस्लोवेकिया, पोलैंड और बाल्टिक सागर के तीन छोटे-छोटे प्रदेश आस्टोनिया, लेटविया, लिथूनिया, ग्रीस, क्रीट और पच्छिम रूस पर तो जर्मनी का सीधा अधिकार था, बाकी के देश यथा स्पेन, रूमानिया, बलगेरिया, जेकोस्लेविया, हंगरी, फिनलेण्ड या तो उसके मित्र थे या उसके हाथ की कठपुतली। दुनिया हैरान था, इङ्गलैंड और फ्रांस घबराये हुए। सन् १९३९ अगस्त की जर्मन–रूस सन्धि खत्म हो चुकी थी। २२ जून १९४१ के दिन हिटलर ने अचानक रूस पर आक्रमण कर दिया। जापान पिछले कई वर्षों से (१९३७ से) चीन पर धीरे–धीरे अपना कब्जा जमा रहा था और फिर सहसा दिसम्बर १९४१ में उसने प्रशान्त महासागर में स्थित अमेरिकन बन्दरगाह पर्ल हारबर पर आक्रमण कर दिया और उस महत्वपूर्ण स्थान पर अपना कब्जा कर लिया। अमेरिका ने भी युद्ध घोषित कर दिया।

पक्ष

अब इस द्वितीय महायुद्ध में दो पक्ष इस प्रकार बन गये। एक पक्ष जर्मनी, इटली और जापान का जो धुरी राष्ट्र कहलाये। इनके पास उपरोक्त पदाक्रान्त देशों के सब साधन थे। दूसरा पक्ष इंगलैंड, फ्रांस, रूस, चीन और अमेरिका जो मित्रराष्ट्र कहलाये। इनके पास इंगलैंड के राज्य भारत और लंका, इंगलैंड के स्वतन्त्र उपनिवेश आस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका संघ,